पटिपदा

धम्म | विनय

~ पालि पञ्चनिकाय के चुनिंदा सुत्त ~

संकलन व अनुवाद

भिक्खु कश्यप

Patipada copyright © 2021 by Bhikkhu Kashyap is licensed under Attribution-NonCommercial-NoDerivatives 4.0 International

This book may be copied, shared or printed for non-commercial free distribution only, without permission from the publisher.

Free Kindle version of this book is available on Amazon Store.

पटिपदा कॉपीराइट © भिक्खु कश्यप २०२१

यह पुस्तक पूर्णतः या अंशतः प्रकाशित की जा सकती है, किंतु किसी भी तरह, किसी भी रूप में इसका **व्यावसायिक उपयोग नही** किया जा सकता। इस पुस्तक का मात्र **मुफ़्त वितरण** किया जा सकता है। इसके अलावा सर्वाधिकार सुरक्षित।

इस पुस्तक का डिजिटल संस्करण Amazon Store पर मुफ़्त में उपलब्ध है।

यह धार्मिक-पुस्तिका मुफ़्त वितरण के लिए है। आप पढ़िए, और कृपया दुसरे तक पहुँचाएं।

पुस्तक से जुड़े प्रश्न, सुझाव या टिका-टिप्पणी के लिए ईमेल करें —

kashyap.bhikkhu@gmail.com

Cover designed by Akash Ujjwal

www.perfecttale.in

"खुले है द्वार अमृत के।

जिन्हें कान हो, वह श्रध्दा प्रकट करें।"

«सं.नि.६:१»

अध्यायसूची

परिचय 1

~ धम्मारम्भ ~

१. संवेग 7

२. कम्म 27

३. सेक्ख पटिपदा 39

~ अकुसलप्पहान ~

४. वीरियारम्भ 55

५. कामच्छन्दप्पहान 63

६. अञ्ञ नीवरणप्पहान 79

~ अरियसच्च ~

७. अरियसच्च 99

८. अरियसच्च वित्थार 117

~ कुसलभावना ~

९. सब्बासवादि 131

१०. सतिपट्ठान 147

११. ब्रह्मविहारादि 161

~ चतु पटिपदा ~

१२. दुक्खा पटिपदा 173
१३. अतिरित्त भावना 197
१४. समाधिकुसल 205

~ संवेग ओवाद ~

१५. संवेग ओवाद 221

परिचय

मेरे सब्रह्मचारी भिक्षुओं के साथ वर्षों से धर्माभ्यास करते हुए, धर्मचर्चा करते हुए, धर्म समझकर साधना कर, धर्म-प्रतिपादन करते हुए, मुझे अक़्सर एक ऐसे पुस्तक की ज़रूरत महसूस होती थी—

१. जो सभी के लिए उपयुक्त हो, तथा सभी को सरलतापूर्वक समझ आये—चाहे वह कभी धर्म न सुना आम आदमी हो, या धर्म-सुने उपासक, उपासिका, साधक या भिक्षु हो,

२. जो विमुक्ति और विमोक्ष छूने के लिए आवश्यक मूल-सूत्रों और सिद्धांतों से अवगत भी कराए, और बार-बार दर्शन भी कराते रहें; जो भले ही पहली-बार पढ़कर शायद न समझे, किंतु कुछ समय देने पर, धारण कर साधना करने पर, अंततः उसका बहुआयामी, गहरा अर्थ भेद पाने में सक्षमता आए, और सफलता मिलें,

३. जो धातु-विशेष भिन्न साधकों के भिन्न प्रगतिपथों पर प्रकाश तो डाले ही, किंतु जो विभिन्न पायदानों पर खड़े सभी साधकों के लिए उपयुक्त भी हो; अर्थात, जो सभी साधकों को अंतिम-फ़ल तक निजी, व्यक्ति-विशेष मार्गदर्शन करते रहें,

४. जो हमेशा सिरहाने होते हुए, साधकों को इस तरह आध्यात्मिक साथ देते रहें, मानो भगवान स्वयं दीर्घकालीन हित व सुख जानते हुए—जैसे कोई बलवान पुरुष अपनी सिकोड़ी-बाँह पसारे, या पसारी-बाँह सिकोड़े—वैसे आगे उपस्थित होकर, बार-बार अपनी ब्रह्मस्वर अमृतवाणी से शान्ति प्रदान करते रहें, सांत्वना देते रहें, सम्यक-मार्ग पर रखें, अग्रसर होने के लिए प्रोत्साहन भी देते रहें, और वक़्त आने पर फटकारें भी।

मैंने अन्य किसी साहित्य का उपयोग न कर, मात्र 'पालि पञ्चनिकाय' से ही सुत्तों को इकठ्ठा किया है, जिसके कारण निम्नलिखित है;

ई.पू.४८३ के लगभग भगवान के महापरिनिर्वाण पश्चात सद्धम्म को विशुद्ध अवस्था में टिकाए रखने के लिए उस समय 'संघ के पितामह' समझे जानेवाले भन्ते महाकश्यप ने भिक्षु-संगीति की पहल की। उन्होंने राजगृह, बिहार की सप्तपर्णी गुफ़ा में पाँच-सौ अर्हन्तों के साथ वर्षावास करते हुए, विनय के साथ-साथ 'पालि पञ्चनिकाय' का संगायन कराया, जिसे सुगत-विदित, सर्वपरिपूर्ण, परिशुद्ध 'सद्धम्म' माना गया।

याद रहें, प्रथम-संगीति या इसके लगभग सौ वर्षों पश्चात ई.पू.३८३ में हुई द्वितीय-संगीति में भी 'सुत्तपिटक' या 'अभिधम्मपिटक' इन शब्दों का उल्लेख तक नहीं मिलता। किंतु लगभग ढाई-सौ वर्षोंपश्चात, ई.पू.२४८ में तृतीय-संगीति हुई, जिसमें खुद्दकनिकाय के अंतर्गत कुछ नया साहित्य

जोड़ा गया। उसे कुल मिलाकर ‘सुत्तपिटक’ कहा गया, जबकि ‘माटिका’ नामक शिक्षाओं को ‘अभिधम्मपिटक’ के रूप में विकसित किया गया। और इसी के साथ अब तक संवृत व सुरक्षित रखा गया सद्धम्म बाहरी मिलावट के लिए खुलता ही चला गया।

आगे चलकर पालि साहित्य की ‘त्रिपिटक’ के रूप में उत्क्रांति होने लगी, और अनेक शताब्दियों तक बाहरी ‘अप्रमाणित’ हिस्से भी इसमें जोड़े जाते रहें। ‘सद्धम्म’ होने का प्रमाणपत्र देने वाले, या सद्धम्म की कसौटी पर जांच-परखने वाले विश्वसनीय महाश्रावक अर्हन्तों के अभाव में अनेक भाषातत्वज्ञ भिक्षुओं ने आगे चलकर विवादास्पद और अतिशयोक्तिपूर्ण बाहरी ग्रन्थ भी लिखे, जैसे अट्ठकथाएँ, विशुद्धिमग्गो, मिलिन्दपञ्ह, विमुत्तिमग्गो, टिका, अनुटिका इत्यादि। यह बाहरी ग्रन्थ प्रथम-संगीति के लगभग नौ-सौ वर्षोंपश्चात लिपिबद्ध हुए थे, जो कई बार मूल ‘पालि पञ्चनिकाय’ के मुलभुत-सूत्रों या धर्म-सिद्धांतों के विपरीत भी जाते थे। किंतु विषयात्मक-रूप से व्यवस्थित व परिष्कृत होने के कारण उन्हें पसंद किया गया, और आज तक वे ‘पांडित्यपूर्ण’ माने जाकर, पढ़े जाते और संदर्भित होते हैं।

और आगे चलकर लोगों ने जिस तरह सम्यक-समाधि की आवश्यकता को दरकिनार कर, ‘चार झान’ अवस्थाओं को बाईपास करते हुए, अन्य ध्यान-साधनाएँ और विधियाँ निकाली, जिसमें ‘सूखी विपस्सना’ विधि भी शामिल है, वे भी मूल बुद्धवाणी के विपरीत जाती हैं। भगवान ने आगाह भी किया था कि आगे चलकर मार-वशीभूत लोग ऐसा ही करेंगे—समाधि-झान में खोट निकाल, उससे भयभीत करा, उसे नहीं करना चाहेंगे, और आर्य-फ़ल से वंचित रहेंगे। या अपनी भिन्न परिभाषा वाली झान-अवस्था का ईजात करेंगे, और आर्य-फ़ल से वंचित रहेंगे।

आर्य-फ़ल पाना इतना भी कठिन नहीं कि कई कल्प या कई जीवन तक न मिलें। भगवान तो अनागामी या अरहन्तपद के लिए अधिक से अधिक सात-वर्षों की साधना बताते है। किंतु बाहरी अधम्म-मिलावटों के कारण आजकल लोग ‘चार आर्यसत्य’ न समझते हुए, ‘आर्य अष्टांगिक मार्ग’ की परिशुद्ध साधना न कर, ‘पारमिताएं’ इकठ्ठा करने में ही संतोष महसूस करते हैं। मेरी भी धम्म में शुरुवात ऐसी ही मिथ्या-धारणा के साथ हुई। किंतु जब मैंने प्राचीनतम ‘पालि पञ्चनिकाय’ स्वयं पढ़ा, और पाया कि भगवान ने भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं को कभी पारमिताएं इकठ्ठा करने कहा ही नहीं; बल्कि मात्र ‘आर्य अष्टांगिक मार्ग’ की साधना करने ही कहा, तब मुझे बड़ी हैरत हुई। उपासक-जीवन में ही आगे विशुद्ध सद्धम्म पढ़ते हुए, साथ ही साधना करते हुए, अंततः मैं भी कहने को मजबूर हुआ—‘उत्तम, हे गोतम! अतिउत्तम! जैसे उलटे हुए को कोई सीधा करें, या छिपे हुए को कोई खोल दे, या भटके हुए को कोई मार्ग दिखाए, या अँधेरे में कोई दीप जलाकर दिखाए, जिससे अच्छी आँखोंवाला साफ़ देख पाए—उसी तरह आपने धर्म को अनेक तरह से स्पष्ट कर दिया। मैं बुद्ध की शरण जाता हूँ! धर्म एवं संघ की!’ और मैं भी सिरदाढ़ी मुंडवा, काषायवस्त्र धारण कर, घर से बेघर होकर प्रवज्यित हो गया।

मेरी व्यक्तिगत राय है कि यदि लोग अब तक सुना-हुआ धर्म भूल जाए, अपनी सभी पूर्व-धारणाएँ त्याग दे, और मात्र एक मौक़ा ठीक से अनुवादित 'पालि-पञ्चनिकाय' को दे—मानो सब भुलाकर भगवान के समक्ष बैठे हो—तो प्रथम आर्य-फ़ल चौकानेवाली शीघ्र-गति से मिलेगा।

मैं यह दावा नहीं कर सकता कि यह पुस्तक परिपूर्ण या त्रुटिहीन है। किंतु यह पुस्तक एक ऐसी परियोजना है, जहाँ किसी अन्य बाहरी-व्यक्ति को व्यक्तिगत-स्तर पर निकाले पूर्वाग्रहित अर्थ, परिभाषा व सुझावों को भगवान के बहुआयामी, गहरे व बहुअर्थपूर्ण सद्धम्म पर थोपने का मौका ही न मिले, या इसकी नौबत आए भी तो कम-से-कम। मैं आशा करता हूँ कि ऐसा करके हम भगवान को मौका दे पाएँगे कि वे अपने अंदाज़ में हमें ऐसा अकालिक धम्म बताए, जो पुनः पढने पर अपने भिन्न पहलु, भिन्न आयाम की गहराई खोलते जाए, और हमारी प्रज्ञा का स्तर ऊँचा उठाते जाए।

मैंने अनेक वर्षों तक 'पालि पञ्चनिकाय' में से साधना-संबंधित मूल सुत्तों को इकठ्ठा करते हुए, उन्हें विषयात्मक-रूप से क्रमबद्ध कर, उसे अपने आप में एक स्वचलित प्रवाह देने का प्रयास किया है, जिसमें अध्याय-परिचय द्वारा भी पूर्वधारणा पनपने को जगह न मिलें। एक ऐसी पहल, जिसमें भगवान बुद्ध और श्रोताओं के बीच कोई न आए। और समकालीन श्रोताओं को भी कहने का मौका मिलें, 'आश्चर्य है भगवान, अद्भुत है!'

इसके लिए मैंने पूज्य गुरुवर **थानिसारो भिक्खु** (www.dhammatalks.org) के अनेक पालि-अंग्रेजी अनुवादों और पुस्तकों से मदद ली, ख़ास तौर पर Wings to Awakening इत्यादि। मैंने धम्म के अधिकतर सैद्धांतिक शब्द, जैसे 'सञ्ञा', 'सङ्खार', 'सति' इत्यादि, जिनका अर्थ घुमा-घुमाकर अत्याधिक विकृतीकरण हो चूका, उन्हें उनके प्रायोगिक व ऐतिहासिक पूर्वसंदर्भ में नये, आसान तरह से पुनर्व्याख्यित करने का प्रयास किया है। बेहतरीन व विश्वसनीय अंग्रेजी-अनुवादों के लिए मैंने थानिसारो भिक्खु के अलावा **भिक्खु बोधि** (Wisdom Publications), **भिक्खु सुजातो** (www.suttacentral.net), **T.W. Rhys Davids** का उपयोग किया है। इनके अलावा मैंने **राहुल सांकृत्यायन, भिक्खु आनन्द कौसल्यायन, और भिक्खु जगदीश कश्यप** द्वारा हिंदी-अनुवादों से भी मदद ली। उनके अलावा मैंने मूल पालि का सन्दर्भ लेते हुए, विभिन्न पालि-अंग्रेजी शब्दकोषों से भी उचित व्याख्या ली। मुझे लगता है कि इस तरह अनेक भाषानुवाद और पहलुओं का अभ्यास करते हुए धम्म के प्रति मेरी समझ अधिक गहरी होती गयी, जिसका निचोड़ मैंने यहाँ इस पुस्तक में देने का प्रयास किया है।

मेरे सब्रह्मचारी **भिक्खु कोलित** व **भिक्खु अभिभु** ने मुझे हर तरह से स्नेहपूर्ण सहयोग व सुझाव दिए, प्रेरित किया, और अनेक बार धैर्य की सीमा बढाते हुए मेरे अनुवादों में सैकड़ों दुरुस्तीयाँ की, और प्रवाह उत्पन्न किया, जिनके सिवाय यह पुस्तक शायद कभी न बन पाती। मैं उनका हमेशा ऋणी रहूँगा! बहन और पिता की ओर से अनेक सुझाव, दुरुस्तीयाँ व सहयोग मिलता रहा, जिनका नाम यहाँ उल्लेख करना शायद उन्हें अटपटा लगे। श्रामणेर प्रज्ञारक्खित ने अनेक तरह से मदद की।

आकाश उज्वल ने कवरपेज डिज़ाइन किया। छोटी-बड़ी सहायता अन्य लोगों से मिलती रहीं। इसके अलावा जो त्रुटियाँ रह गयी, उनके लिए मैं स्वयं ज़िम्मेदार हूँ।

और इस पुस्तक को छापकर मुफ़्त वितरण के लिए चुनिंदा पुण्यवान लोगों ने दान दिया हैं, और दे ही रहे हैं। उनका दानपुण्य धर्म में अतुल्य रहेगा। अंततः मैं पुनः माता-पिता, भाई-बहनों व कॉलेज के मित्रों को भी धन्यवाद देता रहूँगा, जिन्होंने पल-पल पर मेरा ह्रदय असीमित प्रेम और विश्वास से भरते हुए, आलोचनात्मक-बुद्धि विकसित कराने में मदद की।

आजकल की दुनिया अचानक अप्रत्याशित ढ़ंग और गति से बदल रही है—चाहे अर्थव्यवस्थाएँ हो, या भूराजनीतिक-समीकरण; जलवायु-परिवर्तन हो, या उत्पन्न होती नयी बीमारियाँ; टूटते आपसी-रिश्ते हो, या विक्षिप्त होती मनोवस्थाएँ; पतन होता आध्यात्मिक-जीवन हो, या अदृश्य-रूप से होता हमला; आम लोग भी महसूस कर पा रहे है कि दुनिया में कुछ अजीब ज़रूर घट रहा है। कौन जानता है आगे क्या होगा? याद रहें, भगवान ने कभी पाँच-हज़ार वर्षों का बुद्धसासन, या द्वितीय-बुद्धसासन का जिक्र नहीं किया, बल्कि केवल पाँच-सौ वर्षों का कहा, जिसमें लोगों को बिना मिलावट का सद्धम्म सुनने मिलेगा। आगे चलकर धर्म के नाम पर आशापूर्ण भविष्यवाणियाँ तो चल पड़ती ही हैं, लेकिन भगवान के अनुसार अच्छे दिन बीत चुके। नामी पश्चिमी खगोल-भौतिकवैज्ञानिकों ने भी पृथ्वी के भविष्य को लेकर जहाँ अपने हाथ उठा लिए, मैं सहानुभूति रखता हूँ कि इतनी डगमगाती दुनिया में धर्म-साधना करना आसान नहीं।

मुझे लगता है कि यह समय मौन रहकर, अकेले साधना करने के लिए उचित नहीं। याद रहें कि आध्यात्मिक-प्रगति हमेशा सीधी या एक-गति में कभी नहीं होती; उतार-चढ़ाव होते ही हैं। प्रज्ञावान व्यक्ति समय व परिस्थिति देखकर अपने गियर बदलता है, रास्ता नहीं। रास्ता तो आर्य अष्टांगिक-मार्ग ही रहें, किंतु रफ़्तार तेज़ या धीमे की जा सकती है, ताकि कलपुर्जे सलामत बचें, और यात्रा में अत्याधिक कष्ट भी न हो।

मेरा सुझाव है कि जो लोग साधना न कर पाए, वह मात्र पुस्तक पढ़कर ह्रदय-परिवर्तन भी करते रहें, तब भी बहुत पा लेंगे; मृत्युपरान्त सुगति की आशंका बढ़ेगी। दुनिया से उम्मीद न रखें, मात्र आर्य-मार्ग में ही आशा की किरण देखें। दुनिया ढ़हती है तो ढ़हने दे, उसके साथ अपना चित्त भी न ढ़हने दे। बल्कि उसे ऐसा आधार देने का प्रयास करें, जो कभी नहीं ढ़हता—निर्वाण।

धर्ममेघ जहाँ बरसें, अनास्त्रव सभी होए!
पिछड़े सत्व भी वहाँ, श्रोतापन्न हो जाए!
भवतु सब्ब मङ्गलं!

—भिक्खु कश्यप

(तारीख: ३ अक्टूबर २०२१)

|| नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ||

धम्मारम्भ

<<<<< | >>>>>

१

संवेग

~ साधारण सत्यों का 'आर्य' परिचय ~

भगवान —

भिक्षुओं, मैं सुखों में पलता था; परमसुखों में पलता था; अत्यंत सुखों में पलता था। मेरे महलों के आगे पिता ने तीन पुष्करणीयाँ [=कमलफूलों से भरे तालाब] बनवाई थी—एक में रक्तकमल, एक में श्वेतकमल, और एक में नीलकमल ख़िलते थे।

मैं ऐसा चंदन [गन्धस्वरूप] न उपयोग करता, जो बनारसी न हो। मेरी पगड़ी व कुर्ता भी बनारसी होता; बल्कि मेरा अंतर्वस्त्र व बाह्यवस्त्र भी बनारस से लाया जाता। एक सफ़ेद राजसी-छाता मेरे ऊपर दिन-रात पकड़ा जाता, ताकि मुझे ठंडी धूप धूल मल या ओस न लगे।

मेरे लिए तीन महल बने थे—एक शीतकाल के लिए; एक ग्रीष्मकाल के लिए; और एक वर्षाकाल के लिए। वर्षाकाल के चारों महीने वर्षामहल में रहते मुझे गायकी-नर्तकियों द्वारा बहलाया जाता, बिना अन्य पुरुष की उपस्थिति के। मुझे महल से नीचे एक बार भी न उतरना पड़ता। जहाँ अन्य घरों में श्रमिक व नौकरों को टूटा-चावल व दाल परोसी जाती, मेरे पिता के महल में उन्हें गेंहू चावल व मांस खिलाया जाता।

• इस तरह भाग्यशाली, अत्यंत सुखसंपन्न होने पर भी मैंने सोचा, 'कभी धर्म न सुना आम आदमी, स्वयं **जीर्ण-धर्म** से घिरा, जीर्ण-धर्म न लाँघा—जब किसी बूढ़े को देखें, तो खौफ़, लज्जा व घिन महसूस करता है, भूलते हुए कि वह स्वयं बुढ़ापे से नहीं छूटा, बुढ़ापे के परे नही गया। यदि मैं भी जीर्ण-धर्म से घिरा, जीर्ण-धर्म न लाँघा, किसी बूढ़े को देख खौफ़, लज्जा व घिन महसूस करूँ, तो मेरे लिए उचित नही होगा।'

— जैसे ही मैंने यह समीक्षा की, मेरा **यौवन** का सारा नशा उतर गया।

• इस तरह भाग्यशाली, अत्यंत सुखसंपन्न होने पर भी मैंने सोचा, 'कभी धर्म न सुना आम आदमी, स्वयं **रोग-धर्म** से घिरा, रोग-धर्म न लाँघा—जब किसी रोगी को देखें, तो खौफ़, लज्जा व घिन महसूस करता है, भूलते हुए कि वह स्वयं रोग से नहीं छूटा, रोग के परे नही गया। यदि मैं भी रोग-धर्म से घिरा, रोग-धर्म न लाँघा, किसी रोगी को देख खौफ़, लज्जा व घिन महसूस करूँ, तो मेरे लिए उचित नही होगा।'

— जैसे ही मैंने यह समीक्षा की, मेरा **आरोग्य** का सारा नशा उतर गया।

• इस तरह भाग्यशाली, अत्यंत सुखसंपन्न होने पर भी मैंने सोचा, 'कभी धर्म न सुना आम आदमी, स्वयं **मरण-धर्म** से घिरा, मरण-धर्म न लाँघा—जब किसी मृत को देखें तो खौफ़, लज्जा व घिन महसूस करता है, भूलते हुए कि वह स्वयं मौत से नहीं छूटा, मौत के परे नही गया। यदि मैं भी मरण-धर्म से घिरा, मरण-धर्म न लाँघा, किसी मृत को देख खौफ़, लज्जा व घिन महसूस करूँ, तो मेरे लिए उचित नही होगा।'

— जैसे ही मैंने यह समीक्षा की, मेरा **जीवन** का सारा नशा उतर गया।

«अं.नि.३:३८»

* * *

जब मैं संबोधिपूर्व केवल एक बोधिसत्व था—जन्म, रोग, बुढ़ापा, मौत, शोक व क्लेश से घिरा—मैं [उसमें सुख] खोजता था, जो जन्म रोग बुढ़ापा मौत शोक व क्लेश से ही घिरा था।

तो मैंने सोचा, 'जन्म रोग बुढ़ापा मौत शोक व क्लेश से घिरा—मैं उसे क्यों खोजूँ, जो जन्म रोग बुढ़ापा मौत शोक व क्लेश से ही घिरा हो? क्यों न मैं खोजूँ—अजन्म, अरोग, अजीर्ण, अमृत, अशोक, अक्लेश, योगबन्धन से सर्वोपरि राहत, निर्वाण![#]'

तत्पश्चात मैं युवा ही था—काले केशवाला, जीवन के प्रथम चरण में, यौवन वरदान से युक्त—तब मैंने माता-पिता के इच्छाविरुद्ध, उन्हें आँसूभरे चेहरे से बिलखते छोड़, सिरदाढ़ी मुंडवा, काषायवस्त्र धारण कर, घर से बेघर हो प्रवज्या [=संन्यास] लिया।

«मा.नि.२६»

* * *

[#] **निर्वाण:** जैसे, जलते रहने के लिए अग्नि को आधार की ज़रूरत होती है, किंतु आधार न पाकर अग्नि अंततः बुझ जाती (निवृत्त होती) है। उसी तरह अस्तित्व बनाए रखने के लिए चित्त को 'पाँच आधार-संग्रह' की ज़रूरत होती है, किंतु सर्वस्व आधार या चिपकाव «उपादान» छूट जाने पर चित्त मुक्त होकर, इस **बुझने** (निर्वाण) की अवस्था का साक्षात्कार करता है। वहाँ बेहोशी नहीं होती, बल्कि छह-इंद्रियों से परे परम-सुखद नित्य का अनुभव होता है।

जैसे, आधार लेकर जलते रहने की प्रक्रिया लगातार कष्टदायक, तनावपूर्ण होती है। उसी तरह चित्त भी पाँच-संग्रहों का आधार लेकर भीतर ही भीतर लगातार कष्ट, तनाव और जलन महसूस करता है। किंतु आधार छोड़ देने पर अभूतपूर्व शान्ति और शीतलता के साथ समस्त कष्ट, तनाव और जलन से मुक्ति महसूस करता है।

मैं बताता हूँ कैसे, जागा **संवेग** मुझे।
छटपटाती दिखी जनता, गड्ढे में मछलियों जैसे।
— विरुद्ध एक दूसरे के, देख भय लगा मुझे।
सारहीन पूर्णतः दुनिया, दिशाएँ बिखरी ऐसे-तैसे।
इच्छा करते भवन की, मिला न कुछ बिना पूर्वदावेदारी के।
न दिखा कुछ, बजाय स्पर्धा, असंतुष्टि महसूस की मैंने।
अंततः दिखा मुझे—एक **तीर**, जिसके दर्शन दुर्लभ बड़े
हृदय बसते उस तीर से वशीभूत, सभी दिशाएँ आप भागते।
किंतु खिंच तीर बाहर, आप न भागते, न ही डूबते।

«सु.नि.४:१५»

* * *

यदि मैं तुम्हें अतीतकाल में ले जाकर **दुःखों की उत्पत्ति व विलुप्ति** सिखाऊँ कि 'इस तरह अतीत में था', तो तुम सशंकित व भ्रमित हो जाओगे। यदि मैं तुम्हें भविष्यकाल में ले जाकर दुःखों की उत्पत्ति व विलुप्ति सिखाऊँ कि 'इस तरह भविष्य में होगा', तो भी तुम सशंकित व भ्रमित हो जाओगे। इसलिए मैं यहीं बैठे, तुम्हें वहीं बिठाए, अभी यही दुःखों की उत्पत्ति व विलुप्ति सिखाता हूँ। गौर से सुनो, मैं बताता हूँ।

'जैसा आप कहें, भन्ते!"

तो क्या लगता है, भद्रक? उरुवेलकप्प में कुछ लोग है, जिनकी हत्या कैद दंड या निंदा हो जाए, तो तुम्हें शोक विलाप दर्द व्यथा या निराशा होगी?

'हाँ, ऐसे कुछ लोग है भगवान…"

और उरुवेलकप्प में कुछ लोग है, जिनकी हत्या कैद दंड या निंदा हो जाए, तो तुम्हें शोक विलाप दर्द व्यथा या निराशा **नहीं** होगी?

'हाँ, ऐसे भी कुछ लोग है भगवान…"

तो भद्रक, किस कारण, किस परिस्थिति «हेतु पच्चय» से तुम्हें कुछ लोगों की हत्या… से शोक… होगा, और कुछ लोगों की हत्या… से शोक… नहीं होगा?

'भगवान, जिनकी हत्या… से मुझे शोक… होगा, उनके प्रति मुझे **चाह व दिलचस्पी** «छन्दराग» है। जिनकी हत्या… से मुझे शोक… नहीं होगा, उनके प्रति मुझे चाह व दिलचस्पी नहीं।

देखो भद्रक! काल के परे जाकर तुमने अभी यही जो बोध किया, जो समझा, जो पता किया, उससे तुम अतीतकाल और भविष्यकाल के बारे में अनुमान लगा सकते हो कि '**अतीतकाल** में जो

भी दुःख-दर्द हुआ—सभी की जड़ चाह ही थी, सभी की जननी चाह ही थी। क्योंकि **चाह** दुःखों का मूल कारण है। तथा **भविष्यकाल** में जो भी दुःख-दर्द होगा—सभी की जड़ चाह ही रहेगी, सभी की जननी चाह ही रहेगी। क्योंकि **चाह** ही दुःखों का मूल कारण है।'

'आश्चर्य है भगवान, अद्भुत है! कितने भलीप्रकार भगवान ने बात रखीं कि '**अतीतकाल** में जो भी दुःख-दर्द हुआ—सभी की जड़ चाह ही थी, सभी की जननी चाह ही थी। क्योंकि **चाह** दुःखों का मूल कारण है। तथा **भविष्यकाल** में जो भी दुःख-दर्द होगा—सभी की जड़ चाह ही रहेगी, सभी की जननी चाह ही रहेगी। क्योंकि **चाह** ही दुःखों का मूल कारण है।'

मेरा चिरवासी नामक पुत्र है भगवान, जो बहुत दूर रहता है। जब मैं रोज़ उठता हूँ, एक आदमी भेजता हूँ, 'जाओ पता करो, चिरवासी का क्या हाल है?" और जब तक वह वापस न लौटे, चिंतित रहता हूँ 'कही चिरवासी बीमार न पड़ा हो!'

तो भद्रक, तुम्हें क्या लगता है? यदि चिरवासी की हत्या कैद दंड या निंदा हो जाए, तो तुम्हें शोक विलाप दर्द व्यथा या निराशा न होगी?

'भगवान, यदि मेरे पुत्र चिरवासी की हत्या कैद दंड या निंदा हो जाए, तो मेरा सारा जीवन ही बदल जाएगा! शोक विलाप दर्द व्यथा या निराशा कैसे न होगी?"

और तुम्हें क्या लगता है? जब तुमने चिरवासी की माँ को न देखा न सुना था, क्या तुम्हें तब उसके प्रति चाह दिलचस्पी या प्रेम था?

'नही, भन्ते।"

बल्कि जब तुमने चिरवासी की माँ को देखा या सुना, तब तुम्हें उसके प्रति चाह दिलचस्पी या प्रेम हुआ?

'हाँ, भन्ते।"

यदि चिरवासी की माँ की हत्या कैद दंड या निंदा हो जाए, तो तुम्हें शोक विलाप दर्द व्यथा या निराशा न होगी?

'भगवान, यदि चिरवासी की माँ की हत्या या कैद या दंड या निंदा हो जाए, तब भी मेरा सारा जीवन बदल जाएगा! शोक विलाप दर्द व्यथा या निराशा कैसे न होगी?"

तो भद्रक, जब भी दुःख उत्पन्न हो, इस तरह तर्कवितर्क करके पता चल सकता है कि वे **कैसे और क्यों** उत्पन्न होते हैं—सभी की जड़ चाह होती है, सभी का कारण चाह होती है। क्योंकि **चाह** ही दुःखों का मूल कारण है।

«सं.नि.४२:११»

* * *

ऐसा ही होता है ब्राह्मण, ऐसा ही होता है। शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा—**प्रिय से पैदा होते हैं, प्रिय से आरंभ होते हैं।**

इसी श्रावस्ती की बात है—एक **लड़की** की **माँ** मर गई। माँ की मौत से लड़की पागल हो, बहके चित्त से इस रास्ते से उस रास्ते, इस चौराहे से उस चौराहे भटकते हुए कहती—'क्या तुमने मेरी माँ को देखा? क्या तुमने मेरी माँ को देखा?"

इस तर्क से समझा जा सकता है कि शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा—कैसे प्रिय से पैदा होते हैं, प्रिय से आरंभ होते हैं।

इसी श्रावस्ती की बात है—एक लड़की के **पिता** मर गए। पिता की मौत से लड़की पागल हो, बहके चित्त से इस रास्ते से उस रास्ते, इस चौराहे से उस चौराहे भटकते हुए कहती—'क्या तुमने मेरे पिता को देखा? क्या तुमने मेरे पिता को देखा?"

इस तर्क से भी समझा जा सकता है कि शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा—कैसे प्रिय से पैदा होते हैं, प्रिय से आरंभ होते हैं।

इसी श्रावस्ती की बात है—एक लड़की का **भाई... बहन... पुत्र... पुत्री... पति** मर गया। भाई... बहन... पुत्र... पुत्री... पति की मौत से लड़की पागल हो, बहके चित्त से इस रास्ते से उस रास्ते, इस चौराहे से उस चौराहे भटकते हुए कहती—'क्या तुमने मेरे पति को देखा? क्या तुमने मेरे पति को देखा?"

इस तर्क से भी समझा जा सकता है कि शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा—कैसे प्रिय से पैदा होते हैं, प्रिय से आरंभ होते हैं।

इसी श्रावस्ती की बात है—एक **लड़के** की **माँ** मर गई। माँ की मौत से लड़का पागल हो, बहके चित्त से इस रास्ते से उस रास्ते, इस चौराहे से उस चौराहे भटकते हुए कहता—'क्या तुमने मेरी माँ को देखा? क्या तुमने मेरी माँ को देखा?"

इस तर्क से भी समझा जा सकता है कि शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा—कैसे प्रिय से पैदा होते हैं, प्रिय से आरंभ होते हैं।

इसी श्रावस्ती की बात है—एक लड़के के **पिता** मर गए। पिता की मौत से लड़का पागल हो, बहके चित्त से इस रास्ते से उस रास्ते, इस चौराहे से उस चौराहे भटकते हुए कहता—'क्या तुमने मेरे पिता को देखा? क्या तुमने मेरे पिता को देखा?"

इस तर्क से भी समझा जा सकता है कि शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा—कैसे प्रिय से पैदा होते हैं, प्रिय से आरंभ होते हैं।

इसी श्रावस्ती की बात है—एक लड़के का **भाई... बहन... पुत्र... पुत्री... पत्नी** मर गई। भाई... बहन... पुत्र... पुत्री... पत्नी की मौत से लड़का पागल हो, बहके चित्त से इस रास्ते से उस

रास्ते, इस चौराहे से उस चौराहे भटकते हुए कहता— 'क्या तुमने मेरी पत्नी को देखा? क्या तुमने मेरी पत्नी को देखा?"

इस तर्क से भी समझा जा सकता है कि शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा—कैसे प्रिय से पैदा होते हैं, प्रिय से आरंभ होते हैं।

इसी श्रावस्ती की बात है—एक पत्नी अपने मायके गई। परिवार ने उसके पति से रिश्ता तुड़वाकर उसकी इच्छाविरुद्ध अन्य पुरुष से ब्याहना चाहा। तब उसने पति से कह दिया —'परिवार अपना रिश्ता तुड़वाकर मुझे अन्य पुरुष से ब्याहना चाहते है।" तब उसने काटकर पत्नी के दो टुकड़े कर दिए, तथा स्वयं को भी काटकर मार डाला, [सोचते हुए] 'मरकर हम एक होंगे।'

इस तर्क से भी समझा जा सकता है कि शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा—कैसे प्रिय से पैदा होते हैं, प्रिय से आरंभ होते हैं।

«मा.नि.८७»

* * *

जन्म-जन्मांतरण की शुरुवात सोच के परे है, भिक्षुओं। संसरण की निश्चित शुरुवात पता नही चलती, परंतु अविद्या में डूबे, तृष्णा में फँसे सत्व जन्म-जन्मांतरण में भटक रहे हैं।

जैसे हवा में उछाला डंडा नीचे गिरे, तो कभी ऊपरी छोर के बल गिरता है, तो कभी निचले छोर के बल गिरता है, तो कभी बीच हिस्से के बल गिरता है। उसी तरह अविद्या में डूबे, तृष्णा में फँसे, जन्म-जन्मांतरण में भटकते हुए सत्व कभी इस लोक से उस लोक जाते हैं, तो कभी उस लोक से इस लोक आते हैं। यूँ दीर्घ.. दीर्घकाल तक आप इतना दुःख ले चुके, दर्द ले चुके, ग़म उठा चुके, श्मशान भर चुके—जो [दुनिया के] समस्त रचनाओं के प्रति **मोहभंग** होने के लिए पर्याप्त है, **वैराग्य** लाने के लिए पर्याप्त है, **विमुक्ति** पाने के लिए पर्याप्त है।

क्या लगता है, भिक्षुओं? आपने यूँ दीर्घ.. दीर्घकाल से जन्म-जन्मांतरण में भटकते, अप्रिय से जुड़ते, प्रिय से बिछड़ते, रोते बिलखते हुए **जितने आँसू बहाए**—वह अधिक होंगे या चारों महासागरों का एकत्रित जल?

आँसू अधिक है भिक्षुओं, जो आपने यूँ दीर्घकाल से जन्म-जन्मांतरण में भटकते, अप्रिय से जुड़ते, प्रिय से बिछड़ते, रोते बिलखते हुए बहाए है, न कि चारों महासागरों का एकत्रित जल।

चिरकाल से आपने [बार-बार] **माँ की मौत** अनुभव की हैं। आपने यूँ दीर्घकाल से जन्म-जन्मांतरण में भटकते, अप्रिय से जुड़ते, प्रिय से बिछड़ते, रोते बिलखते हुए माँ की मौत पर जितने आँसू बहाए है—वह अधिक है; न कि चारों महासागरों का एकत्रित जल।

चिरकाल से आपने [बार-बार] **पिता की मौत** अनुभव की हैं। आपने यूँ दीर्घकाल से जन्म-जन्मांतरण में भटकते, अप्रिय से जुड़ते, प्रिय से बिछड़ते, रोते बिलखते हुए पिता की मौत पर जितने आँसू बहाए है—वह अधिक है; न कि चारों महासागरों का एकत्रित जल।

चिरकाल से आपने [बार-बार] **भाई की मौत... बहन की मौत... पत्नी की मौत... पति की मौत... पुत्र की मौत... पुत्री की मौत... रिश्तेदारों की मौत... संपत्ति लूट जाना... रोग-पीड़ा** अनुभव किये हैं। आपने यूँ दीर्घकाल से जन्म-जन्मांतरण में भटकते, अप्रिय से जुड़ते, प्रिय से बिछड़ते, रोते बिलखते हुए भाई की मौत... बहन की मौत... पत्नी की मौत... पति की मौत... पुत्र की मौत... पुत्री की मौत...रिश्तेदारों की मौत... संपत्ति लूट जाने... रोग-पीड़ा पर जितने आँसू बहाए हैं—वह अधिक है; न कि चारों महासागरों का एकत्रित जल।

क्या लगता है, भिक्षुओं? आपने यूँ दीर्घ.. दीर्घकाल से जन्म-जन्मांतरण में भटकते हुए अपना सिर कटाकर **जितना रक्त बहाया**—वह अधिक होगा या चारों महासागरों का एकत्रित जल?

रक्त अधिक है भिक्षुओं, जो आपने यूँ दीर्घ.. दीर्घकाल से जन्म-जन्मांतरण में भटकते हुए अपना सिर कटाकर बहाया है, न कि चारों महासागरों का एकत्रित जल।

आपने [बार-बार] **गाय होते हुए** अपना सिर कटाकर जितना रक्त बहाया—वह अधिक है; न कि चारों महासागरों का एकत्रित जल।

आपने [बार-बार] **बैल होते हुए** अपना सिर कटाकर जितना रक्त बहाया—वह अधिक है; न कि चारों महासागरों का एकत्रित जल।

आपने [बार-बार] **भैंस होते हुए... भेड़ होते हुए... बकरी होते हुए... हिरण होते हुए... मुर्गी होते हुए.... सुअर होते हुए** अपना सिर कटाकर जितना रक्त बहाया—वह अधिक है; न कि चारों महासागरों का एकत्रित जल।

आपने [बार-बार] **गाँव का लुटेरा चोर होते हुए** गिरफ्तार होने पर दंडस्वरुप अपना सिर कटाकर जितना रक्त बहाया—वह अधिक है; न कि चारों महासागरों का एकत्रित जल।

आपने [बार-बार] **महामार्ग का डाकु होते हुए** गिरफ्तार होने पर दंडस्वरुप अपना सिर कटाकर जितना रक्त बहाया—वह अधिक है; न कि चारों महासागरों का एकत्रित जल।

आपने [बार-बार] **व्यभिचारी होते हुए** गिरफ्तार होने पर दंडस्वरुप अपना सिर कटाकर जितना रक्त बहाया—वह अधिक है; न कि चारों महासागरों का एकत्रित जल।

जन्म-जन्मांतरण की शुरुवात सोच के परे है, भिक्षुओं। संसरण की निश्चित शुरुवात पता नही चलती, परंतु अविद्या में डूबे, तृष्णा में फँसे सत्व जन्म-जन्मांतरण में भटक रहे हैं। यूँ दीर्घ.. दीर्घकाल तक आप इतना दुःख ले चुके, इतना दर्द ले चुके, इतना ग़म उठा चुके, इतने श्मशान भर

चुके—जो [दुनिया के] समस्त रचनाओं के प्रति **मोहभंग** होने के लिए पर्याप्त है, **वैराग्य** लाने के लिए पर्याप्त है, **विमुक्ति** पाने के लिए पर्याप्त है।

एक समय आता है, जब **बड़े-बड़े महासागर** भाप बन जाते है, सूख जाते है, उनका अस्तित्व नही बचता। परंतु सत्व जब तक अविद्या में डूबे, तृष्णा में फँसे, जन्म-जन्मांतरण में भटक रहे हो—उनके दुःखों का अंत नहीं होता।

एक समय आता है, जब **पर्वतराज सुमेरु** जल जाता है, राख़ हो जाता है, उसका अस्तित्व नही बचता। परंतु सत्व जब तक अविद्या में डूबे, तृष्णा में फँसे, जन्म-जन्मांतरण में भटक रहे हो—उनके दुःखों का अंत नही होता।

एक समय आता है, जब यह **विशाल पृथ्वी** जल जाती है, राख़ हो जाती है, उसका अस्तित्व नही बचता। परंतु सत्व जब तक अविद्या में डूबे, तृष्णा में फँसे, जन्म-जन्मांतरण में भटक रहे हो—उनके दुःखों का अंत नही होता।

जन्म-जन्मांतरण में भटकता हुआ एक व्यक्ति मात्र **एक कल्प** तक पीछे जितनी हड्डी-कंकाल छोड़ते जाता है—यदि उनका कोई ढ़ेर लगाए, तो वह इस वेपुल्ल पर्वत से ऊँचा हो जाए।

और यह गिनना आसान नहीं कि एक कल्प में कुल कितने वर्ष होते हैं—इतने सैकड़ों वर्ष.. या इतने हज़ारों वर्ष.. या इतने लाखों वर्ष होते हैं। कल्पना करों कि चट्टान का एक महापर्वत हो—एक योजन [=१२~१६ कि.मी.] लंबा, एक योजन चौड़ा, एक योजन ऊँचा, बिना दरार, बिना छेदवाला एकल पिंड। तब प्रत्येक सौ वर्षों में कोई पुरुष मात्र एक बार आए, और काशी के [मुलायम] वस्त्र से उसे मात्र एक बार पोछे। उस प्रयास से चट्टान का वह महापर्वत बहुत जल्द अपव्यय होगा, मिट जाएगा, किंतु कल्प नहीं बीतेगा।

इतना लंबा होता है भिक्षुओं, एक कल्प! और इतने लंबे कल्प में जन्म-जन्मांतरण में भटकते हुए मात्र एक कल्प ही नहीं बीता.. या एक सौ कल्प नहीं बीते.. या एक हज़ार कल्प नहीं बीते.. या एक लाख कल्प नहीं बीते...

जैसे गंगा नदी जहाँ से बह निकलती है, और जहाँ समुद्र में मिलती है, उसके बीच रेत के कुल कण गिनना आसान न होगा कि इतने सैकड़ों रेत के कण होंगे.. या इतने हज़ारों रेत के कण होंगे, या इतने लाखों रेत के कण होंगे। जन्म-जन्मांतरण में भटकते हुए उनसे भी अधिक कल्प बीत चुके, गुज़र चुके, जिन्हें गिनना आसान न होगा कि इतने सैकड़ों कल्प बीत चुके.. या इतने हज़ारों कल्प बीत चुके.. या इतने लाखों कल्प बीत चुके, गुज़र चुके।

आप यूँ दीर्घ.. दीर्घकाल तक इतना दुःख ले चुके, इतना दर्द ले चुके, इतना ग़म उठा चुके, इतने श्मशान भर चुके—जो समस्त रचनाओं के प्रति **मोहभंग** होने के लिए पर्याप्त है, **वैराग्य** लाने के लिए पर्याप्त है, **विमुक्ति** पाने के लिए पर्याप्त है।

जैसे कोई **कुत्ता** खंभे या खूँटी से बंधा—उसी खंभे या खूँटी के गोल-गोल दौड़ते रहता है, घूमते रहता है। उसी तरह कोई आर्यदर्शन से वंचित, आर्यधर्म से अपरिचित, आर्यधर्म में न अनुशासित हो; या सत्पुरुषदर्शन से वंचित, सत्पुरुषधर्म से अपरिचित, सत्पुरुषधर्म में न अनुशासित हो—ऐसा धर्म न सुना आम आदमी —

• [भौतिक] **रूप** को आत्म [स्व] मानता है; या आत्म का रूप मानता है; या आत्म में रूप मानता है; या रूप में आत्म मानता है।

• वह **संवेदना** «वेदना» को आत्म मानता है; या आत्म की संवेदना मानता है; या आत्म में संवेदना मानता है; या संवेदना में आत्म मानता है।

• वह **नज़रिया** «सञ्ञा» को आत्म मानता है; या आत्म का नज़रिया मानता है; या आत्म में नज़रिया मानता है; या नज़रिया में आत्म मानता है।

• वह **रचना**# «सङ्खार» को आत्म मानता है; या आत्म की रचना मानता है; या आत्म में रचना मानता है; या रचना में आत्म मानता है।

• वह **चैतन्यता** «विञ्ञाण» को आत्म मानता है; या आत्म की चैतन्यता मानता है; या आत्म में चैतन्यता मानता है; या चैतन्यता में आत्म मानता है।##

और वह उसी रूप के गोल-गोल दौड़ते रहता है, घूमते रहता है। वह उसी संवेदना के… नज़रिए के… रचना के… चैतन्यता के गोल-गोल दौड़ते रहता है, घूमते रहता है। उनके गोल-गोल दौड़ते रहने से, घूमते रहने से वह उन रूप से… संवेदना से… नज़रिए से… रचना से… चैतन्यता से छूट नही पाता। उनसे छूट न पाने से वह जन्म बुढ़ापा मौत से छूट नही पाता; शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा से छूट नही पाता। मैं कहता हूँ वह दुःखों से छूट नही पाता।

परंतु कोई जो आर्यदर्शन लाभान्वित, आर्यधर्म से सुपरिचित, आर्यधर्म में अनुशासित हो; या सत्पुरुषदर्शन लाभान्वित, सत्पुरुषधर्म से सुपरिचित, सत्पुरुषधर्म में अनुशासित हो—ऐसा धर्म सुना आर्यश्रावक —

संस्कार: जैसे, कुम्हार गीली मिट्टी लेकर 'चेतनापूर्वक' घड़ा या अन्य बर्तन गढ़ता/रचता है, या उपन्यासकार चेतनापूर्वक पात्र व कथा गढ़ता/रचता है—जो नैसर्गिक प्राकृत अवस्था में न होकर, बनावटी, चेतनापूर्वक रची, गढ़ी, बुनी या संस्कृत की गयी हो—उन्हें संस्कार या **रचना** कहते है। अंग्रेजी में formation या fabrication।

धर्म न सुना, आम-आदमी इन पाँच-संग्रहों (=रूप संवेदनाएँ नज़रिए रचनाएँ और चैतन्यता) को इस तरह चार-चार तरह से आत्म या स्व मानता है—ऐसी ५ X ४ कुल बीस मान्यताएँ **आत्मियदृष्टियाँ** «सक्कायदिट्ठी» कहलाती हैं, जो एक बंधन **«संयोजन»** है। इसे और अन्य दो बंधन—'अनिश्चितता' और 'शील-व्रतों पर अटकना'—तोड़कर प्रथम-आर्यफ़ल 'श्रोतापन्नपद' प्राप्त किया जाता है। पश्चात 'काम-राग' और 'चिडचिड' बंधन तोड़कर अनागामीफ़ल मिलता है। इन पाँच के अलावा, अन्य पाँच—रूप-राग, अरूप-राग, अहंभाव, बेचैनी और अविद्या—ऐसे कुल दस-बंधन तोड़कर, कोई जन्म-जन्मान्तरण से छूटकर, दुःखमुक्त 'अरहन्तपद' प्राप्त करता है।

• **रूप** को आत्म नही मानता; या आत्म का रूप नही मानता; या आत्म में रूप नही मानता; या रूप में आत्म नही मानता।

• **संवेदना** को आत्म नही मानता; या आत्म की संवेदना नही मानता; या आत्म में संवेदना नही मानता; या संवेदना में आत्म नही मानता।

• **नज़रिए** को आत्म नही मानता; या आत्म का नज़रिया नही मानता; या आत्म में नज़रिया नही मानता; या नज़रिया में आत्म नही मानता।

• **रचना** को आत्म नही मानता; या आत्म की रचना नही मानता; या आत्म में रचना नही मानता; या रचना में आत्म नही मानता।

• **चैतन्यता** को आत्म नही मानता; या आत्म की चैतन्यता नही मानता; या आत्म में चैतन्यता नही मानता; या चैतन्यता में आत्म नही मानता।

वह रुप के गोल-गोल दौड़ते नही रहता, घूमते नही रहता। वह संवेदना के... नज़रिए के... रचना के... चैतन्यता के गोल-गोल दौड़ते नही रहता, घूमते नही रहता। उनके गोल-गोल दौड़ते न रहने से, घूमते न रहने से वह उन रुप से... संवेदना से... नज़रिए से... रचना से... चैतन्यता से छूट पाता है। उनसे छूट पाने से वह जन्म बुढ़ापा मौत से छूट पाता है; शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा से छूट पाता है। मैं कहता हूँ वह दुःखों से छूट पाता है।

जैसे कोई **कुत्ता** खंभे या खूँटी से बंधा—जब भी चलेगा, उसी खंभे या खूँटी के आसपास चलता मिलेगा। जब भी खड़ा रहेगा, उसी खंभे या खूँटी के आसपास खड़ा मिलेगा। जब भी बैठेगा, उसी खंभे या खूँटी के आसपास बैठा मिलेगा। जब भी लेटेगा, उसी खंभे या खूँटी के आसपास लेटा मिलेगा।

उसी तरह, धर्म न सुने आम आदमी को लगता है कि यह —

• **रूप**—'मेरा है। मेरा आत्म है। यही तो मैं हूँ।'

• **संवेदना**—'मेरी है। मेरा आत्म है। यही तो मैं हूँ।'

• **नज़रिया**—'मेरा है। मेरा आत्म है। यही तो मैं हूँ।'

• **रचना**—'मेरी है। मेरा आत्म है। यही तो मैं हूँ।'

• **चैतन्यता**—'मेरी है। मेरा आत्म है। यही तो मैं हूँ।'

वह जब भी चलेगा, इन्ही **पाँच आधार-संग्रह** «उपादानक्खन्ध» के आसपास चलता मिलेगा। वह जब भी खड़ा रहेगा, इन्ही पाँच आधार-संग्रह के आसपास खड़ा मिलेगा। वह जब भी बैठेगा, इन्ही पाँच आधार-संग्रह के आसपास बैठा मिलेगा। वह जब भी लेटेगा, इन्ही पाँच आधार-संग्रह के आसपास लेटा मिलेगा। इसलिए आप को अपने चित्त के बारे में सोचना चाहिए—'दीर्घकाल से यह

चित्त ‘राग द्वेष मोह’ द्वारा मैला हुआ है। चित्त के मैलेपन से सत्व मैले होते हैं। चित्त की सफ़ाई से सत्व विशुद्ध होते हैं।’

भिक्षुओं, क्या आपने कभी चलचित्रों की नौटंकी देखी है?

‘हाँ, भन्ते!”

उन चलचित्र नौटंकी की रचनाएँ चित्त ने की है। बल्कि यह चित्त उन तमाम चलचित्र नौटंकीयों से अधिक रंगबिरंगा है। इसलिए आप को अपने चित्त के बारे में सोचना चाहिए—‘दीर्घकाल से यह चित्त ‘राग द्वेष मोह’ द्वारा मैला हुआ है। चित्त के मैलेपन से सत्व मैले होते हैं। चित्त की सफ़ाई से सत्व विशुद्ध होते हैं।’

मैं किसी अन्य सत्वलोक में इतनी रंगबिरंगी विविधता नही देखता, जितना पशुयोनि में देखता हूँ। आम जीवजंतुओं की रचना चित्त ने की है। बल्कि चित्त में पशुयोनि से अधिक रंगबिरंगी विविधता पाई जाती है। इसलिए आप को अपने चित्त के बारे में सोचना चाहिए—‘दीर्घकाल से यह चित्त ‘राग द्वेष मोह’ द्वारा मैला हुआ है। चित्त के मैलेपन से सत्व मैले होते हैं। चित्त की सफ़ाई से सत्व विशुद्ध होते हैं।’

जैसे किसी चित्रकार के पास जब ‘लाख हल्दी नील या लालिमा’ [=रंग] हो—तभी वह फ़लक, दीवार या कपड़े पर सभी अंगप्रत्यंगों वाला स्त्रीचित्र या पुरुषचित्र रंग पाता है। उसी तरह कोई धर्म न सुना आम आदमी, जब कुछ रचने जाए, तो रूप रचता है, संवेदना रचता है, नज़रिया रचता है, रचना रचता है, चैतन्यता रचता है।

• तो क्या मानते हो भिक्षुओं, **रूप** नित्य होता है या अनित्य?

‘अनित्य, भन्ते।”

जो नित्य नही होता, वह कष्टपूर्ण होता है या सुखपूर्ण?

‘कष्टपूर्ण, भन्ते।”

जो नित्य न हो, बल्कि कष्टपूर्ण हो, बदलते स्वभाव का हो, क्या उसे यूँ देखना योग्य है कि—‘यह मेरा है, यह मेरा आत्म है, यही तो मैं हूँ?’

‘नही, भन्ते।”

इसलिए भिक्षुओं, जो रूप—भूत भविष्य या वर्तमान के, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप के **सभी रूप—**‘मेरे नही, मेरा आत्म नही, मैं यह नही’—इस तरह जैसे बने हो «यथाभूत», सही पता करके देखना है «सम्मप्पञ्ञाय दट्ठब्बं»।

• **संवेदना** नित्य होती है या अनित्य?

‘अनित्य, भन्ते।”

जो नित्य नही होती, वह कष्टपूर्ण होती है या सुखपूर्ण?

'कष्टपूर्ण, भन्ते।"

जो नित्य न हो, बल्कि कष्टपूर्ण हो, बदलते स्वभाव की हो, क्या उसे यूँ देखना योग्य है कि—'यह मेरी है, यह मेरा आत्म है, यही तो मैं हूँ?'

'नही, भन्ते।"

इसलिए भिक्षुओं, जो भी संवेदना है—भूत भविष्य या वर्तमान की, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप की **सभी संवेदनाएँ**—'मेरी नही, मेरा आत्म नही, मैं यह नहीं'—इस तरह जैसे बनी हो, सही पता करके देखना है।

• **नज़रिया** नित्य होता है या अनित्य?

'अनित्य, भन्ते।"

जो नित्य नही होता, वह कष्टपूर्ण होता है या सुखपूर्ण?

'कष्टपूर्ण, भन्ते।"

जो नित्य न हो, बल्कि कष्टपूर्ण हो, बदलते स्वभाव का हो, क्या उसे यूँ देखना योग्य है कि—'यह मेरा है, यह मेरा आत्म है, यही तो मैं हूँ?'

'नही, भन्ते।"

इसलिए भिक्षुओं, जो भी नज़रिया है—भूत भविष्य या वर्तमान का, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप के **सभी नज़रिए**—'मेरे नही, मेरा आत्म नही, मैं यह नहीं'—इस तरह जैसे बने हो, सही पता करके देखना है।

• **रचना** नित्य होती है या अनित्य?

'अनित्य, भन्ते।"

जो नित्य नही होती, वह कष्टपूर्ण होती है या सुखपूर्ण?

'कष्टपूर्ण, भन्ते।"

जो नित्य न हो, बल्कि कष्टपूर्ण हो, बदलते स्वभाव की हो, क्या उसे यूँ देखना योग्य है कि—'यह मेरी है, यह मेरा आत्म है, यही तो मैं हूँ?'

'नही, भन्ते।"

इसलिए भिक्षुओं, जो भी रचना है—भूत भविष्य या वर्तमान की, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप की **सभी रचनाएँ**—'मेरी नही, मेरा आत्म नही, मैं यह नहीं'—इस तरह जैसे बनी हो, सही पता करके देखना है।

• **चैतन्यता** नित्य होती है या अनित्य?

'अनित्य, भन्ते।"

जो नित्य नही होती, वह कष्टपूर्ण होती है या सुखपूर्ण?

‘कष्टपूर्ण, भन्ते।”

जो नित्य न हो, बल्कि कष्टपूर्ण हो, बदलते स्वभाव की हो, क्या उसे यूँ देखना योग्य है कि—‘यह मेरी है, यह मेरा आत्म है, यही तो मैं हूँ?’

‘नही, भन्ते।”

इसलिए भिक्षुओं, जो भी चैतन्यता है—भूत भविष्य या वर्तमान की, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप की **सभी चैतन्यता**—‘मेरी नही, मेरा आत्म नही, मैं यह नही’—इस तरह जैसे बनी हो, सही पता करके देखना है।

इस तरह देखने से भिक्षुओं, धर्म सुने आर्यश्रावक का रूपों के प्रति **मोहभंग** «निब्बिदा» होता है, संवेदनाओं के प्रति मोहभंग होता है, नज़रियों के प्रति मोहभंग होता है, रचनाओं के प्रति मोहभंग होता है, चैतन्यता के प्रति मोहभंग होता है।

मोहभंग होने से **वैराग्य** आता है। वैराग्य आने से वह **विमुक्त** होता है। विमुक्ति के साथ ज्ञान उत्पन्न होता है—‘विमुक्त हुआ!’ उसे पता चलता है—‘जन्म समाप्त हुए! ब्रह्मचर्य परिपूर्ण हुआ! काम पुरा हुआ! अभी यहाँ करने के लिए कुछ बचा नही!’

«सं.नि.२२:९९ + १५:३ + १५:५ + १५:८ + १५:९ + १५:१० + १५:१३ + २२:१००»

* * *

[भगवान ने अपने अँगूठे के नाखून पर धूल उठाकर पूछा —]

क्या लगता है भिक्षुओं, क्या अधिक है—मेरे नाखून पर लगी यह धूल, या विशाल पृथ्वी?

‘विशाल पृथ्वी बहुत अधिक है, भगवान। भगवान के नाखून पर लगी यह धूल कुछ भी नही; उसे गिना भी नहीं जाएगा। कोई तुलना ही नही। बहुत कम है। विशाल पृथ्वी से तुलना करें तो भगवान के नाखून पर लगी धूल एक अंश भी नही।”

उसी तरह भिक्षुओं, **बहुत कम** [=सुगति] **सत्व** होते हैं, जो मृत्युपरांत —

- मनुष्यलोक से देवलोक, या मनुष्यलोक से पुनः मनुष्यलोक में पुनर्जन्म पाते हैं।
- देवलोक से पुनः देवलोक, या देवलोक से मनुष्यलोक में पुनर्जन्म पाते हैं।
- पशुयोनि से… प्रेतलोक से… नरक से देवलोक या मनुष्यलोक में पुनर्जन्म पाते हैं।

परंतु **बहुत अधिक** [=दुर्गति] **सत्व** होते हैं, जो मृत्युपरांत —

- मनुष्यलोक से नरक प्रेतलोक या पशुयोनि में पुनर्जन्म पाते हैं।
- देवलोक से नरक प्रेतलोक या पशुयोनि में पुनर्जन्म पाते हैं।
- पशुयोनि से नरक प्रेतलोक या पशुयोनि में पुनर्जन्म पाते हैं।
- प्रेतलोक से नरक प्रेतलोक या पशुयोनि में पुनर्जन्म पाते हैं।
- नरक से नरक प्रेतलोक या पशुयोनि में पुनर्जन्म पाते हैं।

«सं.नि.५६:१०२ ~ ५६:११३»

* * *

«उपनीयति लोको। अद्धुवो»

बह जाती है यह दुनिया। बचती नही।

«अताणो लोको। अनभिस्सरो»

आश्रय नही देती यह दुनिया। कोई मालिक नही।

«अस्सको लोको। सब्बं पहाय गमनीयं»

अपना कुछ नही इस दुनिया में। सब छोड़कर जाना पड़ता है।

«उनो लोको, अतित्तो, तण्हा दासो»

पर्याप्त नही यह दुनिया। तृप्त नही करती। तृष्णा की नौकर है।

«मा.नि.८२»

* * *

'**दुनिया.. दुनिया..**' कहते है, भगवान। यह शब्द 'दुनिया' «लोक» कहाँ लागू होता है?

«लुज्जती'ति लोके» टूट-टूटकर बिखरती है, उसे 'दुनिया' कहते है। क्या टूटकर बिखरती है?

• आँख टूटकर बिखरती है। रुप टूटकर बिखरते हैं। आँख की चैतन्यता टूटकर बिखरती है। आँख का संपर्क टूटकर बिखरता है। आँख के संपर्क से उत्पन्न जो भी महसूस हो—सुख, दर्द या नसुख-नदर्द—वह भी टूटकर बिखरता है।

• कान टूटकर बिखरते है। आवाज़े टूटकर बिखरती हैं। कान की चैतन्यता टूटकर बिखरती है। कान का संपर्क टूटकर बिखरता है। कान के संपर्क से उत्पन्न जो भी महसूस हो—सुख, दर्द या नसुख-नदर्द—वह भी टूटकर बिखरता है।

• नाक टूटकर बिखरती है। गंध टूटकर बिखरती हैं। नाक की चैतन्यता टूटकर बिखरती है। नाक का संपर्क टूटकर बिखरता है। नाक के संपर्क से उत्पन्न जो भी महसूस हो—सुख, दर्द या नसुख-नदर्द—वह भी टूटकर बिखरता है।

• जीभ टूटकर बिखरती है। स्वाद टूटकर बिखरते हैं। जीभ की चैतन्यता टूटकर बिखरती है। जीभ का संपर्क टूटकर बिखरता है। जीभ के संपर्क से उत्पन्न जो भी महसूस हो—सुख, दर्द या नसुख-नदर्द—वह भी टूटकर बिखरता है।

• मन टूटकर बिखरता है। स्वभाव टूटकर बिखरते हैं। मन की चैतन्यता टूटकर बिखरती है। मन का संपर्क टूटकर बिखरता है। मन के संपर्क से उत्पन्न जो भी महसूस हो—सुख, दर्द या नसुख-नदर्द—वह भी टूटकर बिखरता है।

टूट-टूटकर बिखरती है, उसे 'दुनिया' कहते है।

«सं.नि.३५:८२»

कल्पना करो भिक्षुओं, **चार ज़हरीले नाग** हो। और ऐसा व्यक्ति आए जो जीना चाहता हो, दर्द से दूर रहना चाहता हो। उसे कहा जाए—'देखिए जनाब, यह चार ज़हरीले नाग है, जिन्हें समय-समय पर उठाना है, नहलाना है, खिलाना है, और सुलाना है। किंतु उनकी सेवा करते हुए कोई नाग गुस्सा हो जाए, तो वह तुम्हें डसे बिना छोड़ेगा नही। तुम वहीं तड़प-तड़पकर मर जाओगे। तो तुम्हारी नौकरी लगा दी जाती है।"

तब वह व्यक्ति, उन चार ज़हरीले नागों से घबराकर यहाँ वहाँ भागे।

तब उसे कहा जाए—'जनाब, हमें ख़बर मिली है कि आपके **पाँच दुश्मन** पीछा कर रहे है, [सोचते हुए] 'आप जहाँ कहीं मिले, ख़ून कर दे!' तो देखिए जनाब, आपको क्या करना है?"

तब वह व्यक्ति, उन चार ज़हरीले नागों और उन पाँच दुश्मनों से घबराकर यहाँ वहाँ भागे।

तब उसे कहा जाए—'जनाब, हमें ख़बर मिली है कि एक **गुप्तहत्यारा** तलवार निकाले आपका पीछा कर रहा है, [सोचते हुए] 'आप जहाँ कही मिले, सिर उड़ा दूँ!' तो देखिए जनाब, आपको क्या करना है?"

तब वह व्यक्ति, उन चार ज़हरीले नागों, उन पाँच दुश्मनों, और एक गुप्तहत्यारे से घबराकर यहाँ वहाँ भागे।

तब उसे एक **वीरान गाँव** दिखाई दे। वह जिस भी घर जाए, वह ख़ाली निर्जन हो। जो भी बर्तन उठाए, वह ख़ाली खोखला हो। तब उसे कहा जाए—'डाकुओं की टोली गाँव लूटने के लिए हमला करनेवाली है। तो देखिए जनाब, आपको क्या करना है?"

तब वह व्यक्ति, उन चार ज़हरीले नागों, उन पाँच दुश्मनों, एक गुप्तहत्यारे, और डाकुओं की टोली से घबराकर यहाँ वहाँ भागे।

तब आगे उसे **भीषण बाढ़** दिखाई दे, जिसका यह तट ख़तरनाक हो व दूर का तट सुरक्षित। किंतु पार करने के लिए न नाव हो, न पुल। तब वह सोचता है—'मैं क्यों न लकड़ियां घास टहनियाँ व पत्ते इकट्ठाकर बेड़ा बनाऊ? उस बेड़े पर सवार हो, हाथ पैरों से चप्पू चलाता हुआ दूर के तट पर सुरक्षित पहुँचूँगा।'

तब वह लकड़ियां घास टहनियाँ व पत्ते इकट्ठाकर बेड़ा बनाता है, और उसपर सवार हो, हाथ पैरों से चप्पू चलाता हुआ वह ब्राह्मण बाढ़ पार कर दूर के तट पर सुरक्षित खड़ा होकर राहत की साँस लेता है।

— तो भिक्षुओं, मैंने यह उपमा अपनी बात रखने के लिए दी है। और वह बात यह है;

- चार ज़हरीले नाग—चार महाभूत है: पृथ्वी जल अग्नि वायु धातु।
- पाँच दुश्मन—पाँच आधार-संग्रह है।
- तलवार निकाला एक गुप्तहत्यारा—मज़ा लेना और दिलचस्पी «नन्दिराग» है।

• वीरान गाँव—भीतरी छह इंद्रिया हैं। यदि समझदार सक्षम व चतुर व्यक्ति—आँख कान नाक जीभ काया मन ठीक से जाँचें, तो उसे वह ख़ाली खोखली दिखाई देगी।

• डाकुओं की टोली—बाहरी छह विषय हैं। आँखों पर प्रिय-अप्रिय दोनों तरह के रूप टकराते रहते है। कानों पर प्रिय-अप्रिय दोनों तरह की आवाज़ें टकराती रहती है। नाक पर प्रिय-अप्रिय दोनों तरह की गंध टकराती रहती है। जीभ पर प्रिय-अप्रिय दोनों तरह के स्वाद टकराते रहते है। काया पर प्रिय-अप्रिय दोनों तरह के संस्पर्श टकराते रहते है। मन पर प्रिय-अप्रिय दोनों तरह के स्वभाव टकराते रहते है।

• भीषण बाढ़—बहाव «आसव» की चार बाढ़ है: काम अस्तित्व दृष्टि व अविद्या का बहाव।

• यह ख़तरनाक तट—आत्मियता «सक्काय» करना है।

• दूर का सुरक्षित तट—निर्वाण है।

• बेड़ा—आर्य अष्टांगिक मार्ग है।

• हाथ पैरों से चप्पू चलाना—परिश्रम करना है।

• ब्राह्मण का बाढ़ पार कर दूर के तट पर सुरक्षित खड़े हो राहत की साँस लेना—अरहंत होना है।

«सं.नि.३५:२३८»

* * *

[भगवान ने अपने अँगूठे के नाखून पर धूल उठाकर पूछा —]

क्या लगता है भिक्षुओं, क्या अधिक है—मेरे नाखून पर लगी यह धूल, या विशाल पृथ्वी?

‘विशाल पृथ्वी बहुत अधिक है, भगवान! भगवान के नाखून पर लगी यह धूल कुछ भी नही है। उसे गिना भी न जाएगा। कोई तुलना ही नही। बहुत कम है। विशाल पृथ्वी से तुलना करें तो भगवान के नाखून पर लगी धूल एक अंश भी नही।”

उसी तरह भिक्षुओं, दृष्टिसंपन्न [=श्रोतापन्न] भिक्षु, जिसे धम्म ठीक समझ आए, उसका दुःख-दर्द बहुत अधिक खत्म हुआ, अंत हुआ। और जो बच गया, जो उसे अधिक से अधिक ७ जन्मों में मिलेगा, वह कुछ भी नही। उसे गिना भी नही जाएगा। कोई तुलना ही नही। बहुत कम है। पूर्व के दुःखों के ढ़ेर «दुक्खक्खन्ध» से तुलना करें, तो बचा दुःख-दर्द एक अंश भी नही।

इतना विशाल पुरस्कार मिलता है भिक्षुओं, जिसे धर्म ठीक समझ आए! इतना महान पुरस्कार मिलता है, जिसे धर्मचक्षु प्राप्त हो!

«सं.नि.१३:१»

* * *

«पथब्या एकरज्जेन, सग्गस्स गमनेन वा
सब्बलोकाधिपच्चेन, सोतापत्तिफलं वरं।»
पृथ्वी पर एकछत्र-राज्य, पश्चात स्वर्ग जाकर समस्त विश्वों पर आधिपत्य!
उससे भी बेहतर है श्रोतापतिफल!

«धम्मपद १७८»

* * *

सत्थुसासन

'भन्ते, अच्छा होगा, यदि भगवान मुझे संक्षिप्त में धर्म सिखाएं। ताकि भगवान से धर्म सुनकर मैं निर्लिप्त एकांतवास में फ़िक्रमन्द सचेत व दृढ़निश्चयी होकर रहूँ।"

उपालि, जिन धर्मस्वभावों के बारे में तुम जानते हो कि—'यह धर्मस्वभाव नितांत मोहभंग नहीं कराते; वैराग्य नहीं लाते; निरोध व रोकथाम नहीं कराते; प्रत्यक्ष-ज्ञान, संबोधि और निर्वाण तक नहीं ले जाते'—उन्हें लेकर तुम निश्चित धारण कर सकते हो कि 'यह धर्म नहीं हो सकता! यह विनय नहीं हो सकता! यह शास्ता की सीख नहीं हो सकती!'

और जिन धर्मस्वभावों के बारे में तुम जानते हो कि—'यह धर्मस्वभाव नितांत मोहभंग कराते है; नितांत वैराग्य लाते है; निरोध व रोकथाम कराते है; प्रत्यक्ष-ज्ञान, संबोधि और निर्वाण तक ले जाते हैं'—उन्हें लेकर तुम निश्चित धारण कर सकते हो कि 'यह धर्म होगा! यह विनय होगा! यह शास्ता की सीख होगी!'

«अं.नि.७:८०»

* * *

'भन्ते, भगवान के दीर्घकाल से सिखाएं धर्म को मैं ऐसे जानता हूँ—'**लोभ** चित्त का दूषण «उपक्किलेस» होता है; **द्वेष** चित्त का दूषण होता है; **मोह** चित्त का दूषण होता है।' हालाँकि मैं यह सब जानता हूँ! तब भी मेरे चित्त में कभी-कभी लोभ धर्मस्वभाव, द्वेष धर्मस्वभाव और मोह धर्मस्वभाव घुसकर बैठ जाता है। तो मैं सोचता हूँ कि 'आख़िर कौन-सा धर्म अब तक मेरे भीतर से नहीं छूटा, जिससे कभी-कभी मेरे चित्त में 'लोभ, द्वेष और मोह' घुसकर बैठ जाता है?"

'महानाम! वे ही हैं, जो तुम्हारे भीतर से नहीं छूटे, जिस कारण तुम्हारे चित्त में कभी-कभी लोभ धर्मस्वभाव, द्वेष धर्मस्वभाव और मोह धर्मस्वभाव घुसकर बैठ जाता है। क्योंकि यदि वे तुम्हारे भीतर से छूटे चुके होते, तो तुम आज गृहस्थी-जीवन न जीते, और काम-भोग न करते। चूँकि वे ही तुम्हारे भीतर से न छूट पाए, इसलिए तुम आज गृहस्थी-जीवन जीते हो, और काम-भोग भी करते हो।

कल्पना करो कि एक **गरीब व्यक्ति** हो, असहाय और कंगाल—जिसकी एकमेव छोटी-सी **झोपड़ी** हो, टूटी हुई, ख़स्ता हालात में, कौवों के लिए खुली, ज़रा भी अच्छी नहीं; जिसके पास एकमेव **खाट** हो, टूटी हुई, ख़स्ता हालात में, ज़रा भी अच्छी नहीं; जिसके पास टूटे चावल और कद्दू

के बीज रखा एकमेव **बर्तन** हो, ज़रा भी अच्छा नहीं; जिसकी एकमेव पत्नी हो, ज़रा भी अच्छी नहीं। तब वह वन में जाए और किसी **भिक्षु** को देखें, जो अच्छा भोजन कर, हाथ-पैर धोकर, शीतल छाँव में बैठकर, चित्त ऊँचा उठाने «अधिचित्त» के प्रति संकल्पबद्ध हो।

तब गरीब सोचता है—'कितना सुखद होता है श्रमण-जीवन! कितना पीड़ामुक्त होता है श्रमण-जीवन! अरे! काश मैं सिरदाढ़ी मुंडवा, काषायवस्त्र धारण कर, घर से बेघर होकर प्रवज्यित हो जाऊँ?'

किंतु वह अपनी एकमेव छोटी-सी **झोपड़ी** नहीं त्याग पाता, जो टूटी हुई, ख़स्ता हालात में, कौवों के लिए खुली, ज़रा भी अच्छी नहीं है। वह अपनी एकमेव **खाट** नहीं त्याग पाता, जो टूटी हुई, ख़स्ता हालात में, ज़रा भी अच्छी नहीं है। वह टूटे चावल और कद्दू के बीज रखा अपना एकमेव **बर्तन** नहीं त्याग पाता, जो ज़रा भी अच्छा नहीं है। वह अपनी एकमेव **पत्नी** नहीं त्याग पाता, जो ज़रा भी अच्छी नहीं है। और इसलिए वह सिरदाढ़ी मुंडवा, काषायवस्त्र धारण कर, घर से बेघर होकर प्रवज्यित नहीं हो पाता।

अब कोई कहे कि 'वह झोंपड़ी... खाट... बर्तन... पत्नी, जो ज़रा भी अच्छे नहीं, वे उसके लिए दुर्बल फंदा है, कमज़ोर फंदा है, सड़ता फंदा है, निस्सार फंदा है!' क्या ऐसा कहना सच होगा?

'नहीं, भन्ते! वह झोंपड़ी... खाट... बर्तन... पत्नी, जो ज़रा भी अच्छे नहीं, वे उसके लिए बड़ा फंदा है, तगड़ा फंदा है, भारी फंदा है, शक्तिशाली फंदा है!"

उसी तरह मैं जब नालायक पुरुषों को कहता हूँ कि 'इसे त्याग दो!' तो वे कहते है, 'क्या? इतनी छोटी तुच्छ बात? अरे बड़ा सताता है यह श्रमण!' और वे उसे नहीं त्यागते। बल्कि वे मेरे प्रति और सीखते «सेक्ख» आर्यश्रावकों के प्रति अशिष्टता दिखाते हैं। उनके लिए वह 'छोटी तुच्छ बात' बड़ा फंदा होती है, तगड़ा फंदा होती है, भारी फंदा होती है, शक्तिशाली फंदा होती है।

अब कल्पना करो कि कोई **गृहस्थ** हो, या कुलपुत्र [या पुत्री] हो—जिसके पास स्वर्ण-ईटों से भरा विशाल **खज़ाना** हो, विभिन्न अनाजों से भरा विशाल **भंडार** हो, अनेक विस्तृत विशालकाय **खेत-खलिहान** हो, अनेक विस्तृत विशालकाय **ज़मीन-ज़ायदाद** हो, विशाल संख्या में **पत्नियाँ** हो, और विशाल संख्या में **गुलाम** स्त्री-पुरुष हो। तब वह वन में जाए और किसी **भिक्षु** को देखें, जो अच्छा भोजन कर, हाथ-पैर धोकर, शीतल छाँव में बैठकर, चित्त ऊँचा उठाने के प्रति संकल्पबद्ध हो।

तब गृहस्थ सोचता है—'कितना सुखद होता है श्रमण-जीवन! कितना पीड़ामुक्त होता है श्रमण-जीवन! अरे! काश मैं सिरदाढ़ी मुंडवा, काषायवस्त्र धारण कर, घर से बेघर होकर प्रवज्यित हो जाऊँ?'

तब वह स्वर्ण-ईटों से भरा विशाल **ख़जाना** त्याग पाता है, विभिन्न अनाजों से भरा विशाल **भंडार** त्याग पाता है, अनेक विस्तृत विशालकाय **खेत-खलिहान** त्याग पाता है, अनेक विस्तृत विशालकाय **ज़मीन-ज़ायदाद** त्याग पाता है, विशाल संख्या में **पत्नियाँ** त्याग पाता है, और विशाल

संख्या में **गुलाम** स्त्री-पुरुष त्याग पाता है। और तब वह सिरदाढ़ी मुंडवा, काषायवस्त्र धारण कर, घर से बेघर होकर प्रवज्यित होता है।

अब कोई कहे कि 'वह ख़जाना... भंडार... खेत-खलिहान... जमीन-ज़ायदाद... पत्नियाँ... गुलाम उसके लिए बड़ा फंदा है, तगड़ा फंदा है, भारी फंदा है, शक्तिशाली फंदा है!' क्या ऐसा कहना सच होगा?

'नहीं, भन्ते! वह ख़जाना... भंडार... खेत-खलिहान... जमीन-ज़ायदाद... पत्नियाँ... गुलाम उसके लिए दुर्बल फंदा है, कमज़ोर फंदा है, सड़ता फंदा है, निस्सार फंदा है!"

उसी तरह मैं जब कुछ कुलपुत्रों को कहता हूँ कि 'इसे त्याग दो!' तो वे कहते है, 'क्या? भगवान हमें इतनी छोटी तुच्छ बात त्यागने कहते है? सुगत हमें इतनी छोटी तुच्छ बात त्यागने कहते है?' और वे उसे तुरंत त्याग देते हैं। वे मेरे प्रति या सीखते आर्यश्रावकों के प्रति अशिष्टता नहीं दिखाते। वे त्याग कर निश्चिन्त रहते हैं, अनुतेज्जित रहते हैं, अपनी आवश्यकताओं को लेकर संतुष्ट रहते हैं, जंगली हिरण की तरह मुक्त चित्त से रहते हैं। उनके लिए वह 'छोटी तुच्छ बात' दुर्बल फंदा होती है, कमज़ोर फंदा होती है, सड़ता फंदा होती है, निस्सार फंदा होती है।

«मा.नि.१३ + मा.नि.६६»

* * *

जिस धर्म-विनय में **'आर्य अष्टांगिक मार्ग'** न पता चले, उसमें प्रथम-श्रेणी के श्रमण, द्वितीय-श्रेणी के श्रमण, तृतीय-श्रेणी के श्रमण, या चतुर्थ-श्रेणी के श्रमण# भी नहीं पाये जाते। परंतु जिस धर्म-विनय में 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' पता चले, उसी में चारों-श्रेणीयों के श्रमण पाये जाते हैं।

'आर्य अष्टांगिक मार्ग' **इसी धर्म-विनय में** पता चलता है, और इसी में चारों-श्रेणीयों के श्रमण पाये जाते हैं। अन्य धर्मसिद्धांत ज्ञानसंपन्न-श्रमणों से ख़ाली है।

और यदि भिक्षु ठीक से रहें, तो यह दुनिया **अरहंतों** से ख़ाली न रहे।

«दी.नि.१६»

★★★

चार श्रेणी के श्रमण = श्रोतापन्न, सकदागामी, अनागामी और अरहंत होते हैं।

२

कम्म

~ कर्म का 'आर्य' वर्णन ~

विपाक —

सभी सत्व अपने कर्मों के कर्ता «कम्मस्सको» हैं। अपने कर्मों के वारिस «कम्मदायादो» हैं। अपने कर्मों से योनि «कम्मयोनि» पाते हैं। अपने कर्मों द्वारा संबंधी «कम्मबन्धु» हैं। अपने कर्मों पर निर्भर «कम्मप्पटिसरणो» हैं। वह जो भी कर्म करेंगे—कल्याणकारी या पापपूर्ण—उसी के वारिस बनेंगे।

(१) ऐसा होता है कि कोई स्त्री या पुरुष **हत्यारे** होते है—निर्दयी, रक्त से सने हाथ, हिंसक, क्रूर, जीवों के प्रति निष्ठुर। वे ऐसे कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत दयनीय लोक «अपाय», **दुर्गति**, नीचे यातनालोक «विनिपात», **नरक** «निरय» में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **अल्प-आयु** के होते हैं।

— यह [जीवहत्या] अल्पायु की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ «पटिपदा» है।

किंतु कोई स्त्री या पुरुष हिंसा त्यागकर **जीवहत्या से विरत** रहता है—डंडा व शस्त्र फेंक चुका, शर्मिला व दयावान, समस्त जीवहित के लिए करुणामयी। वे ऐसे कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत **सुगति** पाकर **स्वर्ग** «सग्ग» में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **दीर्घ-आयु** के होते हैं।

— यह [जीवहत्या से विरत रहना] दीर्घायु की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ है।

(२) कोई स्त्री या पुरुष 'हाथ पत्थर डंडा या चाकू' से प्राणी को **चोट** पहुँचाने का आदी होता है। वे ऐसे कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत दयनीय लोक, **दुर्गति**, नीचे यातनालोक, नरक में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **बड़े रोगी** होते हैं।

— यह [चोट पहुँचाना] बड़ा रोगी बनने की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ है।

किंतु कोई स्त्री या पुरुष 'हाथ पत्थर डंडा या चाकू' से प्राणी को **चोट** पहुँचाने का आदी नहीं होता। वे ऐसे [अहिंसात्मक] कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत **सुगति** पाकर स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **निरोगी** होते हैं।

— यह [चोट पहुँचाना] निरोग की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ है।

(३) कोई स्त्री या पुरुष **गुस्सैल, नाराज़ी भरे स्वभाव** के होते हैं—हल्की आलोचना पर भी कुपित, विरोधी व नाराज़ हो जाते है, और खीज, द्वेष व कड़वाहट प्रकट करते हैं। वे ऐसे कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत दयनीय लोक, **दुर्गति**, नीचे यातनालोक, नरक में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **कुरुप** होते हैं।

— यह [गुस्सा, नाराज़ी] कुरूपता की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ है।

किंतु कोई स्त्री या पुरुष गुस्सैल, नाराज़ी भरे स्वभाव के नहीं होते—भारी आलोचना होने पर भी कुपित, विरोधी व नाराज़ नहीं होते, या खीज, द्वेष व कड़वाहट प्रकट नहीं करते। वे ऐसे कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत **सुगति** पाकर स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **ख़ूबसूरत** होते हैं।

— यह [गुस्सा या नाराज़ न होना] सुन्दरता की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ है।

(४) कोई स्त्री या पुरुष **ईर्ष्यालु स्वभाव** के होते हैं—दुसरे को मिलता लाभ सत्कार, आदर सम्मान, वंदन पूजन से जलते हैं, कुढ़ते हैं, ईर्ष्या करते हैं। वे ऐसे कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत दयनीय लोक, **दुर्गति**, नीचे यातनालोक, नरक में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **प्रभावहीन** होते हैं।

— यह [ईर्ष्यालु स्वभाव] प्रभावहीनता की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ है।

किंतु कोई स्त्री या पुरुष **ईर्ष्यालु स्वभाव** के नहीं होते—दुसरे को मिलता लाभ सत्कार, आदर सम्मान, वंदन पूजन से जलते नहीं, कुढ़ते नहीं, ईर्ष्या नहीं करते। वे ऐसे कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत **सुगति** पाकर स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **प्रभावशाली** होते हैं।

— यह [ईर्ष्यालु न होना] प्रभावशाली बनने की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ है।

(५) कोई स्त्री या पुरुष **दान नहीं करते**—श्रमण या ब्राह्मणों को भोजन पान, वस्त्र वाहन, मालाएँ इत्रगंध लेप, बिस्तर निवास दीपक नहीं देते। वे ऐसे कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत दयनीय लोक, **दुर्गति**, नीचे यातनालोक, नरक में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **दरिद्र** होते हैं।

— यह [दान न करना] दरिद्रता की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ है।

किंतु कोई स्त्री या पुरुष **दान करते हैं**—श्रमण या ब्राह्मणों को भोजन पान, वस्त्र वाहन, मालाएँ इत्रगंध लेप, बिस्तर निवास दीपक देते हैं। वे ऐसे कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत **सुगति** पाकर स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **महासंपत्तिशाली** होते हैं।

— यह [दान देना] बड़ी संपत्ति की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ है।

(६) कोई स्त्री या पुरुष **अकड़ू व घमंडी** होते हैं—वंदनीय लोगों को वंदन नहीं करते; जिनकी उपस्थिति में खड़े हुआ जाए, उनकी उपस्थिति में खड़े नहीं होते; आसन देने योग्य को आसन नहीं देते; रास्ता छोड़ने योग्य के लिए रास्ता नहीं छोड़ते; सत्कारयोग्य, आदरणीय, सम्माननीय या पूजनीय लोगों का सत्कार आदर सम्मान या पूजा नहीं करते। वे ऐसे कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत दयनीय लोक, **दुर्गति**, नीचे यातनालोक, नरक में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **नीच कुल में जन्म** पाते हैं।

— यह [अकड व घमंड] नीच कुल में जन्म की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ है।

किंतु कोई स्त्री या पुरुष **अकड़ू व घमंडी नहीं** होते—वंदनीय लोगों को वंदन करते; जिनकी उपस्थिति में खड़े हुआ जाए, उनकी उपस्थिति में खड़े होते; आसन देने योग्य को आसन देते; रास्ता छोड़ने योग्य के लिए रास्ता छोड़ते; सत्कारयोग्य, आदरणीय, सम्माननीय या पूजनीय लोगों का सत्कार आदर सम्मान या पूजा करते हैं। वे ऐसे कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत **सुगति** पाकर स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **ऊँचे कुल में जन्म** पाते हैं।

— यह [अकड़ व घमंड न होना] ऊँचे कुल में जन्म की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ है।

(७) कोई स्त्री या पुरुष जाकर **श्रमण या ब्राह्मण को नहीं पूछते**—'भन्ते! क्या कुशल होता है? क्या अकुशल होता है? क्या दोषपूर्ण होता है? क्या निर्दोषता होती है? क्या [स्वभाव] विकसित करना चाहिए? क्या विकसित नहीं करना चाहिए? किस तरह के कर्म मुझे दीर्घकालीन हानि व दुःख की ओर ले जाएँगे? और किस तरह के कर्म मुझे दीर्घकालीन हित व सुख की ओर ले जाएँगे?" वे ऐसे कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत दयनीय लोक, **दुर्गति**, नीचे यातनालोक, नरक में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **दुर्बुद्धि** पाते हैं।

— यह [ज्ञानीजनों को न पूछना] दुर्बुद्धि की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ है।

किंतु कोई स्त्री या पुरुष जाकर **श्रमण या ब्राह्मण को पूछते हैं**—'भन्ते! क्या कुशल होता है? क्या अकुशल होता है? क्या दोषपूर्ण होता है? क्या निर्दोषता होती है? क्या [स्वभाव] विकसित करना चाहिए? क्या विकसित नहीं करना चाहिए? किस तरह के कर्म मुझे दीर्घकालीन हानि व दुःख

की ओर ले जाएँगे? और किस तरह के कर्म मुझे दीर्घकालीन हित व सुख की ओर ले जाएँगे?" वे ऐसे कर्म कर, उपक्रम कर, काया छूटने पर मृत्युपरांत **सुगति** पाकर स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। यदि वे वहाँ न उत्पन्न होकर मनुष्यता में लौटे, तब जहाँ कही पुनर्जन्म हो, **सदबुद्धि** पाते हैं।

— यह [ज्ञानीजनों को पूछना] सदबुद्धि की ओर ले जानेवाला प्रगतिपथ है।

«मा.नि.१३५»

* * *

स्वभाव के पूर्व **मन** आता है।

मन मालिक है। मन निर्माणकर्ता है।

दुष्ट मन से बोलने या करने पर **दुःख** ऐसे पीछे पड़ता है

— जैसे बैलगाड़ी के चक्के, खिंचते बैल के पीछे पड़े।

प्रसन्न मन से बोलने या करने पर **सुख** ऐसे साथ चलता है

— जैसे साया, जो साथ न छोड़े।

«धम्मपद १+२»

* * *

• भिक्षुओं, **जीवहत्या** में लिप्त होना, [स्वभाव] विकसित करना, बार-बार करना—नरक ले जाता है, पशुयोनी दिलाता है, या भूखा प्रेत बनाता है। जीवहत्या के तमाम [घोर] परिणामों में सबसे हल्का परिणाम, जब मनुष्य-अवस्था में मिले, तब अल्प आयु मिलती है।

• **चोरी** में लिप्त होना, [स्वभाव] विकसित करना, बार-बार करना—नरक ले जाता है, पशुयोनी दिलाता है, या भूखा प्रेत बनाता है। चोरी के तमाम [घोर] परिणामों में सबसे हल्का परिणाम, जब मनुष्य-अवस्था में मिले, तब धन-संपत्ति की हानि होती है।

• **व्यभिचार** में लिप्त होना, [स्वभाव] विकसित करना, बार-बार करना—नरक ले जाता है, पशुयोनी दिलाता है, या भूखा प्रेत बनाता है। व्यभिचार के तमाम [घोर] परिणामों में सबसे हल्का परिणाम, जब मनुष्य-अवस्था में मिले, तब प्रतिद्वंदिता व बदलाखोरी मिलती है।

• **झूठ बोलने** में लिप्त होना, [स्वभाव] विकसित करना, बार-बार करना—नरक ले जाता है, पशुयोनी दिलाता है, या भूखा प्रेत बनाता है। झूठ बोलने के तमाम [घोर] परिणामों में सबसे हल्का परिणाम, जब मनुष्य-अवस्था में मिले, तब मिथ्यारोपण होता है।

• **फूट डालनेवाले वचन** में लिप्त होना, [स्वभाव] विकसित करना, बार-बार करना—नरक ले जाता है, पशुयोनी दिलाता है, या भूखा प्रेत बनाता है। फूट डालनेवाले वचन के तमाम [घोर] परिणामों में सबसे हल्का परिणाम, जब मनुष्य-अवस्था में मिले, तब मित्रता टूटती है।

• **कटु वचन** में लिप्त होना, [स्वभाव] विकसित करना, बार-बार करना—नरक ले जाता है, पशुयोनी दिलाता है, या भूखा प्रेत बनाता है। कटु वचन के तमाम [घोर] परिणामों में सबसे हल्का परिणाम, जब मनुष्य-अवस्था में मिले, तब नापसंद आवाज़े सुनने मिलती है।

• **व्यर्थ वचन** में लिप्त होना, [स्वभाव] विकसित करना, बार-बार करना—नरक ले जाता है, पशुयोनी दिलाता है, या भूखा प्रेत बनाता है। व्यर्थ वचन के तमाम [घोर] परिणामों में सबसे हल्का परिणाम, जब मनुष्य-अवस्था में मिले, तब हृदय में न जानेवाली बातें सुनने मिलती है।

• **कच्ची-पक्की शराब** पीने में लिप्त होना, [स्वभाव] विकसित करना, बार-बार करना—नरक ले जाता है, पशुयोनी दिलाता है, या भूखा प्रेत बनाता है। शराब पीने के तमाम [घोर] परिणामों में सबसे हल्का परिणाम भी, जब मनुष्य-अवस्था में मिले, तब मन विक्षिप्त [=पागल या मतिमंद] होता है।

«अं.नि.८:४०»

* * *

पच्छभूमिक

भगवान, पश्चिमवर्ती इलाके में ब्राह्मण रहते हैं—कमंडलधारी, शैवालमाला पहननेवाले, जलशुद्धि करनेवाले, अग्निपूजा करनेवाले। वे मृत व्यक्ति को उठाकर, निर्देश देकर स्वर्ग तक भेज देते हैं। तब 'भगवान अरहंत सम्यक-सम्बुद्ध' तो ऐसी व्यवस्था निश्चित ही कर सकते होंगे कि—'संपूर्ण दुनिया' काया छूटने पर मृत्युपरांत सुगति पाकर स्वर्ग में उत्पन्न हो जाए?

अच्छा गृहस्थ, तब मैं तुमसे प्रश्न पूछता हूँ; जैसे ठीक लगे वैसे उत्तर दो। तुम्हें क्या लगता है? ऐसा कोई व्यक्ति हो—जो जीवहत्या, चोरी व व्यभिचार करें; झूठ, फूट डालनेवाली, कटु व व्यर्थ बातें करें; लालची, दुर्भावनापूर्ण विचार व मिथ्यादृष्टि धारण करें [=दस अकुशल]। तब लोगों की बड़ी भीड़ इकठ्ठा हो, प्रार्थना व प्रशंसा कर, अंजलिबद्ध हो उसकी परिक्रमा करें [कहते हुए] 'यह व्यक्ति काया छूटने पर मृत्युपरांत सुगति पाकर स्वर्ग में उत्पन्न हो जाए!' तुम्हें क्या लगता है? क्या लोगों की बड़ी भीड़ के प्रार्थना व प्रशंसा कर अंजलिबद्ध हो परिक्रमा करने से, वह पापी स्वर्ग में उत्पन्न हो जाएगा?

'नहीं, भन्ते!"

कल्पना करो कि कोई पुरुष एक बड़ी चट्टान को गहरे तालाब में डाल दे। तब लोगों की बड़ी भीड़ इकठ्ठा हो, प्रार्थना व प्रशंसा कर, अंजलिबद्ध हो उसकी परिक्रमा करें [कहते हुए] 'हे चट्टान, उठो! हे चट्टान, तरंगते हुए ऊपर आओ! हे चट्टान, तैरते हुए किनारे लगो!' तुम्हें क्या लगता है? क्या लोगों की बड़ी भीड़ के प्रार्थना व प्रशंसा कर अंजलिबद्ध हो परिक्रमा करने से, वह बड़ी चट्टान उठेगी, तरंगते हुए ऊपर आएगी, या तैरते हुए किनारे लगेगी?

'नहीं, भन्ते!"

उसी तरह ऐसा कोई व्यक्ति हो—जो जीवहत्या, चोरी... [दस अकुशल] करें। तब भले ही लोगों की बड़ी भीड़ इकठ्ठा हो, प्रार्थना व प्रशंसा कर, अंजलिबद्ध हो उसकी परिक्रमा करें [कहते हुए] 'यह व्यक्ति मृत्युपरांत सुगति पाकर स्वर्ग में उत्पन्न हो जाए!' तब भी वह पापी काया छूटने पर मृत्युपरांत दयनीय लोक, दुर्गति, नीचे यातनालोक, नरक में ही उत्पन्न होगा!

किंतु, ऐसा कोई व्यक्ति हो—जो जीवहत्या, चोरी व व्यभिचार से विरत रहे; झूठ, फूट डालनेवाली, कटु व व्यर्थ बातों से विरत रहे; न लालची, न दुर्भावनापूर्ण विचार, बल्कि सम्यकदृष्टि धारण करें [=दस कुशल]। तब लोगों की बड़ी भीड़ इकठ्ठा हो, प्रार्थना करते व कोसते हुए, उसकी परिक्रमा करें [कहते हुए] 'यह व्यक्ति मृत्युपरांत दयनीय लोक, दुर्गति, नीचे यातनालोक, नरक में उत्पन्न हो जाए!' तुम्हें क्या लगता है? क्या लोगों के बड़ी भीड़ के प्रार्थना कर, कोसते हुए, परिक्रमा करने से वह पुण्यशाली नरक में उत्पन्न हो जाएगा?

'नहीं, भन्ते!"

कल्पना करो कि कोई पुरुष **घी-कुंभ या तेल-कुंभ** [=मिट्टी का कलश] को गहरे तालाब में डाल दे, जो भीतर जाकर टूट जाए। कुंभ के ठीकरें नीचे जाए, जबकि घी या तेल ऊपर उठे। तब लोगों की बड़ी भीड़ इकठ्ठा हो, प्रार्थना करते व कोसते हुए, उसकी परिक्रमा करें [कहते हुए] 'हे घी तेल, डुब जाओ! हे घी तेल, नीचे चले जाओ! हे घी तेल, भीतर तल पर लगो!' तुम्हें क्या लगता है? क्या बड़ी भीड़ के प्रार्थना कर कोसते हुए, परिक्रमा करने पर वह घी या तेल गहरे तालाब में डूब जाएगा, नीचे चले जाएगा, भीतर तल पर लगेगा?

'नहीं, भन्ते!"

उसी तरह ऐसा कोई व्यक्ति हो—जो जीवहत्या से विरत, चोरी से विरत... [दस कुशल] करें। तब भले ही लोगों की बड़ी भीड़ इकठ्ठा हो, प्रार्थना करते व कोसते हुए, उसकी परिक्रमा करें [कहते हुए] 'यह व्यक्ति मृत्युपरांत दुर्गति, नरक में उत्पन्न हो जाए!' तब भी वह पुण्यशाली काया छूटने पर मृत्युपरांत सुगति पाकर स्वर्ग में ही उत्पन्न होगा।

«सं.नि.४२:६»

* * *

भिक्षुओं, चार तरह के व्यक्ति होते हैं —

• ऐसा होता है कि कोई व्यक्ति जीवहत्या, चोरी व व्यभिचार करता है; झूठ, फूट डालनेवाली, कटु व व्यर्थ बातें करता है; लालची, दुर्भावनापूर्ण विचार व मिथ्यादृष्टि धारण [=दस अकुशल] करता है। वह काया छूटने पर मृत्युपरांत दयनीय लोक, **दुर्गति**, नीचे यातनालोक, नरक में उत्पन्न होता है।

• किंतु ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति जीवहत्या, चोरी... [=दस अकुशल] करता है, वह काया छूटने पर मृत्युपरांत **सुगति** पाकर स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

• ऐसा होता है कि कोई व्यक्ति जीवहत्या, चोरी व व्यभिचार से विरत रहता है; झूठ, फूट डालनेवाली, कटु व व्यर्थ बातों से विरत रहता है; न लालची, न दुर्भावनापूर्ण विचार, बल्कि सम्यकदृष्टि धारण [=दस कुशल] करता है। वह काया छूटने पर मृत्युपरांत **सुगति** पाकर स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

• किंतु ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति जीवहत्या से विरत, चोरी से विरत... [=दस कुशल] करता है, वह काया छूटने पर मृत्युपरांत दयनीय लोक, **दुर्गति**, नीचे यातनालोक, नरक में उत्पन्न होता है।

जो [दूसरा] व्यक्ति जीवहत्या, चोरी... [दस अकुशल] करता है, किंतु मृत्युपरांत सुगति पाकर स्वर्ग में उत्पन्न होता है—या तो उसने [दस अकुशल के] **पूर्व** 'कल्याणकारी' कृत्य किए होंगे, या **पश्चात** 'कल्याणकारी' कृत्य किए होंगे, या **मृत्यु के समय सम्यकदृष्टी** प्राप्त कर धारण कर ली होगी। उस कारण वह मृत्युपरांत सुगति पाकर स्वर्ग में उत्पन्न होता है। और जहाँ तक [दस अकुशल] के **कड़वे परिणाम** «विपाक» की बात है, वह—या तो उसे अभी यहीं [तुरंत] मिलेगा, या [इसी जन्म में] पश्चात उपजेगा, या तत्पश्चात [अगले जन्म] मिलेगा।

और जो [चतुर्थ] व्यक्ति जीवहत्या से विरत, चोरी से विरत... [दस कुशल] करता है, किंतु मृत्युपरांत दुर्गति, नरक में उत्पन्न होता है—या तो उसने [दस कुशल के] **पूर्व** 'पापपूर्ण' कृत्य किए होंगे, या **पश्चात** 'पापपूर्ण' कृत्य किए होंगे, या **मृत्यु के समय मिथ्यादृष्टी** में पड़कर, धारण कर ली होगी। उस कारण वह मृत्युपरांत दुर्गति, नरक में उत्पन्न होता है। और जहाँ तक [दस कुशल] के **मीठे फ़ल** की बात है, वह—या तो उसे अभी यहीं [तुरंत] मिलेगा, या [इसी जन्म में] पश्चात उपजेगा, या तत्पश्चात [अगले जन्म] मिलेगा।

«मा.नि.१३६»

* * *

निब्बेधिक —

कर्म पता करना चाहिए। कर्म का सिलसिला क्यों चल पड़ता है, पता करना चाहिए। कर्मों की विविधता पता करनी चाहिए। कर्मों का परिणाम पता करना चाहिए। कर्म का निरोध पता करना चाहिए। कर्म निरोध कराने वाला प्रगतिपथ पता करना चाहिए।

• कर्म क्या है? मैं कहता हूँ भिक्षुओं, **इरादा** «चेतना» ही कर्म है। इरादतन ही कोई काया वचन व मन से कर्म करता है।

• कर्म का सिलसिला क्यों चल पड़ता है? [इंद्रिय] **संपर्क** से कर्म का सिलसिला चल पड़ता है।

• कर्मों की विविधता क्या है? कुछ कर्म **नरक** में महसूस किए जानेवाले होते है। तो कुछ कर्म **पशुयोनि** में... तो कुछ कर्म **प्रेतलोक** में... तो कुछ कर्म **मनुष्यलोक** में... तो कुछ कर्म **देवलोक** में महसूस किए जानेवाले होते है।

• कर्मों का परिणाम «विपाक» क्या है? मैं कहता हूँ, कर्मों के परिणाम **तीन प्रकार** के है—जो अभी यहीं [तुरंत] दिख पड़े, या जो [इसी जन्म में] पश्चात उपजे, या तत्पश्चात [अगले जन्म] उत्पन्न हो।

• और कर्म का निरोध क्या है? [इंद्रिय] **संपर्क निरोध** होने से कर्म का निरोध होता है।

• और कर्म निरोध कराने वाला प्रगतिपथ क्या है? बस यही **आर्य अष्टांगिक मार्ग** ही कर्म निरोध करानेवाला प्रगतिपथ है।

जब कोई भिक्षु इस तरह जैसे कर्म हो, वैसे सही पता करता है, कर्म का सिलसिला क्यों चल पड़ता है, सही पता करता है, कर्मों की विविधता सही पता करता है, कर्मों का परिणाम सही पता करता है, कर्म निरोध सही पता करता है, और कर्म निरोध करानेवाला प्रगतिपथ सही पता करता है—तब उसे पता चलता है कि कर्म निरोध करना ही ब्रह्मचर्य का असली मक़सद# है।

«अं.नि.६:६३»

* * *

यदि कोई कहे कि 'कोई जैसा कर्म करें, ठीक वैसा ही भुगतता है'—तब ब्रह्मचर्य संभव नही, और दुःखों का सम्यक निरोध होने का कोई अवसर नही। परंतु यदि कोई कहे कि 'कोई इस-इस तरह महसूस होने वाले कर्म करें, तो वैसा-वैसा परिणाम महसूस करता है'—तब ब्रह्मचर्य संभव है, और दुःखों का सम्यक निरोध होने का अवसर है।

ऐसा होता है कि कभी किसी व्यक्ति का किया छोटा-सा पापकर्म उसे नरक ले जाता है।

आजकल बौद्धदर्शन में ऐसा प्रचलित हो चूका है कि जो भी दुःख-दर्द महसूस होता है, वह सभी पुराने कर्म-संस्कार के कारण होता है। और यदि शुद्ध उपेक्खा विकसित की जाएं, तो नये कर्म-संस्कार नहीं बनेंगे, बल्कि पुराने उखड़ते चले जाएँगे। हालाँकि यह सिद्धांत बौद्ध नहीं, जैन है, जिसका खंडन भगवान ने मा.नि.१०१ देवदह सुत्त में किया। उस सुत्त में बुद्ध ने कर्म-सिद्धांत पर खुलासा करते हुए कहा कि कोई भी नया संस्कार बनाते हुए पुराने नहीं उखड़तें। बल्कि जो दुःख-दर्द महसूस होता है, उसके लिए पूर्व-कर्म के साथ-साथ **वर्तमान-कर्म** मिल-जुलकर ज़िम्मेदार होते हैं।

उदा. जैसे घंटों ज़बरदस्ती बैठकर पीड़ा-भरी साधना किया जाए, तो पीड़ा महसूस होगी। स्पष्टतः उस पीड़ा का कारण पूर्व कर्म-संस्कारों के बजाय, (ज़बरदस्ती बैठने का) वर्तमान-कर्म अधिक ज़िम्मेदार है। क्योंकि जब साधना रोक कर उठा जाए, तो पीड़ा भी रुकती है। भगवान ने इस साधना को **स्व-पीड़ा** की अति बताते हुए सेवन न करने कहा। दूसरी अति कामुकता है, और इन दोनों अतियों को पुर्णतः टालना है। उपेक्खा [या तटस्थता] भी एक कर्म-संस्कार ही होता है, जो कुछ परिस्थियों में कुशल, जबकि कुछ में अकुशल होता है। केवल सम्यक-समाधि की झान-साधना करने पर ही ऐसी चित्त-स्थिति उत्पन्न होती है, कि सूक्ष्म चेतनाओं और तृष्णाओं का भी पता चले। तब उन्हें भी त्यागा जा सके। इसलिए सम्यक-समाधि से ही अंततः कर्म-निरोध मुमकिन हो पाता है।

ऐसा भी होता है कि उसी तरह का छोटा-सा पापकर्म किसी अन्य को अभी यहीं, मुश्किल से क्षणभर महसूस होकर गुज़र जाता है। किस व्यक्ति का छोटा-सा पापकर्म उसे नरक ले जाता है?

— ऐसा होता है कि कोई व्यक्ति **काया में अविकसित**# होता है, **शील में अविकसित**## होता है, **अन्तर्ज्ञान में अविकसित** होता है—संकुचित, छोटे मनवाला व्यक्ति, जो पीड़ित रहता हो। ऐसे व्यक्ति द्वारा किया छोटा-सा पापकर्म भी उसे नरक ले जाता है।

और किस व्यक्ति का किया छोटा-सा पापकर्म अभी यहीं, मुश्किल से क्षणभर महसूस होकर गुज़र जाता है?

— ऐसा होता है कि कोई व्यक्ति **काया में विकसित*** होता है, **शील में विकसित**** होता है, **अन्तर्ज्ञान में भावित** होता है—असंकुचित मनवाला व्यक्ति, जो विस्तृत विशालकाय अपरिमित मानस से रहता हो। ऐसे व्यक्ति द्वारा किया छोटा-सा पापकर्म अभी यहीं, मुश्किल से क्षणभर महसूस होकर गुज़र जाता है।

कल्पना करो कि कोई पुरुष एक नमक का ढेला 'जल भरे प्याले' में डाल दे। तुम्हें क्या लगता है? क्या उस वजह से प्याले का जल अत्यंत नमकीन होकर पीने के अयोग्य बनेगा?

'हाँ, भन्ते।"

अब कल्पना करो कि कोई पुरुष एक नमक का ढेला 'गंगा नदी' में डाल दे। तुम्हें क्या लगता है? क्या उस वजह से गंगा का जल अत्यंत नमकीन होकर पीने के अयोग्य बनेगा?

'नही, भन्ते।"

उसी तरह ऐसा होता है कि कभी एक व्यक्ति का किया छोटा-सा पापकर्म उसे नरक ले जाता है। जबकि दूसरे का किया छोटा-सा पापकर्म अभी यहीं, मुश्किल से क्षणभर महसूस होकर गुज़र जाता है।

«अं.नि.३:९९»

* * *

भिक्षुओं, पुण्य करने की जितनी भूमियाँ हैं, वह '**मैत्री-चेतोविमुक्ति**' का सोलहवाँ हिस्सा भी नहीं। 'मैत्री' सभी पुण्यों पर हावी हो अधिक चमकती है, उजाला करती है, चकाचौंध करती है।

जैसे सभी टिमटिमाते तारों की चमक 'चंद्रमा' की चमक का सोलहवाँ हिस्सा भी नहीं। 'चंद्रमा' तमाम तारों पर हावी हो अधिक चमकता है, उजाला करता है, चकाचौंध करता है। उसी तरह, पुण्य

अर्थात, **सुख** जिसके चित्त को वशीभूत करके रहती हो «मा.नि.३६»

अर्थात, **दर्द** जिसके चित्त को वशीभूत करके रहती हो «मा.नि.३६»

* अर्थात, **सुख** जिसके चित्त को वशीभूत कर के **न** रह सके «मा.नि.३६»

** अर्थात, **दर्द** जिसके चित्त को वशीभूत कर के **न** रह सके «मा.नि.३६»

करने की जितनी भी भूमियाँ हैं, सभी 'मैत्री-चेतोविमुक्ति' का सोलहवाँ हिस्सा भी नहीं है। 'मैत्री' सभी पुण्यों पर हावी हो अधिक चमकती है, उजाला करती है, चकाचौंध करती है।

«इतिवुत्तक २७»

* * *

पुराना कर्म क्या है?

आँख को पुराने कर्म के तौर पर देखना चाहिए—रचित, इरादतन, महसूस करनेयोग्य। कान को... नाक को... जीभ को... काया को... मन को पुराने कर्म के तौर पर देखना चाहिए—रचित, इरादतन, महसूस करनेयोग्य। यही पुराने कर्म कहलाते हैं।

नया कर्म क्या है?

कोई जो कर्म 'काया वचन व मन' से करता है, वह उसके नए कर्म होते है। यही नए कर्म कहलाते हैं।

कर्म निरोध क्या होता है?

कायिक कर्म, वाचिक कर्म व मनोकर्म का निरोध करने से जो 'विमुक्ति' स्पर्श होती है, वह कर्म निरोध होता है। यही कर्म निरोध कहलाते हैं।

कर्म निरोध कराने वाला प्रगतिपथ क्या है?

बस यही—'आर्य अष्टांगिक मार्ग' ही कर्म निरोध करानेवाला प्रगतिपथ है।

«सं.नि.३५:१४५»

* * *

चार तरह के कर्म भिक्षुओं, मेरे द्वारा समझे, बोध किए, और घोषित किए गए है। कौन से चार?

एक काला कर्म होता है, काले फ़ल वाला। एक सफ़ेद कर्म होता है, सफ़ेद फ़ल वाला। एक काला-सफेद कर्म होता है, काले-सफ़ेद फ़ल वाला। एक न काला न सफ़ेद कर्म होता है, न काले न सफ़ेद फ़ल वाला—जो कर्मों का अंत करता है।

• **काला कर्म** क्या होता है, जिसका **फ़ल काला** होता है?

ऐसा होता है कि कोई व्यक्ति **हानिकारक कायिक-रचना** रचता है... **हानिकारक वाचिक-रचना** रचता है... **हानिकारक मानसिक-रचना** रचता है... जैसे कोई व्यक्ति प्राणिहत्या, चोरी, व्यभिचार, झूठ, लापरवाही जगानेवाला नशा-पता करता है। तब वह **हानिकारक लोक** में उत्पन्न होता है। वहाँ हानिकारक संस्पर्शों से स्पर्शित किया जाता है... और [आगे] **मात्र दर्द पीड़ा** महसूस करता है। जैसे नरक के सत्व।

— यह काला कर्म होता है, जिसका फ़ल काला होता है।

• **सफ़ेद कर्म** क्या होता है, जिसका **फ़ल सफ़ेद** होता है?

ऐसा होता है कि कोई व्यक्ति **हानिरहित** कायिक-रचना रचता है... हानिरहित वाचिक-रचना रचता है... हानिरहित मानसिक-रचना रचता है... जैसे कोई व्यक्ति न प्राणिहत्या, न चोरी, न व्यभिचार, न झूठ, न लापरवाही जगानेवाला नशा-पता करता है। तब वह **हानिरहित लोक** में उत्पन्न होता है। वहाँ हानिरहित संस्पर्शों से स्पर्शित किया जाता है... और [आगे] **मात्र सुख** महसूस करता है। जैसे आभास्वर देव।

— यह सफ़ेद कर्म होता है, जिसका फ़ल सफ़ेद होता है।

• **काला व सफ़ेद कर्म** क्या होता है, जिसके **फ़ल काले व सफ़ेद** होते है?

ऐसा होता है कि कोई व्यक्ति **हानिकारक व हानिरहित [दोनों]** कायिक-रचनाएँ रचता है... हानिकारक व हानिरहित वाचिक-रचनाएँ रचता है... हानिकारक व हानिरहित मानसिक-रचनाएँ रचता है। तब वह हानिकारक व हानिरहित लोक में उत्पन्न होता है। वहाँ हानिकारक व हानिरहित [दोनों] संस्पर्शों से स्पर्शित किया जाता है... और हानिकारक व हानिरहित [दोनों] संवेदनाओं को महसूस करता है—**दर्द में घुला-मिला सुख**। जैसे मनुष्य, कुछ देवता, और कुछ निचले लोक के सत्व।

— यह काला व सफ़ेद कर्म होता है, जिसके फ़ल काले व सफ़ेद होते है।

• और **न काला न सफ़ेद कर्म** क्या होता है, जिसका **फ़ल न काला न सफ़ेद** होता है, जो **कर्मों का अंत** करता हो?

काले फ़ल वाले काले कर्म को वही **त्यागने की चेतना**, सफ़ेद फ़ल वाले सफ़ेद कर्म को वही त्यागने की चेतना, काले व सफ़ेद फ़लों वाले काले व सफेद कर्म को वही त्यागने की चेतना!

— उसे कहते है न काला न सफ़ेद कर्म, जिसका फ़ल न काला न सफ़ेद होता है, जो कर्मों का अंत करता है। अर्थात सम्यकदृष्टि, सम्यकसंकल्प, सम्यकवचन, सम्यककार्य, सम्यकजीविका, सम्यकमेहनत, सम्यकस्मृति व सम्यकसमाधि[#]। या स्मृति संबोधिअंग, स्वभाव-जाँच संबोधिअंग, ऊर्जा संबोधिअंग, प्रफुल्लता संबोधिअंग, प्रशान्ति संबोधिअंग, समाधि संबोधिअंग व तटस्थता संबोधिअंग[##]।

«अं.नि.४:२३२ + ४:२३४ + ४:२३७ + ४:२३८»

★ ★ ★

[#] अध्याय ७ के अंतर्गत आर्य अष्टांगिक मार्ग देखें

[##] अध्याय ९ के अंतर्गत संबोधि-अंग देखें

इध तथागतो लोके उपन्नो अरहं सम्मासम्बुद्धो!

यहाँ विश्व में तथागत अरहंत सम्यक-सम्बुद्ध उत्पन्न हुए है!

धम्मो च देसितो निय्यानिको उपसमिको परिनिब्बानिको सम्बोधगामी सुगतप्पवेदितो!

और वह धर्म-देशना दे चुके—जो तारता है, परमशान्ति प्रदान करता है, निर्वाण के परे ले जाता है, संबोधि दिलाता है, जिसे सुगत ने घोषित किया है।

मयनतं धम्मं सुत्वा एवं जानाम—
जातिपि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं,
सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सउपायासापि दुक्खा,
अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो,
यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं,
सङखित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खा!

वह सुना हुआ धर्म हम इस तरह जानते है—कि जन्म कष्टपूर्ण है, बुढ़ापा कष्टपूर्ण है, मौत कष्टपूर्ण है; शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा कष्टपूर्ण है; अप्रिय से जुड़ाव कष्टपूर्ण है, प्रिय से अलगाव कष्टपूर्ण है, इच्छापूर्ति न होना कष्टपूर्ण है; संक्षिप्त में, पाँच आधार-संग्रह कष्टपूर्ण है।

ते मयं ओतिण्णाम्ह जातिया जरामरणेन, सोकेहि परिदेवेहि दुक्खेहि दोमनस्सेहि उपायासेहि, दुक्खो'तिण्णा दुक्खपरेता, "अप्पेव नामिमस्स केवलस्स दुक्खक्खंदस्स अन्तकिरिया पञ्आयेथाति!"

हम सभी घिरे है—जन्म बुढ़ापा व मौत से, शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा से! दुःख से घिरे, दुःख से वशीभूत हुए हम आख़िरकार चाहते है कि "इस दुःख-संग्रह का अंत पता चले!"

चिरपरिनिब्बुतम्पि तं भगवन्तं उद्दिस्स अरहन्तं सम्मासंबुद्धं, सद्धा अगारस्मा अनगारीयं पब्बजिता, तस्मिं भगवति ब्रह्मचरियं चराम! भिक्खुनं सिक्खासाजीवसमापन्ना! तं नो ब्रह्मचरियं, इमस्स केवलस्स दुक्खक्खंधस्स अन्तकिरियाय संवत्ततु।

हम चिरकालपूर्व परिनिवृत उन भगवान अरहंत सम्यक-संबुद्ध को उद्देश्य कर श्रद्धापूर्वक घर से बेघर हो प्रवज्यित हुए है, और उन भगवान का ब्रह्मचर्य धारण करते है—भिक्षुओं के शिक्षापद व जीविका से समृद्ध होकर! इस ब्रह्मचर्य से हमारे दुःख-संग्रह का अंत हो जाए।

चिरपरिनिब्बुतम्पि तं भगवन्तं सरणं गता, धम्मञ्च भिक्खुसङघञ्च! तस्स भगवतो सासनं यथासति यथाबलं मनसिकोरोम, अनुपटिपज्जाम। सा सा नो पटिपत्ति, इमस्स केवलस्स दुक्खक्खंधस्स अन्तकिरियाय संवत्ततु!

हम उन चिरकालपूर्व परिनिवृत भगवान की शरण गए है, साथ ही धर्म एवं भिक्षुसंघ के! उन भगवान के निर्देश का हम यथास्मरण यथाशक्ति मनन करते है, और अभ्यासमार्ग पर चलते है। उस धर्माभ्यास से हमारे दुःख-संग्रह का अंत हो जाए!

३

सेक्ख पटिपदा

~ सीखते श्रावक का शुरुवाती प्रगतिपथ ~

यहाँ कभी इस दुनिया में **तथागत** प्रकट होते है—अरहंत, सम्यक-सम्बुद्ध, विद्या व आचरण में संपन्न, सुयशस्वी, दुनिया के जानकार, दमनयोग्य पुरुष के सर्वोपरि सारथी, देव व मनुष्य के गुरु, बोधिप्राप्त पवित्र भगवाँ। जो प्रत्यक्ष-ज्ञान का साक्षात्कार कर, उसे देव मार ब्रह्म, श्रमण ब्राह्मण पीढियाँ, देव व मनुष्य से भरी इस दुनिया में घोषित करते है। जो ऐसा धर्म बताते है, जिसकी शुरुवात कल्याणकारी, मध्य कल्याणकारी, अंत कल्याणकारी हो; और अर्थ व विवरण के साथ सर्वपरिपूर्ण, परिशुद्ध '**ब्रह्मचर्य**' प्रकाशित करते है।

ऐसा धर्म सुनकर किसी गृहस्थ, या कुलपुत्र [या पुत्री] को तथागत पर श्रद्धा जाग पड़ती है। वह सोचता है «सम्बाधो घरावासो रजोपथो, अब्भोकासो पब्बज्जा» 'बंधनकारी है घरेलू जीवन, जैसे धूलभरा रास्ता! किंतु प्रवज्या, मानो खुला आकाश हो! घर रहते हुए ऐसा सर्वपरिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करना आसान नही, जो चमचमाते शँख जैसा हो! क्यों न मैं सिरदाढ़ी मुंडवा, काषायवस्त्र धारण कर, घर से बेघर होकर प्रवज्यित हो जाऊँ?'

तब वह समय पाकर, छोटी बड़ी धनसंपत्ति त्यागकर, छोटा बड़ा घरपरिवार त्यागकर, सिरदाढ़ी मुंडवा, काषायवस्त्र धारण कर, घर से बेघर हो प्रवज्यित होता है।

«सील»

प्रवज्यित होकर ऐसा भिक्षु **शीलवान** बनता है। वह पातिमोक्षनुसार# संयम से विनीत होकर, आर्यआचरण व जीवनशैली से समृद्ध होकर रहता है।

पातिमोक्ख भिक्खुओं के २२७ और भिक्खुनीओं के ३११ नियम होते हैं—वही शील और सम्यकजीविका हैं।

वह [धर्म-विनय] शिक्षापदों को सीखकर धारण करता है। अल्प पाप में भी ख़तरा देखता है।

वह **कल्याणमित्र** साथी या सब्रह्मचारी के साथ जुड़ता है, जिससे उसे ऐसी बातें बिना कठिनाई के आसानी से सुनने मिले, जो सचमुच सादगीभरी हो, जो हृदय खोल दे—जैसे अल्प इच्छा की बातें, संतुष्टि की बातें, निर्लिप्त एकांतवास «पविवेक» की बातें, लोगों से न जुड़ने «असंसग्ग» की बातें, ऊर्जा जगाने की बातें, शील की बातें, समाधि की बातें, अन्तर्ज्ञान «पञ्ञा» की बातें, विमुक्ति की बातें, विमुक्ति ज्ञानदर्शन की बातें।

जिसकी शुरुवात कल्याणकारी, मध्य कल्याणकारी, अंत कल्याणकारी हो—ऐसा सर्वपरिपूर्ण, परिशुद्ध '**ब्रह्मचर्य धर्म**' अर्थ व विवरण के साथ वह **बार-बार सुनता** है, याद रखता है, चर्चा करता है, संचित करता है, मन से जाँच-पड़ताल करता है, एवं गहराई से समझकर **सम्यकदृष्टि धारण** करता है।

तब वह कायिक और वाचिक कुशल-कर्मों से युक्त हुए, जीविका परिशुद्ध रख, शीलसमृद्ध हो, इंद्रियद्वारों पर कड़ा पहरा देते हुए, स्मरणशील व सचेत होकर संतुष्ट जीवन जीता है।

अंतर्ज्ञानी भिक्षु के लिए मुलभुत शिक्षा है कि
— वह प्रथम इंद्रियों की रक्षा करें।
संतुष्ट रहे। पातिमोक्खनुसार संयम करें।
कल्याणमित्र से जुड़े। अथकता से शुद्धजीवन जीये।
स्वागत-सत्कारशील का व्रत ले। सदाचरण में कुशल बने।
वह अंततः कई गुना ख़ुशी पाकर दुःख का अन्त करेंगा।

«धम्मपद ३७५, ३७६»

«कायकुसल»

• वह हिंसा त्यागकर **जीवहत्या से विरत** रहता है—डंडा व शस्त्र फेंक चुका, शर्मिला व दयावान, समस्त जीवहित के लिए करुणामयी।

• वह 'न सौपी चीज़ें' त्यागकर **चोरी से विरत** रहता है—मात्र 'सौपी चीज़ें' ही उठाता व स्वीकारता, पावन जीवन जीता, चोरी-चुपके नही।

• वह ब्रह्मचर्य धारणकर **अब्रह्मचर्य से विरत** रहता है—'देहाती' मैथुनधर्म से विरत!

• [गृहस्थों का **कामेसु मिच्छाचार**—कामुक मिथ्याचार छोड़कर वह उनसे संबंध नही बनाता, जो माता पिता, भाई बहन, रक्तसंबंधी रिश्तेदार, पड़ोसी, पालनकर्ता, आरक्षक-देवता या धर्म-विनय से संरक्षित हो; अथवा जिसका पति या जिसकी पत्नी हो, या जिसे अन्य पुरुष ने फूल से नवाज़ा# हो।«अं.नि.१०:१७६»]

अर्थात, जिस स्त्री का किसी से प्रेमसंबंध हो, अथवा सगाई हुई हो। कामुक-मिथ्याचार से विरती को मोटामोटी संक्षिप्त में कहे, तो विवाह-पूर्व या विवाह-बाहरी संबंध से विरत रहना।

«वाचाकुसल»

• वह झूठ बोलना त्यागकर «मुसावादा» **असत्यवचन से विरत** रहता है। बल्कि वह सत्यवादी, सत्य का पक्षधर, दृढ़ व भरोसेमंद बनता है; दुनिया को ठगता नही।

[गृहस्थों का 'मुसावाद'—जब उसे नगरबैठक गुटबैठक रिश्तेदारों की सभा किसी संघ या न्यायालय में बुलाकर गवाही देने पूछा जाए, 'आईये बताईये जनाब, आप क्या जानते है?" यदि वह नही जानता तो कहता है, 'मैं नही जानता।" यदि वह जानता है तो कहता है, 'मैं जानता हूँ।" यदि उसने नही देखा तो कहता है, 'मैंने नही देखा।" यदि उसने देखा हो तो कहता है, 'मैंने देखा।" इस तरह वह स्वयं के लाभ के लिए, या दूसरे के लाभ के लिए, या ईनाम की चाह में झूठ नही बोलता। «अं.नि.१०:१७६»]

• वह विभाजित करनेवाली बातें त्यागकर «पिसुणवाचा» **फूट डालनेवाले वचन से विरत** रहता है। यहाँ सुनकर वहाँ नही बताता, ताकि वहाँ दरार पड़े। वहाँ सुनकर यहाँ नही बताता, ताकि यहाँ दरार पड़े। बल्कि वह बटे हुए लोगों का मेल कराता, साथ रहते लोगों को जोड़ता, एकता चाहता, आपसी भाईचारे में प्रसन्न व ख़ुश होता; ऐसे बोल बोलता है जिससे सामंजस्यता बढ़े।

• वह तीखा बोलना त्यागकर «फरुसवाचा» **कटु वचन से विरत** रहता है। वह ऐसे सुरीले बोल बोलता है—जो राहत दे, कर्णमधुर लगे, हृदय छू ले, स्नेहपूर्ण हो, सौम्य हो, अधिकांश लोगों को अनुकूल व स्वीकार्य लगे।

• वह बक़वास त्यागकर «सम्फप्पलापा» **व्यर्थ वचन से विरत** रहता है। वह समयानुकूल बोलता, तथ्यात्मक बोलता, अर्थपूर्ण बोलता, धर्मानुकूल बोलता, विनयानुकूल बोलता है; 'बहुमूल्य लगे' ऐसे सटीक वचन वह बोलता है—तर्क के साथ, नपेतुले शब्दों में, सही समय पर, सही दिशा में, ध्येय के साथ।

• वह «तिरच्छान कथा» **तुच्छ बातों से परहेज़** करता है। जैसे—राजनेताओं पर बातें, अपराधियों पर बातें, मंत्रियों पर बातें, सेना ख़तरे व युद्ध पर बातें, भोज जलपान व वस्त्रों पर बातें, वाहन मकान माला व गन्ध पर बातें, रिश्तेदार समाज गाँव शहर व जनपद पर बातें, स्त्री पर बातें, शूर व नायक कथाएँ, चौंक व नुक्कड़ की बातें, भूतप्रेत कथाएं, दुनिया की विविध घटनाएँ, ब्रह्मांड या समुद्र निर्माण पर बातें, चीज़ों के अस्तित्व या अनस्तित्व पर बातें। इन सभी तुच्छ विषयों पर बात करने से वह परहेज़ करता है।

«जीविकाकुसल»

• वह बीज व पौधों का जीवनाश करना त्यागता है।

• वह दिन में एक-बार भोजन «एकभत्तिको» करता है—रात्रिभोज व विकालभोज# से विरत।

• वह नृत्य गीत वाद्यसंगीत तथा मनोरंजन से विरत रहता है।

सौर्य दोपहर - अर्थात मध्यान्ह, लगभग दोपहर १२ बजे के पश्चात, किंतु वर्षभर समय में बदलाव आते हैं।

• वह मालाएँ गंध लेप, सुडौलता-लानेवाले और अन्य सौंदर्य-प्रसाधन से विरत रहता है।

• वह ऊँचे व बड़े आसन व पलंग के उपयोग से विरत रहता है।

• वह स्वर्ण व रुपये स्वीकारने से विरत रहता है।

• वह कच्चा अनाज... कच्चा माँस... स्त्री व कुमारी... दासी व दास... भेड़ व बकरी... मुर्गी व सूवर... हाथी गाय घोड़ा खच्चर... ख़ेत व संपत्ति स्वीकारने से विरत रहता है।

• वह दूत [=संदेशवाहक] का काम... ख़रीद-बिक्री «कयविक्कया»... भ्रामक तराज़ू नाप मानदंडों द्वारा ठगना... घूसख़ोरी ठगना ज़ाली काम छलकपट... हाथपैर काटने, पीटने बाँधने, लूट डाका व हिंसा करने से विरत रहता है।#

— इस तरह वह आर्यशील-संग्रह से संपन्न होकर **निष्पाप जीने का आंतरिक सुख** अनुभव करता है।

«सन्तोस»

वह शरीर ढकने के लिए **चीवर**, और पेट भरने के लिए **भिक्षा** पर संतुष्ट रहता है। जैसे पक्षी जहाँ जाए, पँखभर बोझ ले उड़े। उसी तरह वह शरीर ढकने के लिए चीवर, और पेट भरने के लिए भिक्षा पर संतुष्ट रहता है। जहाँ जाए, सभी मूल आवश्यकताएँ साथ ले जाता है।

«इंद्रियसंवर»

• वह **आँखों से रूप देखकर** न कोई रोचक छाप «निमित्त» ग्रहण करता है, न ऐसी सूचक बात—जिससे यदि आँखइंद्रिय रक्षित या संयमित न रहती, तो उसे लालसा या निराशा इत्यादि पाप/अकुशल स्वभाव सताते। इस तरह संयम का अभ्यास करते वह अपने **चक्षुइंद्रिय का बचाव** करता है।

• वह **कानों से आवाज़ सुनकर** न कोई रोचक छाप ग्रहण करता है, न ऐसी सूचक बात—जिससे यदि कानइंद्रिय रक्षित या संयमित न रहती, तो उसे लालसा या निराशा इत्यादि पाप/अकुशल स्वभाव सताते। इस तरह संयम का अभ्यास करते वह **श्रोतइंद्रिय का बचाव** करता है।

• वह **नाक से गंध सूँघकर** न कोई रोचक छाप ग्रहण करता है, न ऐसी सूचक बात—जिससे यदि नाकइंद्रिय रक्षित या संयमित न रहती, तो उसे लालसा या निराशा इत्यादि पाप/अकुशल स्वभाव सताते। इस तरह संयम का अभ्यास करते वह **घ्राणइंद्रिय का बचाव** करता है।

भिक्षुओं की सम्यकजीविका: इन शीलों के अलावा २२७ पातिमोक्ष नियम, हज़ारों दुष्कृत्य-नियमावली, विशिष्ट संघों के भीतरी नियम, आपसी आचार-गोचरशील, और अन्य आर्यआचरण भी होता है, जिसका आदर्श भगवान बुद्ध ने अनेक सुत्तों में रखा। सम्यक-जीविका पर अधिक विवरण के लिए विनयपिटक के साथ-साथ दी.नि.२ सामञ्ञफलसुत्त के अंतर्गत चूळसील, मज्झिमसील, महासील भी पढ़ें।

• वह **जीभ से स्वाद चख़कर** न कोई रोचक छाप ग्रहण करता है, न ऐसी सूचक बात—जिससे यदि जीभइंद्रिय रक्षित या संयमित न रहती, तो उसे लालसा या निराशा इत्यादि पाप/अकुशल स्वभाव सताते। इस तरह संयम का अभ्यास करते वह **जिव्हाइंद्रिय का बचाव** करता है।

• वह **शरीर से संस्पर्श महसूस कर** न कोई रोचक छाप ग्रहण करता है, न ऐसी सूचक बात—जिससे यदि कायाइंद्रिय रक्षित या संयमित न रहती, तो उसे लालसा या निराशा इत्यादि पाप/अकुशल स्वभाव सताते। इस तरह संयम का अभ्यास करते वह **कायइंद्रिय का बचाव** करता है।

• वह **मन से बात सोचकर** न कोई रोचक छाप ग्रहण करता है, न ऐसी सूचक बात—जिससे यदि मनइंद्रिय रक्षित या संयमित न रहती, तो उसे लालसा या निराशा इत्यादि पाप/अकुशल स्वभाव सताते। इस तरह संयम का अभ्यास करते वह **मनइंद्रिय का बचाव** करता है।

— इस तरह वह इंद्रियों पर आर्यसंयम से संपन्न होकर **निष्पाप जीने का आंतरिक सुख** महसूस करता है।

«भोजने मत्तञ्ञू»

वह अपने **भोजन की उचित मात्रा जानता** है। उचित चिंतन करते हुए भिक्षान्न ग्रहण करता है—न मज़े के लिए, न मदहोशी के लिए, न सुडौलता के लिए, न ही सौंदर्य के लिए। बल्कि काया को मात्र टिकाने के लिए। उसकी [भूख] पीड़ाएँ समाप्त करने के लिए। ब्रह्मचर्य के लिए। [सोचते हुए] 'पुरानी पीड़ा ख़त्म करूँगा! [अधिक खाकर] नई पीड़ा नहीं उत्पन्न करूँगा! मेरी जीवनयात्रा निर्दोष रहेगी, और राहत से रहूँगा!'

— इस तरह वह अपने भोजन की उचित मात्रा जानता है।

«जागरियं अनुयुत्तो»

वह **जागरण के प्रति संकल्पबद्ध** होता है। **दिन भर** बैठे या चलते हुए वह भीतर से ऐसे अकुशल स्वभावों को साफ़ करता रहता है, जो उसके चित्त को पकड़े हुए हो।

• वह **रात के प्रथम-पहर** [शाम ६-१०] बैठे या चलते हुए भीतर से ऐसे अकुशल स्वभावों को साफ़ करता रहता है, जो उसके चित्त को पकड़े हुए हो।

• वह **रात के द्वितीय-पहर** [रात १०-२] दायी करवट लेटकर सिंहशय्या धारण करता है—बाया पैर दाएं पैर पर रखकर, स्मरणशील व सचेत रह शीघ्र उठने का मन बनाता है।

• वह **रात के तृतीय-पहर** [रात २-६] बैठे या चलते हुए भीतर से ऐसे अकुशल स्वभावों को साफ़ करता रहता है, जो उसके चित्त को पकड़े हुए हो।

— इस तरह भिक्षु जागरण के प्रति संकल्पबद्ध होता है।

«सतिसम्पजञ्ञ»

वह आगे बढ़ते व लौट आते सचेत होता है। वह नज़र टिकाते व नज़र हटाते सचेत होता है। वह [अंग] सिकोड़ते व पसारते सचेत होता है। वह संघाटी पात्र व चीवर धारण करते सचेत होता है। वह खाते, पीते, चबाते, स्वाद लेते सचेत होता है। वह पेशाब व शौच करते सचेत होता है। वह चलते, खड़े रहते, बैठते, सोते, जागते, बोलते, मौन होते सचेत होता है।

हाथ संयमित, पाँव संयमित,
वचन संयमित, उत्तम तरह से संयमित;
भीतर से प्रसन्न, समाहित संतुष्ट अकेला
— उसे कहते है भिक्षु!

«धम्मपद ३६२»

«नीवरणप्पहान»

इस तरह वह आर्यशील-संग्रह से संपन्न, इंद्रियों से आर्यसंयमित, स्मरणशील व सचेत होकर एकांतवास ढूंढ़ता है—जैसे जंगल, पेड़-तले, पहाड़, संकरी-घाटी, गुफ़ा, श्मशानभूमि, उपवन, खुली-जगह या पुआल का ढ़ेर। वह भिक्षाटन से लौटकर भोजनपश्चात पालथी मारकर काया सीधी रख बैठता है, और स्मरणशीलता आगे लाता है।

• वह दुनिया के प्रति **लालसा** «अभिज्झा» हटाकर लालसाविहीन चित्त से रहता है। अपने चित्त से लालसा साफ़ करता है।

• वह भीतर से **दुर्भावना व द्वेष** «ब्यापादपदोस» हटाकर दुर्भावनाविहीन चित्त से रहता है—समस्त जीवहित के लिए करुणामयी। अपने चित्त से दुर्भावना व द्वेष साफ़ करता है।

• वह भीतर से **सुस्ती व तंद्रा** «थिनमिद्धा» हटाकर सुस्ती व तंद्राविहीन चित्त से रहता है—उजाला देखनेवाला, स्मरणशील व सचेत। अपने चित्त से सुस्ती व तंद्रा साफ़ करता है।

• वह भीतर से **बेचैनी व पश्चाताप** «उद्धच्चकुक्कुच्च» हटाकर बिना व्याकुलता के रहता है; भीतर से शान्त चित्त। अपने चित्त से बेचैनी व पश्चाताप साफ़ करता है।

• वह **अनिश्चितता** «विचिकिच्छा» हटाकर उलझन लाँघता है; कुशल स्वभावों के प्रति बिना किसी संभ्रमता के। अपने चित्त से अनिश्चितता साफ़ करता है।

— यह **पाँच व्यवधान** «पञ्चनीवरण» हटाकर रहने से उसके भीतर «पामोज्जं जायति» **प्रसन्नता** जन्म लेती है। «पमुदितस्स पीति जायति» प्रसन्न होने से **प्रफुल्लता** जन्म लेती है। «पीतिमनस्स कायो पस्सम्भति» प्रफुल्लित मन होने से काया **प्रशान्त** हो जाती है। «पस्सद्धकायो सुखं वेदेति» प्रशान्त काया **सुख** महसूस करती है। «सुखिनो चित्तं समाधियति» सुखी होकर चित्त **समाधिस्त** हो जाता है।

«चतु झानं»

(१) अन्तर्ज्ञान «पञ्ञा» दुर्बल करने वाले पाँच व्यवधान हटाकर, वह काम से निर्लिप्त, अकुशल स्वभाव से निर्लिप्त—सोच व विचार के साथ निर्लिप्तता से जन्मे प्रफुल्लता व सुखवाले **प्रथम-झान** में प्रवेश कर रहता है।

तब वह **निर्लिप्तता से जन्मे** उस प्रफुल्लता व सुख से काया को सींचता है, भिगोता है, फैलाता है, पूर्णतः व्याप्त करता है। ताकि उसके शरीर का कोई हिस्सा निर्लिप्तता से जन्मे प्रफुल्लता व सुख से अव्याप्त न बचे।#

जैसे कोई दक्ष नाई कांसे के थाली में **स्नानचूर्ण [या आटा]** रख उसमें पानी डाल-डालकर इस तरह **गूँथे** कि चूर्णपिंड पूर्णतः जलव्याप्त हो जाए, किंतु चुए न।

उसी तरह वह निर्लिप्तता से जन्मे प्रफुल्लता व सुख से काया को सींचता है, भिगोता है, फैलाता है, पूर्णतः व्याप्त करता है। ताकि उसके शरीर का कोई हिस्सा निर्लिप्तता से जन्मे प्रफुल्लता व सुख से अव्याप्त न बचे।

(२) फ़िर आगे सोच व विचार रुक जानेपर भीतर आश्वस्त हुआ मानस एकरस होकर बिना-सोच बिना-विचार, समाधि से जन्मे प्रफुल्लता व सुखवाले **द्वितीय-झान** में प्रवेश कर रहता है।

तब वह **समाधि से जन्मे** उस प्रफुल्लता व सुख से काया को सींचता है, भिगोता है, फैलाता है, पूर्णतः व्याप्त करता है। ताकि उसके शरीर का कोई हिस्सा समाधि से जन्मे प्रफुल्लता व सुख से अव्याप्त न बचे।

जैसे किसी **झील के भीतर जलस्त्रोत** फूटता हो। जिसके पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण दिशा से कोई अंतप्रवाह न हो, और समय-समय पर देवता वर्षा न कराए। तब भीतर से मात्र शीतल जलस्त्रोत फूटकर झील को शीतल जल से सींचेगी, भिगोएगी, फैलेगी, पूर्णतः व्याप्त करेंगी।

उसी तरह वह समाधि से जन्मे प्रफुल्लता व सुख से काया को सींचता है, भिगोता है, फैलाता है, पूर्णतः व्याप्त करता है। ताकि उसके शरीर का कोई हिस्सा समाधि से जन्मे प्रफुल्लता व सुख से अव्याप्त न बचे।

यहाँ गौर करें कि ध्यान-साधना के प्रारंभिक चरणों में, कुशल-धर्मों (जैसे निर्लिप्तता या एकाग्रता) से उत्पन्न प्रीति व सुख को अनित्य-स्वभाव या तटस्थ-भाव से देखकर, उन्हें हटाना नहीं होता, बल्कि सक्रिय-रूप से उन्हें बढ़ाकर, शरीर में सर्वत्र फैलाकर व्याप्त करना होता है, ताकि चित्त झान-समाधि और सुख में पुर्णतः डूब जाए। यदि ऐसा न किया जाए, बल्कि उसके विपरीत भयभीत होकर, समय से पूर्व ही तटस्थ-भाव रखा जाएं, तो प्रथम या द्वितीय-झान समाधि कभी विकसित ही नहीं हो पाएगी। आगे की समाधि-अवस्थाओं का कहना ही क्या।

सूक्क-विपस्सना (सूखी-विपश्यना) या खणिक-समाधि इत्यादि अन्य समाधि-अवस्थाओं का जिक्र प्राचीन 'पालि पञ्चनिकाय' में कही नहीं मिलता। वहाँ भगवान द्वारा उल्लेखित सम्यकसमाधि 'चार-झान' ही होते हैं, जिसे विकसित करने का विवरण यहाँ दिया गया है।

(३) तब आगे वह प्रफुल्लता से विरक्ति ले, स्मरणशील सचेतता के साथ तटस्थता धारणकर शरीर से सुख महसूस करता है। जिसे आर्यजन 'तटस्थ स्मरणशील सुखविहारी' कहते है—वह उस **तृतीय-झान** में प्रवेश कर रहता है।

तब वह **प्रफुल्लतारहित सुख** से काया को सींचता है, भिगोता है, फैलाता है, पूर्णतः व्याप्त करता है। ताकि उसके शरीर का कोई हिस्सा प्रफुल्लतारहित सुख से अव्याप्त न बचे।

जैसे किसी तालाब में कोई कोई नीलकमल रक्तकमल या श्वेत**कमल जल के भीतर** ही जन्म लेते, जल के भीतर ही बढ़ते, जल के भीतर ही डूबे रहते, जल के भीतर ही पनपते है, बिना बाहर निकले। वह सिरे से जड़ तक शीतल जल से ही सींचे जाते, भिगोए जाते, फैलाए जाते, पूर्णतः व्याप्त किए जाते है।

उसी तरह वह प्रफुल्लतारहित सुख से काया को सींचता है, भिगोता है, फैलाता है, पूर्णतः व्याप्त करता है। ताकि उसके शरीर का कोई हिस्सा प्रफुल्लतारहित सुख से अव्याप्त न बचे।

(४) आगे वह सुख दर्द दोनों हटाकर, खुशी व परेशानी पूर्व ही विलुप्त होने से अब नसुख-नदर्दवाले, तटस्थता व स्मरणशीलता की परिशुद्धता के साथ **चतुर्थ-झान** में प्रवेश कर रहता है।

तब वह काया में **परिशुद्ध उजालेदार चित्त** फैलाकर बैठता है, ताकि उसके शरीर का कोई हिस्सा परिशुद्ध उजालेदार चित्त से अव्याप्त न बचे।

जैसे कोई पुरुष सफ़ेद **उजला वस्त्र सिर से पैर तक** ढ़ककर बैठ जाए, ताकि उसके शरीर का कोई हिस्सा उस सफ़ेद उजले वस्त्र से अव्याप्त न बचे।

उसी तरह वह काया में परिशुद्ध उजालेदार चित्त फैलाकर बैठता है, ताकि उसके शरीर का कोई हिस्सा परिशुद्ध उजालेदार चित्त से अव्याप्त न बचे।

जैसे किसी मुर्गी के आठ दस या बारह अंडे हो—जिन्हें वह ठीक से ढके, ठीक से गर्म रखे, ठीक से सेये। तब भले ही मुर्गी को अभिलाषा हो, या न हो कि 'काश मेरे चूज़े अपने नन्हें पंजे व चोंच से अंडे का आवरण तोड़कर सुरक्षित बाहर निकले!' तब भी संभव है कि उसके चूज़े नन्हें पंजे व चोंच से अंडे का आवरण तोड़कर सुरक्षित निकल जाए। क्यों? क्योंकि मुर्गी अपने अंडे ठीक से ढकती है, ठीक से गर्म रखती है, ठीक से सेती है।

उसी तरह जब भिक्षु **आर्यआचरण** धारण करें—अर्थात शीलसंपन्न होना, कल्याणमित्र से जुड़ना, बहुत धर्म सुनना, संतुष्ट जीना, इंद्रियद्वारों पर कड़ा पहरा देना, भोजन की उचित मात्रा जानना, जागरण के प्रति संकल्पबद्ध रहना, स्मरणशील व सचेत रहना, पाँच व्यवधान हटाते रहना, चार झान लगाना, ताकि जब चाहे चित्त ऊँचा उठाकर सुखविहार कर पाए—तब वह 'सीखते-व्यक्ति का प्रगतिपथ' **«सेक्ख पटिपदा» धारक** कहलाता है; जिसके अंडे सड़े नही। जो अभी अविद्या का आवरण तोड़कर बाहर निकलने में, संबोधि पाने में, योगबंधन से सर्वोपरि राहत पाने में सक्षम है।

«विपस्सनाञाणं»

• तब ऐसे [चतुर्थ झान प्राप्त] समाधिस्त परिशुद्ध उजालेदार बेदाग़ निर्मल मृदुल, काम करने योग्य, ठहरे व अविचल चित्त को वह **ज्ञानदर्शन** की ओर झुकाता है। तब उसे पता चलता है—'मेरी यह रूपयुक्त काया—चार महाभूत से बनी, माता पिता द्वारा जन्मी, दालचावल द्वारा पोषित—अनित्य रगड़ छेदन विघटन विध्वंस—स्वभाव की है। और मेरी यह चैतन्यता इसका आधार लेकर बँध गई है।'

जैसे उच्च गुणवत्तावाला कोई सुंदर **मणि** हो—अष्टपहलु, सुपरिष्कृत, स्वच्छ पारदर्शी निर्मल, सभी पहलुओं में समृद्ध, और उसके बीच से नीला पीला लाल सफ़ेद या भूरे रंग का धागा पिरोया हो। कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष उसे हाथ में लेकर देखें—'यह उच्च गुणवत्तावाला सुंदर मणि है—अष्टपहलु, सुपरिष्कृत, स्वच्छ पारदर्शी निर्मल, सभी पहलुओं से समृद्ध, और जिसके बीच से नीला पीला लाल सफ़ेद या भूरे रंग का धागा पिरोया है।'

उसी तरह भिक्षु को पता चलता है कि 'यह मेरी रूपयुक्त काया—चार महाभूत से बनी, माता पिता द्वारा जन्मी, दालचावल द्वारा पोषित—अनित्य रगड़ छेदन विघटन विध्वंस—स्वभाव की है। और मेरी यह चैतन्यता इसका आधार लेकर बँध गई है।'

— इस तरह वह अविद्या का आवरण तोड़कर बाहर निकलता है, जैसे मुर्गी के चूज़े अंडे का आवरण तोड़कर बाहर निकलते है।

ऐसा भिक्षु विद्यासम्पन्न कहलाता है।

«मनोमयिद्धि ञाणं»

• तब ऐसे समाधिस्त परिशुद्ध उजालेदार बेदाग़ निर्मल मृदुल, काम करने योग्य, ठहरे व अविचल चित्त को वह **मनोमय काया निर्माण** करने की ओर झुकाता है। तो वह इस काया से दूसरी काया निर्मित करता है—रूपयुक्त, मन से रची, सभी अंगप्रत्यंगों से युक्त; हीन-इंद्रियोंवाली नही।

जैसे कोई पुरुष मूँज से सरकंडा निकाले। उसे लगेगा 'यह मूँज है, वह सरकंडा। मूँज एक वस्तु है, सरकंडा दूसरी। किंतु मूँज से सरकंडा निकाला गया है।' जैसे कोई पुरुष म्यान से तलवार निकाले। उसे लगेगा 'यह म्यान है, वह तलवार। म्यान एक वस्तु है, तलवार दूसरी। किंतु म्यान से तलवार निकाली गई है।' जैसे कोई पुरुष पिटारे से साँप निकाले। उसे लगेगा 'यह साँप है, वह पिटारा। साँप एक वस्तु है, पिटारा दूसरी। किंतु पिटारे से साँप निकाला गया है।'

उसी तरह भिक्षु इस काया से दूसरी काया निर्मित करता है—रूपयुक्त, मन से रची, सभी अंगप्रत्यंगों से युक्त; हीन-इंद्रियोंवाली नही। इस तरह वह अविद्या का आवरण तोड़कर बाहर निकलता है, जैसे मुर्गी के चूज़े अंडे का आवरण तोड़कर बाहर निकलते है।

ऐसा भिक्षु विद्यासम्पन्न कहलाता है।

«इद्धिविध ञाणं»

• तब ऐसे समाधिस्त परिशुद्ध उजालेदार बेदाग़ निर्मल मृदुल, काम करने योग्य, ठहरे व अविचल चित्त को वह **विविध ऋद्धियाँ** पाने की ओर झुकाता है। तो वह विविध ऋद्धियाँ प्राप्त करता है—एक होकर अनेक बनता है, अनेक होकर एक बनता है। वह प्रकट होता है, विलुप्त होता है। दीवार, रक्षार्थ-दीवार, और पर्वतों के आरपार बिना टकराए चला जाता है, मानो आकाश में हो। ज़मीन पर गोते लगाता है, मानो जल में हो। जल की सतह पर बिना डूबे चलता है, मानो ज़मीन पर हो। पालथी मारकर आकाश में उड़ता है, मानो पक्षी हो। महातेजस्वी सूर्य और चाँद को भी अपने हाथ से छूता और मलता है। अपनी काया से वह ब्रह्मलोक तक असर डालता है।

जैसे कोई दक्ष कुम्हार अच्छी तैयार मिट्टी से जो बर्तन चाहे, गढ़ ले। जैसे कोई दक्ष दंतकार अच्छे तैयार हाथीदाँत से जो कलाकृति चाहे, रच ले। जैसे कोई दक्ष सुनार अच्छे तैयार स्वर्ण से जो आभूषण चाहे, रच ले।

उसी तरह वह विविध ऋद्धियाँ प्राप्त करता है। इस तरह वह अविद्या का आवरण तोड़कर बाहर निकलता है, जैसे मुर्गी के चूज़े अंडे का आवरण तोड़कर बाहर निकलते है।

ऐसा भिक्षु विद्यासम्पन्न कहलाता है।

«दिब्बसोत-ञाणं»

• तब ऐसे समाधिस्त परिशुद्ध उजालेदार बेदाग़ निर्मल मृदुल, काम करने योग्य, ठहरे व अविचल चित्त को वह **दिव्य श्रोतधातु** की ओर झुकाता है। तो वह विशुद्ध हुए अलौकिक दिव्य श्रोतधातु से दोनों आवाज़ें सुनता है—दिव्य भी, मनुष्यों की भी; दूर की हो, या समीप की।

जैसे कोई पुरुष रास्ते से यात्रा करते हुए नगाड़ा, ढोल, शंख, मंजीरे की आवाज़ सुने। तब उसे लगेगा, 'यह नगाड़े की आवाज़ है, वह ढोल की आवाज़ है, यह शंखनाद है, और वह मंजीरे की आवाज़ है।'

उसी तरह विशुद्ध हुए अलौकिक दिव्य श्रोतधातु से वह दोनों आवाज़ें सुनता है—दिव्य भी, मनुष्यों की भी; दूर की हो, या समीप की। इस तरह वह अविद्या का आवरण तोड़कर बाहर निकलता है, जैसे मुर्गी के चूज़े अंडे का आवरण तोड़कर बाहर निकलते है।

ऐसा भिक्षु विद्यासम्पन्न कहलाता है।

«चेतोपरिय-ञाणं»

• तब ऐसे समाधिस्त परिशुद्ध उजालेदार बेदाग़ निर्मल मृदुल, काम करने योग्य, ठहरे व अविचल चित्त को वह **अन्य सत्वों का मानस पता करने** की ओर झुकाता है। तब वह दुसरे सत्वों के, अन्य लोगों के मानस को अपना मानस फैलाकर पता कर लेता है।

उसे रागपूर्ण चित्त पता चलता है कि ‘रागपूर्ण चित्त है।’ वीतराग चित्त पता चलता है कि ‘वीतराग चित्त है।’ द्वेषपूर्ण चित्त पता चलता है कि ‘द्वेषपूर्ण चित्त है।’ द्वेषविहीन चित्त पता चलता है कि ‘द्वेषविहीन चित्त है।’ मोहपूर्ण चित्त पता चलता है कि ‘मोहपूर्ण चित्त है।’ मोहविहीन चित्त पता चलता है कि ‘मोहविहीन चित्त है।’ संकुचित चित्त पता चलता है कि ‘संकुचित चित्त है।’ बिखरा चित्त पता चलता है कि ‘बिखरा चित्त है।’

बढ़ा हुआ चित्त पता चलता है कि ‘बढ़ा हुआ चित्त है।’ न बढ़ा चित्त पता चलता है कि ‘न बढ़ा चित्त है।’ बेहतर चित्त पता चलता है कि ‘बेहतर चित्त है।’ सर्वोत्तर चित्त पता चलता है कि ‘सर्वोत्तर चित्त है।’ समाहित चित्त पता चलता है कि ‘समाहित चित्त है।’ असमाहित चित्त पता चलता है कि ‘असमाहित चित्त है।’ विमुक्त चित्त पता चलता है कि ‘विमुक्त चित्त है।’ अविमुक्त चित्त पता चलता है कि ‘अविमुक्त चित्त है।’

जैसे कोई युवती या युवक सजने के शौकीन हो, अपना चेहरा चमकीले **दर्पण या साफ़ जलपात्र** में देखें—तब धब्बा हो तो पता चलता है ‘धब्बा है।’ धब्बा न हो तो पता चलता है ‘धब्बा नही है।’

उसी तरह भिक्षु दुसरे सत्वों के, अन्य लोगों के मानस को अपना मानस फैलाकर पता कर लेता है। इस तरह वह अविद्या का आवरण तोड़कर बाहर निकलता है, जैसे मुर्गी के चूज़े अंडे का आवरण तोड़कर बाहर निकलते है।

ऐसा भिक्षु विद्यासम्पन्न कहलाता है।

«पुब्बेनिवासानुस्सति ञाणं»

• तब ऐसे समाधिस्त परिशुद्ध उजालेदार बेदाग़ निर्मल मृदुल, काम करने योग्य, ठहरे व अविचल चित्त को वह **पूर्वजन्मों का स्मरण** करने की ओर झुकाता है। तो उसे नाना प्रकार के पूर्वजन्म स्मरण होने लगते है—जैसे एक जन्म, दो जन्म, तीन जन्म, चार, पाँच, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, सौ, हज़ार, लाख, कल्प, कई कल्पों का ब्रह्मांडिय-विस्तार «संवट्टकप्प», कई कल्पों की ब्रह्मांडिय-सिकुड़न «विवट्टकप्प», कई कल्पों का ब्रह्मांडिय विस्तार व सिकुड़न—‘वहाँ मेरा ऐसा नाम था, ऐसा गोत्र था, ऐसा दिखता था। ऐसा भोज था, ऐसा सुख-दुःख महसूस हुआ, ऐसा जीवन अंत हुआ। उस लोक से च्युत होकर मैं वहाँ उत्पन्न हुआ। वहाँ मेरा वैसा नाम था, वैसा गोत्र था, वैसा दिखता था। वैसा भोज था, वैसा सुख-दुःख महसूस हुआ, वैसे जीवन अंत हुआ। उस लोक से च्युत होकर मैं यहाँ उत्पन्न हुआ।’ यूँ नानाप्रकार के पूर्वजन्म शैली व विवरण के साथ वह स्मरण करता है।

जैसे कोई पुरुष अपने **गाँव से दूसरे गाँव** जाए। दूसरे गाँव से तीसरे। और तीसरे गाँव से अपने गाँव लौट आए। तब उसे लगेगा ‘मैं अपने गाँव से इस गाँव गया। वहाँ ऐसे खड़ा हुआ, ऐसे बैठा,

ऐसे बात किया, ऐसे चुप रहा। फ़िर इस गाँव से मैं उस गाँव गया। वहाँ वैसे खड़ा हुआ, वैसे बैठा, वैसे बात किया, वैसे चुप रहा। तब उस गाँव से मैं अपने गाँव लौट आया।'

उसी तरह उसे नानाप्रकार के पूर्वजन्म स्मरण होने लगते है। इस तरह वह अविद्या का आवरण तोड़कर बाहर निकलता है, जैसे मुर्गी के चूज़े अंडे का आवरण तोड़कर बाहर निकलते है।

ऐसा भिक्षु विद्यासम्पन्न कहलाता है।

«दिब्बचक्खु ञाणं»

• तब ऐसे समाधिस्त परिशुद्ध उजालेदार बेदाग़ निर्मल मृदुल, काम करने योग्य, ठहरे व अविचल चित्त को वह **सत्वों की गति-ज्ञान** «चुतूपपात ञाण» की ओर झुकाता है। तब उसे विशुद्ध हुए अलौकिक **दिव्यचक्षु से** अन्य सत्वों की मौत व पुनर्जन्म होते हुए दिखता है। और उसे पता चलता है कि वह **कर्मानुसार** ही कैसे हीन या उच्च, सुंदर या कुरूप, भाग्यशाली या अभाग़े है।

जिन सत्वों ने काया वचन मन से **दुराचरण** किया—आर्यजनों का अपमान, मिथ्यादृष्टि धारण, व मिथ्यादृष्टि प्रभाव में दुष्कृत्य—वह काया छूटने पर मृत्युपरांत दयनीय लोक, दुर्गति, नीचे यातनालोक, नरक में उत्पन्न हुए।

किंतु जिन सत्वों ने काया वचन मन से **सदाचरण** किया—आर्यजनों का आदर, सम्यकदृष्टि धारण, व सम्यकदृष्टि प्रभाव में सुकृत्य—वह काया छूटने पर मृत्युपरांत सुगति पाकर स्वर्ग में उत्पन्न हुए।

इस तरह विशुद्ध हुए अलौकिक दिव्यचक्षु से उसे अन्य सत्वों की मौत व पुनर्जन्म होते हुए दिखता है। और उसे पता चलता है कि वह कर्मानुसार ही कैसे हीन या उच्च, सुंदर या कुरूप, भाग्यशाली या अभाग़े है।

जैसे किसी **चौराहे पर इमारत** हो। इमारत के ऊपर खड़ा कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष नीचे देखें, तो उसे लोग घर में घुसते, निकलते, रास्ते पर चलते, चौराहे पर बैठे दिखेंगे। तब उसे लगेगा—'वहाँ कुछ लोग घर में घुस रहे है। वहाँ कुछ लोग निकल रहे है। वहाँ रास्ते पर कुछ लोग चल रहे है। यहाँ कुछ लोग चौराहे पर बैठे है।'

उसी तरह विशुद्ध हुए अलौकिक दिव्यचक्षु से उसे सत्वों की मौत व पुनर्जन्म होते हुए दिखता है। इस तरह वह अविद्या का आवरण तोड़कर बाहर निकलता है, जैसे मुर्गी के चूज़े अंडे का आवरण तोड़कर बाहर निकलते है।

ऐसा भिक्षु विद्यासम्पन्न कहलाता है।

«आसवक्खय ञाणं»

• तब आगे ऐसे समाधिस्त परिशुद्ध उजालेदार बेदाग़ निर्मल मृदुल, काम करने योग्य, ठहरे व अविचल चित्त को वह **बहाव-थामने के ज्ञान** की ओर झुकाता है। तब 'ऐसा दुःख होता है'—उसे

मूलस्वरूप पता चलता है। 'ऐसी दुःख उत्पत्ति होती है' ... 'ऐसा दुःख निरोध होता है' ... 'यह दुःख निरोध करानेवाला प्रगतिपथ है'—उसे मूलस्वरूप पता चलता है।

'ऐसा बहाव होता है'... 'ऐसी बहाव उत्पत्ति होती है' ... 'ऐसा बहाव निरोध होता है' ... 'ऐसा बहाव निरोध करानेवाला प्रगतिपथ है'—उसे मूलस्वरूप पता चलता है।

इस तरह पता चलने से, इस तरह देखने से उसका चित्त **कामुक-बहाव** से विमुक्त हो जाता है, **अस्तित्व-बहाव** से विमुक्त हो जाता है, **अविद्या-बहाव** से विमुक्त हो जाता है। विमुक्ति के साथ ज्ञान उत्पन्न होता है—'विमुक्त हुआ!' उसे पता चलता है—'जन्म समाप्त हुए! ब्रह्मचर्य परिपूर्ण हुआ! काम पुरा हुआ! अभी यहाँ करने के लिए कुछ बचा नही!'

जैसे किसी **पहाड़ के ऊपर सरोवर** हो—स्वच्छ पारदर्शी व निर्मल। कोई तट पर खड़ा अच्छी आँखोंवाला पुरुष उसमें देखें, तो उसे सीप घोघा बजरी व जलजंतु, मछलियों का झुंड तैरता या खड़ा दिखेगा। तब उसे लगेगा, 'यह झील स्वच्छ पारदर्शी व निर्मल है। यहाँ सीप घोघा बजरी व जलजंतु, मछलियों का झुंड तैरता या खड़ा है।'

उसी तरह 'ऐसा दुःख होता है'... 'यह दुःख निरोध करानेवाला प्रगतिपथ है'... 'ऐसा बहाव होता है।'... 'ऐसा बहाव निरोध करानेवाला प्रगतिपथ है'—उसे मूलस्वरुप पता चलता है। इस तरह वह अविद्या का आवरण तोड़कर बाहर निकलता है, जैसे मुर्गी के चूज़े अंडे का आवरण तोड़कर बाहर निकलते है।

ऐसा भिक्षु विद्यासम्पन्न कहलाता है।

कुल इस तरह वह भिक्षु विद्यासंपन्न कहलाता है, आचरणसंपन्न कहलाता है, विद्याआचरणसंपन्न कहलाता है।

«विज्जाचरणसम्पन्नो सो सेट्ठो देवमानुसे»

विद्या व आचरण संपन्न व्यक्ति देवमनुष्यों में श्रेष्ठ होता है।

«दी.नि.२ + मा.नि.५३»

★ ★ ★

अकुसलप्पहान

४

वीरियारम्भ

~ ऊर्जा का संचार ~

कुशल अकुशल —

अकुशल [स्वभाव] त्याग दो, भिक्षुओं! अकुशल त्याग सकते है। यदि अकुशल न त्याग सकते, तो मैं तुम्हें न कहता 'अकुशल त्याग दो!' चूँकि अकुशल त्याग सकते है, इसलिए मैं तुम्हें कहता हूँ 'अकुशल त्याग दो!'

यदि अकुशल त्यागना अहितकर या कष्टपूर्ण होता, तो मैं तुम्हें न कहता 'अकुशल त्याग दो!' चूँकि अकुशल त्यागना हितकर व सुखदायी होता है, इसलिए मैं तुम्हें कहता हूँ 'अकुशल त्याग दो!'

कुशल [स्वभाव] बढ़ाओ, भिक्षुओं! कुशल बढ़ा सकते है। यदि कुशल न बढ़ा सकते, तो मैं तुम्हें न कहता 'कुशल बढ़ाओ!' चूँकि कुशल बढ़ा सकते है, इसलिए मैं तुम्हें कहता हूँ 'कुशल बढ़ाओ!'

यदि कुशल बढ़ाना अहितकर या कष्टपूर्ण होता, तो मैं तुम्हें न कहता 'कुशल बढ़ाओ!' चूँकि कुशल बढ़ाना हितकर व सुखदायी होता है, इसलिए मैं तुम्हें कहता हूँ 'कुशल बढ़ाओ!'

«अं.नि.२:१९»

* * *

[भिक्षुओं की आपसी धर्मचर्चा में भन्ते सारिपुत्त उपमा देकर बताते है:]

कल्पना करो मित्रों कि किसी दुकान से एक काँसे का बर्तन लाया जाए—धूल मल से सना हुआ, जिसे उसका मालिक न उपयोग करें, न ही स्वच्छ; बल्कि कचरे में डाल दे। क्या वह काँसे का बर्तन अंततः अधिक गंदा व मैला न होगा?

'ज़रूर होगा, मित्र।"

उसी तरह यदि भीतर से कलंकित व्यक्ति को जैसे हो वैसे सही पता न चले कि—'मैं भीतर से कलंकित हूँ', तब उससे आशा नही की जा सकती कि वह कलंक «अङ्गण» मिटाने के लिए कोई चाह प्रयास या परिश्रम करेंगा। बल्कि वह 'राग द्वेष मोह' से कंलकित रह, मैले चित्त के साथ ही मरेगा। [=दुर्गति]

• अब कल्पना करो कि किसी दुकान से एक काँसे का बर्तन लाया जाए—धूल मल से सना हुआ, जिसे उसका मालिक उपयोग भी करें, स्वच्छ भी; कचरे में न डाल दे। क्या वह काँसे का बर्तन समय के साथ स्वच्छ व शुद्ध न होगा?

'ज़रूर होगा, मित्र।"

उसी तरह यदि भीतर से कलंकित व्यक्ति को जैसे हो वैसे सही पता चले कि—'मैं भीतर से कलंकित हूँ', तब जाकर उससे आशा की जा सकती कि वह कलंक मिटाने के लिए कोई चाह प्रयास या परिश्रम करेंगा। वह राग द्वेष मोह से निष्कलंक «अनङ्गण» होकर, निर्मल चित्त के साथ मरेगा। [=सुगति]

• अब कल्पना करो कि किसी दुकान से एक काँसे का बर्तन लाया जाए—पूर्णतः स्वच्छ व शुद्ध! किंतु जिसे उसका मालिक न उपयोग करें, न ही स्वच्छ; बल्कि कचरे में डाल दे। क्या वह काँसे का बर्तन समय के साथ अधिक गंदा व मैला न होगा?

'ज़रूर होगा, मित्र।"

उसी तरह यदि भीतर से निष्कलंक व्यक्ति को जैसे हो वैसे सही पता न चले कि—'मैं भीतर से निष्कलंक हूँ' तब उससे आशा की जा सकती है कि वह **काया के आकर्षक पहलू** «सुभ निमित्त» पर गौर करेंगा। जब वह आकर्षक पहलू पर गौर करेंगा, तब राग उसके चित्त को दूषित व बर्बाद कर देगा। तब वह 'राग द्वेष मोह' से कंलकित होकर, मैले चित्त के साथ मरेगा। [=दुर्गति]

• अब कल्पना करो कि किसी दुकान से एक काँसे का बर्तन लाया जाए—पूर्णतः स्वच्छ व शुद्ध! जिसे उसका मालिक उपयोग भी करें, स्वच्छ भी; कचरे में न डाल दे। क्या वह काँसे का बर्तन समय के साथ अधिक स्वच्छ व शुद्ध न होगा?

'ज़रूर होगा, मित्र।"

उसी तरह यदि भीतर से निष्कलंक व्यक्ति को जैसे हो वैसे सही पता चले कि—'मैं भीतर से निष्कलंक हूँ', तब उससे आशा की जा सकती है कि वह काया के आकर्षक पहलू पर गौर **नही** करेंगा। जब वह आकर्षक पहलू पर गौर नही करेंगा, तब उसके चित्त को राग दूषित व बर्बाद नही कर पाएगा। तब वह राग द्वेष मोह से निष्कलंक रह, निर्मल चित्त के साथ मरेगा। [=सुगति]

इस कारण, इस परिस्थिति से भीतर से कलंकित दो व्यक्तियों में पहला हीन माना जाएगा, दूसरा श्रेष्ठ। तथा भीतर से निष्कलंक दो व्यक्तियों में पहला हीन माना जाएगा, दूसरा श्रेष्ठ।

‘मित्र, यह शब्द ‘कलंक कलंक «अङ्गण»’ का अर्थ क्या है?”

कलंक का अर्थ है ‘पाप/अकुशल इच्छाओं के साथ सहवास’।

«मा.नि.५»

* * *

सचित्तपरियोदपणं

जो भिक्षु दूसरों का चित्त पता करने में कुशल न हो, तो उसे सीखना चाहिए—‘कोई बात नही, मैं **स्वयं का चित्त** पता करने में कुशल बनूँगा!’

और कैसे कोई भिक्षु स्वयं का चित्त पता करने में कुशल बनता है?

कल्पना करो कि कोई युवक या युवती सजने के शौकीन हो; अपना चेहरा साफ़ चमकीले दर्पण या जलपात्र में देखें—यदि उसे मैल या दाग दिखे, तो वे उसे साफ़ करने का प्रयास करेंगे। यदि मल या दाग न दिखे, तो प्रसन्न हो जाएंगे। उनका संकल्प जो पूरा हुआ—‘कितनी भाग्यशाली हूँ मैं! कितनी स्वच्छ हूँ मैं!’

उसी तरह भिक्षु का कुशल स्वभावों के प्रति इस तरह किया आत्मपरीक्षण महाफ़लदायी होता है—‘क्या मैं अक़्सर लालसापूर्ण होता हूँ? या दुर्भावनापूर्ण विचारों के साथ होता हूँ? या सुस्ती व तंद्रा के वशीभूत होता हूँ? या बेचैन होता हूँ? संभ्रमित होता हूँ या अनिश्चितता के परे? या गुस्से में होता हूँ? या गंदे विचारों के साथ होता हूँ? क्या मेरी काया उत्तेजित होती है? या आलस्यपूर्ण होता हूँ? या असमाधिस्त होता हूँ?’

यदि आत्मपरीक्षण करने पर भिक्षु को पता चले—‘हाँ! मैं अक़्सर लालसापूर्ण होता हूँ। या दुर्भावनापूर्ण विचारों के साथ होता हूँ। या सुस्ती व तंद्रा के वशीभूत होता हूँ। या बेचैन होता हूँ। या संभ्रमित होता हूँ। या गुस्से में होता हूँ। या गंदे विचारों के साथ होता हूँ। या मेरी काया उत्तेजित होती है। या आलसी होता हूँ। या असमाधिस्त होता हूँ।’—तब वह पाप/अकुशल स्वभाव छोड़ने के लिए भिक्षु को अत्याधिक चाह प्रयास उत्साह ज़िद लगन स्मरणशीलता सचेतता व ज़ोर लगाना चाहिए।

जैसे किसी आदमी की पगड़ी या सिर में आग लग जाए, तो वह किस तत्परता के साथ अत्याधिक चाह प्रयास उत्साह ज़िद लगन स्मरणशीलता सचेतता व ज़ोर लगाकर आग बुझायेगा। उसी तरह वह पाप/अकुशल स्वभाव को छोड़ने के लिए भिक्षु को अत्याधिक चाह प्रयास उत्साह ज़िद लगन स्मरणशीलता सचेतता व ज़ोर लगाना चाहिए।

किंतु आत्मपरीक्षण करने पर यदि भिक्षु को पता चले—‘मैं अक़्सर लालसापूर्ण नही होता। दुर्भावनापूर्ण विचारों के साथ नही होता। सुस्ती व तंद्रा के वशीभूत नही होता। बेचैन नही होता। संभ्रमित नही, बल्कि अनिश्चितता के परे होता हूँ। गुस्से में नही होता। गंदे विचारों के साथ नही होता। मेरी काया उत्तेजित नही होती। आलसी नही, बल्कि जगे ऊर्जा के साथ होता हूँ। समाधिस्त

होता हूँ।'—तब उसका कर्तव्य है कि बहाव थामने के लिए वह कुशल स्वभावों को अधिक ऊँचा उठाकर स्थिर करने का प्रयास करें।

«अं.नि.१०:५१»

* * *

नीवरण

यह पाँच व्यवधान व रुकावटें होती है, जो चित्त वशीभूत करती है, और अन्तर्ज्ञान दुर्बल। कौन सी पाँच? **कामेच्छा** एक व्यवधान व रुकावट है, जो चित्त वशीभूत करती है, और अन्तर्ज्ञान दुर्बल। **दुर्भावना... सुस्ती व तंद्रा... बेचैनी व पश्चाताप... अनिश्चितता** एक व्यवधान व रुकावट है, जो चित्त वशीभूत करती है, और अन्तर्ज्ञान दुर्बल।

कल्पना करो कि पहाड़ से उतरती कोई नदी हो—तेज़ प्रवाह के साथ सब कुछ दूर तक बहानेवाली। कोई पुरुष आए, और उस नदी के दोनों तट खोदकर भिन्न दिशा में जलप्रवाह खोल दे। तब नदी की मुख्यधारा विच्छिन्न होगी। उसके मुख्यबहाव में व्यवधान आएगा। उसका प्रवाह तेज़ न बचेगा। बहाव में सब कुछ दूर तक न बहेगा।

उसी तरह कोई व्यक्ति यह 'पाँच व्यवधान' जब तक हटा न लें, तब तक संभव नही कि वह अपने कल्याण की बात जान पाए, या दूसरे के कल्याण की बात जान पाए, या आपसी कल्याण की बात जान पाए, या वाकई कोई मनुष्योत्तर-अवस्था प्राप्त करें—कोई विशेष आर्य ज्ञानदर्शन...

अब कल्पना करो कि पहाड़ से उतरती कोई नदी हो—तेज़ प्रवाह के साथ सब कुछ दूर तक बहानेवाली। कोई पुरुष आए, और उस नदी तट की भिन्न दिशाओं में निकलती जलधाराएँ रोक दे। तब नदी की मुख्यधारा विच्छिन्न न होगी। उसके मुख्यबहाव में व्यवधान न होगा। तब उसका प्रवाह तेज़ होगा। बहाव में सब कुछ दूर तक बहेगा।

उसी तरह जब व्यक्ति 'पाँच व्यवधान' हटा ले, तब संभव है कि वह अपने कल्याण की बात जान पाए, या दूसरे के कल्याण की बात जान पाए, या आपसी कल्याण की बात जान पाए, या वाकई कोई मनुष्योत्तर-अवस्था प्राप्त करें—कोई विशेष आर्य ज्ञानदर्शन...।

«अं.नि.५:५१»

* * *

स्वर्ण जब इन पाँच अशुद्धियों से भ्रष्ट होता है, तब वह मृदु, काम करने योग्य और चमकीला नही रहता। बल्कि भंगुर होता है। और उसपर काम नही किया जा सकता। कौन-सी पाँच? लौह तांबा टिन सीसा और चांदी... परंतु स्वर्ण जब इन पाँच अशुद्धियों से भ्रष्ट नही होता, तब वह मृदु, काम करने योग्य व चमकीला होता है। तब वह भंगुर नही होता। और उसपर काम किया जा सकता है।

उसी तरह **चित्त** जब इन पाँच अशुद्धियों से भ्रष्ट होता है, तब वह मृदु, काम करने योग्य व चमकीला नही रहता। वह भंगुर होता है। और उसपर काम नही किया जा सकता। कौन-सी पाँच? कामेच्छा, दुर्भावना, सुस्ती व तंद्रा, बेचैनी व पश्चाताप, और अनिश्चितता... परंतु चित्त जब इन पाँच अशुद्धियों से भ्रष्ट नही होता, तब वह मृदु, काम करने योग्य व चमकीला होता है। तब वह भंगुर नही होता, और उसपर काम किया जा सकता है।

«अं.नि.५:२३»

* * *

(१) कल्पना करो कि किसी जल भरे बर्तन में लाख हल्दी नील या लालिमा घोली हो। तब कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष या स्त्री आए, और उसमें चेहरा निहारे। वह न अपना चेहरा जान पाएगी, न जैसा हो वैसा देख पाएगी।

उसी तरह जब कोई पुरुष या स्त्री **कामेच्छा** से ग्रस्त, कामेच्छा से वशीभूत [रंगे] चित्त के साथ रहते हो, उससे निकलने का जैसा मार्ग «निस्सरण» हो, वैसा न जानते हो—तब वह न स्वयं का कल्याण जान पाते है, न दूसरे का। न आपसी कल्याण जान पाते है, न जैसा हो वैसा देख पाते है।

(२) अब कल्पना करो कि कोई जल भरा बर्तन अग्नि में बुलबुले छोड़ते हुए उबल रहा हो। तब कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष या स्त्री आए, और उसमें चेहरा निहारे। वह न अपना चेहरा जान पाएगी, न जैसा हो वैसा देख पाएगी।

उसी तरह जब कोई पुरुष या स्त्री **दुर्भावना** से ग्रस्त, दुर्भावना से वशीभूत [उबलते] चित्त के साथ रहते हो, उससे निकलने का जैसा मार्ग हो, वैसा न जानते हो—तब वह न स्वयं का कल्याण जान पाते है, न दूसरे का। न आपसी कल्याण जान पाते है, न जैसा हो वैसा देख पाते है।

(३) अब कल्पना करो कि कोई जल भरा बर्तन काई व शैवाल से ढ़का हो। तब कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष या स्त्री आए, और उसमें चेहरा निहारे। वह न अपना चेहरा जान पाएगी, न जैसा हो वैसा देख पाएगी।

उसी तरह जब कोई पुरुष या स्त्री **सुस्ती व तंद्रा** से ग्रस्त, सुस्ती व तंद्रा से वशीभूत [ढ़के] चित्त के साथ रहते हो, उससे निकलने का जैसा मार्ग हो, वैसा न जानते हो—तब वह न स्वयं का कल्याण जान पाते है, न दूसरे का। न आपसी कल्याण जान पाते है, न जैसा हो वैसा देख पाते है।

(४) अब कल्पना करो कि किसी जल भरे बर्तन में हवा की तेज़ उदीप्त लहरे उठ रही हो। तब कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष या स्त्री आए, और उसमें चेहरा निहारे। वह न अपना चेहरा जान पाएगी, न जैसा हो वैसा देख पाएगी।

उसी तरह जब कोई पुरुष या स्त्री **बेचैनी व पश्चाताप** से ग्रस्त, बेचैनी व पश्चाताप से वशीभूत [उदीप्त] चित्त के साथ रहते हो, उससे निकलने का जैसा मार्ग हो, वैसा न जानते हो—तब वह न

स्वयं का कल्याण जान पाते है, न दूसरे का। न आपसी कल्याण जान पाते है, न जैसा हो वैसा देख पाते है।

(५) अब कल्पना करो कि कोई जल भरा बर्तन हिचकोला खाते, मटमैले जल के साथ अँधेरे में रखा हो। तब कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष या स्त्री आए, और उसमें चेहरा निहारे। वह न अपना चेहरा जान पाएगी, न जैसा हो वैसा देख पाएगी।

उसी तरह जब कोई पुरुष या स्त्री **अनिश्चितता** से ग्रस्त, अनिश्चितता से वशीभूत [हिचकोला खाते] चित्त के साथ रहते हो, उससे निकलने का जैसा मार्ग हो, वैसा न जानते हो—तब वह न स्वयं का कल्याण जान पाते है, न दूसरे का। न आपसी कल्याण जान पाते है, न जैसा हो वैसा देख पाते है।

«सं.नि.४६:५५»

* * *

• [कामेच्छा:] कल्पना करो कि कोई पुरुष कर्ज़ लेकर व्यवसाय में निवेश करें, तथा तत्पश्चात यश प्राप्त करें। तब वह कर्ज़ चुकाए, और पत्नी के लिए अतिरिक्त भी बचाए। उस कारणवश वह प्रसन्न होकर सुख महसूस करेंगा।

• [दुर्भावना:] अब कल्पना करो कि कोई पुरुष बीमार पड़े, पीड़ाभरे गंभीर रोग के साथ। न भोजन का लुत्फ़ उठा पाए, न काया में कोई बल रहे। तत्पश्चात वह रोग़मुक्त हो। तब भोजन का लुत्फ़ उठा पाए, काया में बल भी रहे। उस कारणवश वह प्रसन्न होकर सुख महसूस करेंगा।

• [सुस्ती व तंद्रा:] अब कल्पना करो कि कोई पुरुष कैद हो। तत्पश्चात वह कैद से छूट जाए—सही सलामत, संपत्ति की बिना हानि हुए। उस कारणवश वह प्रसन्न होकर सुख महसूस करेंगा।

• [बेचैनी व पश्चाताप:] अब कल्पना करो कि कोई पुरुष गुलाम हो—दूसरों के अधीन, स्वयं के नही। जहाँ जाना चाहे, न जा सके। तत्पश्चात वह गुलामी से छूट जाए—तब स्वयं के अधीन हो, दूसरों के नही। जहाँ जाना चाहे, जा सके। उस कारणवश वह प्रसन्न होकर सुख महसूस करेंगा।

• [अनिश्चितता:] अब कल्पना करो कि कोई पुरुष माल-रुपये लेकर वीरान जगह से यात्रा कर रहा हो। तत्पश्चात वह उस वीरान जगह से निकल जाए—सही सलामत, संपत्ति की बिना हानि हुए। उस कारणवश वह प्रसन्न होकर सुख महसूस करेंगा।

उसी तरह जब तक **पाँच व्यवधान** चित्त से नहीं छूटते, तब तक भिक्षु उन्हें कर्ज़, रोग, कैद, गुलामी, और वीरान जगह से यात्रा की तरह देखता है।

किंतु जब पाँच व्यवधान छूट जाए, तब भिक्षु उन्हें कर्ज़मुक्ति, रोग़मुक्ति, कैदमुक्ति, स्वतंत्रता, और सुरक्षित स्थल की तरह देखता है।

«मा.नि.३९»

नीवरण आहार

• अनुत्पन्न **कामेच्छा** उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुई कामेच्छा बढ़ाकर अत्याधिक करने का आहार क्या है? काया का **आकर्षक पहलू** होता है—उसपर अनुचित रूप से गौर करना «अयोनिसो मनसिकार» आहार बनता है—अनुत्पन्न कामेच्छा उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुई कामेच्छा बढ़ाकर अत्याधिक करने का।

• अनुत्पन्न **दुर्भावना** उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुई दुर्भावना बढ़ाकर अत्याधिक करने का आहार क्या है? **विरोधी पक्ष** «पटिघ निमित्त» होता है—उसपर अनुचित रूप से गौर करना...।

• अनुत्पन्न **सुस्ती व तंद्रा** उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुई सुस्ती व तंद्रा बढ़ाकर अत्याधिक करने का आहार क्या है? बोरियत थकान उबासियाँ, भोजन पश्चात तंद्रा, और मानस में आलस्य होता है—उनपर अनुचित रूप से गौर करना...।

• अनुत्पन्न **बेचैनी व पश्चाताप** उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुई बेचैनी व पश्चाताप बढ़ाकर अत्याधिक करने का आहार क्या है? **मानस में व्याकुलता** होती है—उसपर अनुचित रूप से गौर करना...।

• अनुत्पन्न **अनिश्चितता** उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुई अनिश्चितता बढ़ाकर अत्याधिक करने का आहार क्या है? ऐसी बातें होती है जो अनिश्चितता पनपने का आधार बनती है—उनपर अनुचित रूप से गौर करना आहार बनता है—अनुत्पन्न कामेच्छा उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुई कामेच्छा बढ़ाकर अत्याधिक करने का।

नीवरण अनाहार

• अनुत्पन्न **कामेच्छा** उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुई कामेच्छा बढ़ाकर अत्याधिक करने का अनाहार [=उपवास] क्या है? काया का **अनाकर्षक पहलू** «असुभ निमित्त» होता है—उसपर उचित रूप से गौर करना «योनिसो मनसिकार» अनाहार है—अनुत्पन्न कामेच्छा उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुई कामेच्छा बढ़ाकर अत्याधिक करने का।

• अनुत्पन्न **दुर्भावना** उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुई दुर्भावना बढ़ाकर अत्याधिक करने का अनाहार क्या है? **मेत्ता चेतोविमुक्ति** होती है—उसपर उचित रूप से गौर करना...।

• अनुत्पन्न **सुस्ती व तंद्रा** उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुई सुस्ती व तंद्रा बढ़ाकर अत्याधिक करने का अनाहार क्या है? ऊर्जा-संचार, प्रयास व उद्यमशीलता का **सामर्थ्य** होता है—उसपर उचित रूप से गौर करना...।

• अनुत्पन्न **बेचैनी व पश्चाताप** उत्पन्न करने का, एवं उत्पन्न हुई बेचैनी व पश्चाताप बढ़ाकर अत्याधिक करने का अनाहार क्या है? भीतर से **शान्त-चित्तता** होती है—उसपर उचित रूप से गौर करना...।

• अनुत्पन्न **अनिश्चितता** उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुई अनिश्चितता बढ़ाकर अत्याधिक करने का अनाहार क्या है? ऐसी बातें होती है जो कुशल व अकुशल, दोषपूर्ण व निर्दोष, स्थूल व सूक्ष्म, अंधेरे पक्ष व उजले पक्ष की होती है—उसपर उचित रूप से गौर करना अनाहार है—अनुत्पन्न कामेच्छा उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुई कामेच्छा बढ़ाकर अत्याधिक करने का।

«सं.नि.४६:५१»

★★★

६

कामच्छन्दप्पहान

~ कामुकता का संपूर्ण परित्याग ~

यह **तीन उपमाएँ,** जो पूर्व कभी न सुनी गयी थी, अचानक मेरे आगे प्रकट हुई।

कल्पना करो कि एक **गीली, रसदार लकड़ी, जल में पड़ी** हो, और एक पुरुष माचिस की तीली लेकर आए [सोचते हुए] 'मैं अग्नि जलाऊंगा। मैं गर्मी प्रकट करूँगा।' तो तुम्हें क्या लगता हैं? क्या वह पुरुष माचिस की तीली से वह जल में पड़ी गीली, रसदार लकड़ी जला पाएगा, गर्मी प्रकट कर पाएगा?

'नहीं भन्ते। क्योंकि वह लकड़ी गीली व रसदार है, और सिवाय जल में भी पड़ी हुई है। अंततः वह पुरुष मात्र थकान व निराशा के अलावा कुछ हासिल न कर पाएगा।"

उसी तरह किसी श्रमण या ब्राह्मण के साथ होता है—जो 'काया व चित्त' से कामुकता से निर्लिप्त न रहता हो, और जिसके भीतर कामुकता के प्रति चाह, मोहकता, आवेग और ताप का परित्याग या रोकथाम न हुआ हो—तब भले ही वह [संबोधि के लिए] खूब प्रयास करते हुए, 'दर्दभरी पीड़ादायक भेदक' वेदनाएँ महसूस करें, किंतु ज्ञान दर्शन और सर्वोत्तर सम्बोधि नहीं प्राप्त कर सकेगा। यह प्रथम उपमा, जो पूर्व कभी न सुनी गयी थी, अचानक मेरे आगे प्रकट हुई।

तब **दूसरी उपमा,** जो पूर्व कभी न सुनी गयी थी, अचानक मेरे आगे प्रकट हुई। कल्पना करो कि एक **गीली, रसदार लकड़ी, जल से दूर, भूमि पर पड़ी** हो, और एक पुरुष माचिस की तीली लेकर आए [सोचते हुए] 'मैं अग्नि जलाऊंगा। मैं गर्मी प्रकट करूँगा।' तो तुम्हें क्या लगता हैं? क्या वह पुरुष माचिस की तीली से जल से दूर, भूमि पर पड़ी वह गीली, रसदार लकड़ी जला पाएगा, गर्मी प्रकट कर पाएगा?

‘नहीं भन्ते। क्योंकि वह लकड़ी गीली व रसदार है, भले ही वह जल से दूर, भूमि पर पड़ी हो। अंततः वह पुरुष मात्र थकान व निराशा के अलावा कुछ हासिल न कर पाएगा।”

उसी तरह किसी श्रमण या ब्राह्मण के साथ होता है—जो मात्र काया से कामुकता से निर्लिप्त रहता हो, किंतु जिसके भीतर कामुकता के प्रति चाह, मोहकता, आवेग और ताप का परित्याग व रोकथाम न हुआ हो—तब भले ही वह [संबोधि के लिए] खूब प्रयास करते हुए, ‘दर्दभरी पीड़ादायक भेदक’ वेदनाएँ महसूस करें, किंतु ज्ञान दर्शन और सर्वोत्तर सम्बोधि नहीं प्राप्त कर सकेगा। यह द्वितीय उपमा, जो पूर्व कभी न सुनी गयी थी, अचानक मेरे आगे प्रकट हुई।

तब **तीसरी उपमा**, जो पूर्व कभी न सुनी गयी थी, अचानक मेरे आगे प्रकट हुई। कल्पना करो कि एक **सुखी, रसविहीन लकड़ी, जल से दूर, भूमि पर पड़ी** हो, और एक पुरुष माचिस की तीली लेकर आए [सोचते हुए] ‘मैं अग्नि जलाऊंगा। मैं गर्मी प्रकट करूँगा।’ तो तुम्हें क्या लगता हैं? क्या वह पुरुष माचिस की तीली से जल से दूर, भूमि पर पड़ी वह सुखी, रसविहीन लकड़ी जला पाएगा, गर्मी प्रकट कर पाएगा?

‘हाँ भन्ते। क्योंकि वह लकड़ी सुखी व रसविहीन है, और जल से दूर, भूमि पर भी पड़ी है।”

उसी तरह किसी श्रमण या ब्राह्मण के साथ होता है—जो ‘काया व चित्त’ से कामुकता से निर्लिप्त भी रहता हो, तथा जिसके भीतर कामुकता के प्रति चाह, मोहकता, आवेग और ताप का परित्याग और रोकथाम भी हुआ हो—अब भले ही वह [संबोधि के लिए] प्रयास करते हुए ‘दर्दभरी पीड़ादायक भेदक’ वेदनाएँ न भी महसूस करें, किंतु ज्ञान दर्शन और सर्वोत्तर सम्बोधि प्राप्त कर सकेगा। यह तृतीय उपमा, जो पूर्व कभी न सुनी गयी थी, अचानक मेरे आगे प्रकट हुई।

«मा.नि.३६»

* * *

संयोग-विसंयोग —

गौर से सुनो भिक्षुओं, मैं तुम्हें बंधन एवं बंधनविहीनता का धर्मस्वभाव बताता हूँ—

कोई **बंधन में कैसे** पड़ता है?

कोई स्त्री अपने स्त्री-इंद्रियों पर गौर करती है—स्त्री-अदा, स्त्री-ढंग, स्त्री-चालचलन, स्त्री-चाहत, स्त्री-आवाज़, स्त्री-सजावट। तब वह उत्तेजित होती है, उसमें लिप्त होने लगती है। भीतर उत्तेजित व लिप्त होकर वह बाहर पुरुष-इंद्रियों पर गौर करती है—पुरुष-अदा, पुरुष-ढंग, पुरुष-चाहत, पुरुष-आवाज़, पुरुष-सजावट। तब वह बाहर से उत्तेजित होती है, लिप्त होने लगती है। उत्तेजित व लिप्त होकर वह बाहर बंधना चाहती है, बंधन से उत्पन्न सुख व ख़ुशी «सुख सोमनस्स» पाना चाहती है। अपने स्त्रीत्व में उलझी स्त्री, लिप्त होकर पुरुष-बंधन में पड़ती है। इस तरह कोई स्त्री स्त्रीत्व लाँघ नही पाती।

कोई पुरुष अपने पुरुष-इंद्रियों पर गौर करता है—अपनी पुरुष-अदा, पुरुष-ढंग, पुरुष-चालचलन, पुरुष-चाहत, पुरुष-आवाज़, पुरुष-सजावट। तब वह उत्तेजित होता है, उसमें लिप्त होने लगता है। भीतर उत्तेजित व लिप्त होकर वह बाहर स्त्री-इंद्रियों पर गौर करता है—स्त्री-अदा, स्त्री-ढंग, स्त्री-चालचलन, स्त्री-चाहत, स्त्री-आवाज़, स्त्री-सजावट। तब वह बाहर से उत्तेजित होता है, लिप्त होने लगता है। उत्तेजित व लिप्त होकर वह बाहर बंधना चाहता है, बंधन से उत्पन्न सुख व ख़ुशी पाना चाहता है। अपने पुरुषत्व में उलझा पुरुष, लिप्त होकर स्त्री-बंधन में पड़ता है। इस तरह कोई पुरुष पुरुषत्व लाँघ नही पाता।

— इस तरह कोई बंधन में पड़ता है।

कोई **बंधन कैसे तोड़ता** है?

कोई स्त्री अपने स्त्री-इंद्रियों पर [अनुचित तरह से] गौर नही करती—स्त्री-अदा, स्त्री-ढंग, स्त्री-चालचलन, स्त्री-चाहत, स्त्री-आवाज़, स्त्री-सजावट। तब वह उत्तेजित नही होती, लिप्त नही होने लगती। भीतर उत्तेजित व लिप्त न होनेपर वह बाहर पुरुष-इंद्रियों पर ध्यान नही देती—पुरुष-अदा, पुरुष-ढंग, पुरुष-चाहत, पुरुष-आवाज़, पुरुष-सजावट। तब वह बाहर से उत्तेजित नही होती, लिप्त नही होने लगती। उत्तेजित व लिप्त न होनेपर वह बाहर बंधना नही चाहती, बंधन से उत्पन्न सुख व ख़ुशी पाना भी नही चाहती। अपने स्त्रीत्व में न उलझी स्त्री, लिप्त न होनेपर पुरुष-बंधन में नही पड़ती। इस तरह कोई स्त्री स्त्रीत्व लाँघती है।

कोई पुरुष अपने पुरुष-इंद्रियों पर [अनुचित तरह से] गौर नही करता—अपनी पुरुष-अदा, पुरुष-ढंग, पुरुष-चालचलन, पुरुष-चाहत, पुरुष-आवाज़, पुरुष-सजावट। तब वह उत्तेजित नही होता, लिप्त नही होने लगता। भीतर उत्तेजित व लिप्त न होनेपर वह बाहर स्त्री-इंद्रियों पर ध्यान नही देता—स्त्री-अदा, स्त्री-ढंग, स्त्री-चालचलन, स्त्री-चाहत, स्त्री-आवाज़, स्त्री-सजावट। तब वह बाहर से उत्तेजित नही होता, लिप्त होने नही लगता। उत्तेजित व लिप्त न होनेपर वह बाहर बंधना नही चाहता, बंधन से उत्पन्न सुख व ख़ुशी पाना भी नही चाहता। अपने पुरुषत्व में न उलझा पुरुष, लिप्त न होनेपर स्त्री-बंधन में नही पड़ता। इस तरह कोई पुरुष पुरुषत्व लाँघता है।

— इस तरह कोई बंधन तोड़ता है।

और यही बंधन एवं बंधनविहीनता का धर्मस्वभाव है।

«अं.नि.७:४८»

* * *

सात काम उपमाएँ

(१) कल्पना करो कि कोई दुर्बल, भूखा कुत्ता कसाईखाने की ओर आए। तब कोई कसाई उसके आगे **हड्डियों की लड़ी** उछाले—पूर्णतः कुरेदी हुई, माँसविहीन, रक्तसनी। तो तुम्हें क्या लगता है? क्या वह कुत्ता उस पूर्णतः कुरेदी हुई, माँसविहीन, रक्तसनी हड्डियों की लड़ी चबाकर अपनी दुर्बलता व भूख मिटा सकता है?

'नही, भन्ते। क्योंकि हड्डियों की लड़ी पूर्णतः कुरेदी हुई, माँसविहीन, रक्तसनी है। कुत्ते को थकान व परेशानी के अलावा कुछ हासिल न होगा।"

उसी तरह भिक्षुओं, कोई भिक्षु इस मुद्दे पर चिंतन करता है—'भगवान ने कामुकता की तुलना 'हड्डियों की लड़ी' से की है, जो बड़ी कष्टप्रद है! बड़ी निराशाजनक है! जिसके दुष्परिणाम अधिक है!'—इस तरह जैसे बने हो, सही पता करके देखकर 'विविध आश्रयवाली विविधतापूर्ण तटस्थता'# टालते हुए, वह 'अकेले आश्रयवाली एक-जैसी तटस्थता'## की साधना करता है, जहाँ दुनिया के सभी प्रलोभन व आधार बिना शेष बचे विलीन हो जाते है।

(२) अब कल्पना करो कि कोई गिद्ध बाज़ या चील **माँस का टुकड़ा** दबोचकर उड़े, किंतु अन्य गिद्ध बाज़ या चील उसके पीछे पड़ जाए। उसे चोंच से नोच-खसोट करें, पंजों से छीना-झपटी करें। तो तुम्हें क्या लगता है? यदि वह गिद्ध बाज़ या चील, माँस का टुकड़ा तुरंत न गिरा दे, तो क्या उस कारणवश उसकी मौत होगी, या मौत जैसी पीड़ा?

'ज़रूर होगी, भन्ते!"

उसी तरह कोई भिक्षु इस मुद्दे पर चिंतन करता है—'भगवान ने कामुकता की तुलना 'माँस के टुकड़े' से की है, जो बड़ी कष्टप्रद है! बड़ी निराशाजनक है! जिसके दुष्परिणाम अधिक है!'—इस तरह जैसे बने हो, सही पता करके देखकर 'विविध आश्रयवाली विविधतापूर्ण तटस्थता' टालते हुए, वह 'अकेले आश्रयवाली एक-जैसी तटस्थता' की साधना करता है, जहाँ दुनिया के सभी प्रलोभन व आधार बिना शेष बचे विलीन हो जाते है।

(३) अब कल्पना करो कि कोई पुरुष **घास की मशाल** लेकर आँधी के आगे खड़ा हो जाए। तो तुम्हें क्या लगता है? यदि वह घास की मशाल तुरंत न गिरा दे, तो क्या उस कारणवश उसकी मौत होगी, या मौत जैसी पीड़ा?

छह इंद्रियों पर टकराते विषय, अर्थात विविध—'रूप आवाज़ गंध स्वाद संस्पर्श व स्वभाव' के प्रति तटस्थता। अध्याय ९ के अंतर्गत 'छत्तीस भाव' पृष्ठ १४२ देखें।

चार अरुप अवस्थाएँ—आकाश-आयाम, चैतन्यता-आयाम, सूना-आयाम, न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम। अध्याय ९ के अंतर्गत 'छत्तीस भाव' पृष्ठ १४२ देखें।

अर्थात, कामुकता के नशे को हटाने के लिए काम-लोक या रूप-लोक से प्रभावित इंद्रिय-जगत को टालते हुए, उनके परे की **अरुप-अवस्थाओं की साधना** करनी चाहिए। वही सभी प्रलोभन गायब हो जाते हैं।

‘ज़रूर होगी, भन्ते!”

उसी तरह कोई भिक्षु इस मुद्दे पर चिंतन करता है—‘भगवान ने कामुकता की तुलना ‘घास के मशाल’ से की है, जो बड़ी कष्टप्रद है! बड़ी निराशाजनक है! जिसके दुष्परिणाम अधिक है!’—इस तरह जैसे बने हो, सही पता करके देखकर ‘विविध आश्रयवाली विविधतापूर्ण तटस्थता’ टालते हुए, वह ‘अकेले आश्रयवाली एक-जैसी तटस्थता’ की साधना करता है, जहाँ दुनिया के सभी प्रलोभन व आधार बिना शेष बचे विलीन हो जाते है।

(४) अब कल्पना करो कि एक **अंगारे भरा गड्ढा** हो—पुरुष की लंबाई से गहरा, न लपटे न धुँवा फेकते अंगारों से धधकता हुआ। तब एक पुरुष आए, जिसे प्राण प्यारे हो, मौत से नफ़रत। जिसे सुख की चाह हो, दर्द से घृणा। तब दो बलवान पुरुष आए, और उसकी बाँह पकड़कर घसीटते हुए उसे अंगारेभरे गड्ढे तक लाए। तो तुम्हें क्या लगता है? क्या वह पुरुष काया ऐसे-तैसे मरोड़ेगा?

‘ज़रूर, भन्ते। क्योंकि उसे लगेगा—‘यदि मैं इस अंगारेभरे गड्ढे में गिर जाऊ, तो उस कारणवश मेरी मौत होगी, या मौत जैसी पीड़ा।’”

उसी तरह कोई भिक्षु इस मुद्दे पर चिंतन करता है—‘भगवान ने कामुकता की तुलना अंगारेभरे गड्ढे से की है, जो बड़ी कष्टप्रद है! बड़ी निराशाजनक है! जिसके दुष्परिणाम अधिक है!’—इस तरह जैसे बने हो, सही पता करके देखकर ‘विविध आश्रयवाली विविधतापूर्ण तटस्थता’ टालते हुए, वह ‘अकेले आश्रयवाली एक-जैसी तटस्थता’ की साधना करता है, जहाँ दुनिया के सभी प्रलोभन व आधार बिना शेष बचे विलीन हो जाते है।

(५) अब कल्पना करो कि कोई पुरुष **स्वप्न में** ख़ुशनुमा बगीचे, ख़ुशनुमा वन, ख़ुशनुमा परिसर, ख़ुशनुमा झील देखें। किंतु उठने पर कुछ भी नही।

उसी तरह कोई भिक्षु इस मुद्दे पर चिंतन करता है—‘भगवान ने कामुकता की तुलना स्वप्न से की है, जो बड़ी कष्टप्रद है! बड़ी निराशाजनक है! जिसके दुष्परिणाम अधिक है!’—इस तरह जैसे बने हो, सही पता करके देखकर ‘विविध आश्रयवाली विविधतापूर्ण तटस्थता’ टालते हुए, वह ‘अकेले आश्रयवाली एक-जैसी तटस्थता’ की साधना करता है, जहाँ दुनिया के सभी प्रलोभन व आधार बिना शेष बचे विलीन हो जाते है।

(६) अब कल्पना करो कि कोई पुरुष **उधार वस्तुएँ** ले—मर्दाना रथ, मूल्यवान रत्न व कर्ण आभूषण। उधार वस्तुएँ ले पहनकर वह बाज़ार जाए, जहाँ लोग देखकर कहने लगे—‘कितना धनी होगा यह पुरुष! इस तरह धनी लोग संपत्ति का भोगविलास करते है।’ किंतु तब उधार वस्तुओं के असली स्वामी आए, और उसे जहाँ कही देखें, अपनी-अपनी वस्तुएँ छीन ले। तो तुम्हें क्या लगता है? क्या उस पुरुष की नाराज़ी उचित होगी?

‘नही, भन्ते। क्योंकि स्वामी अपनी-अपनी वस्तुएँ ले ही जाते है।”

उसी तरह कोई भिक्षु इस मुद्दे पर चिंतन करता है—'भगवान ने कामुकता की तुलना उधार वस्तुओं से की है, जो बड़ी कष्टप्रद है! बड़ी निराशाजनक है! जिसके दुष्परिणाम अधिक है!'—इस तरह जैसे बने हो, सही पता करके देखकर 'विविध आश्रयवाली विविधतापूर्ण तटस्थता' टालते हुए, वह 'अकेले आश्रयवाली एक-जैसी तटस्थता' की साधना करता है, जहाँ दुनिया के सभी प्रलोभन व आधार बिना शेष बचे विलीन हो जाते है।

(७) अब कल्पना करो किसी गाँव या नगर के समीप घना जंगल हो। वहाँ एक ख़ूब स्वादिष्ट **फ़लों से लदा पेड़** हो, जिसका कोई फ़ल नीचे न गिरा हो। तब एक पुरुष फ़लों की चाह में, फ़लों को ढूँढते हुए घने जंगल जाए। वहाँ उसे वह ख़ूब स्वादिष्ट फ़लों से लदा पेड़ दिखाई दे, जिसका कोई फ़ल नीचे न गिरा हो। तब वह सोचे—'यह ख़ूब स्वादिष्ट फ़लों से लदा पेड़ है, किंतु कोई फ़ल नीचे नही गिरा है। परंतु मुझे पेड़ पर चढ़ना आता है। क्यों न मैं पेड़ पर चढ़ जाऊँ, चाहे जितने फ़ल खाऊँ, और वस्त्र भरकर फ़ल इकट्ठा करूँ?' तब वह उस पेड़ पर चढ़े, चाहे जितने फ़ल खाए, और वस्त्र भरकर फ़ल इकट्ठा करने लगे।

तभी दूसरा पुरुष फ़लों की चाह में, फ़लों को ढूँढते हुए उसी घने जंगल आए। वहाँ उसे वह ख़ूब स्वादिष्ट फ़लों से लदा पेड़ दिखाई दे, जिसका कोई फ़ल नीचे न गिरा हो। तब वह सोचे—'यह ख़ूब स्वादिष्ट फ़लों से लदा पेड़ है, किंतु कोई फ़ल नीचे नही गिरा है। अब मुझे पेड़ पर चढ़ना नही आता। क्यों न मैं पेड़ ही काट दूँ। तब चाहे जितने फ़ल खाऊँ, और वस्त्र भरकर फ़ल इकट्ठा करूँ?' तब वह उस पेड़ को काटने लगे।

तो तुम्हें क्या लगता है, भिक्षुओं? यदि पेड़ पर चढ़ा हुआ प्रथम पुरुष तुरंत नीचे न आए, तो गिरते पेड़ से उसका शरीर कुचल न जाएगा, जिस कारणवश उसकी मौत न होगी, या मौत-जैसी पीड़ा?

'ज़रूर होगी, भन्ते।"

उसी तरह कोई भिक्षु इस मुद्दे पर चिंतन करता है—'भगवान ने कामुकता की तुलना पेड़ के फ़लों से की है, जो बड़ी कष्टप्रद है! बड़ी निराशाजनक है! जिसके दुष्परिणाम अधिक है!'—इस तरह जैसे बने हो, सही पता करके देखकर 'विविध आश्रयवाली विविधतापूर्ण तटस्थता' टालते हुए, वह 'अकेले आश्रयवाली एक-जैसी तटस्थता' की साधना करता है, जहाँ दुनिया के सभी प्रलोभन व आधार बिना शेष बचे विलीन हो जाते है।

«मा.नि.५४ + मा.नि.१३७»

* * *

कोढ़ उपमा

कल्पना करो कि कोई कोढ़ी हो—सड़े-पके फोड़े भरा शरीर, जिस में कीड़े पड़ चुके हो। घाव-मुखों को नाख़ून से कुरेदता हो। शरीर जलते अंगारों से दग्ध करता हो। उसके मित्र सहचारी व रिश्तेदार उसे वैद्य के पास ले जाए। वैद्य उसकी चिकित्सा करें, दवाई दे। अंततः चिकित्सा व दवाई की मदद से वह कोढ़ी कुष्टरोग से मुक्त हो जाए—भला चंगा, स्वतंत्र, अपना मालिक स्वयं, जहाँ चाहे वहाँ जा सके।

तब दो बलवान पुरुष आकर उसकी बाँह पकड़कर घसीटते हुए उसे अंगारे भरे गड्ढे तक लाए। तो तुम्हें क्या लगता है? क्या वह पुरुष काया को ऐसे-तैसे नही मरोड़ेगा?

‘ज़रूर, भन्ते। क्योंकि अग्निस्पर्श पीड़ादायक, बड़ा ताप, बड़ा दाह भरा होता है।”

किंतु तुम्हें क्या लगता है? अग्निस्पर्श पीड़ादायक, बड़ा ताप, बड़ा दाह भरा अभी हुआ, या पहले भी था?

‘अभी और पहले भी अग्निस्पर्श पीड़ादायक, बड़ा ताप, बड़ा दाह भरा ही था। किंतु पहले जब वह कोढ़ी था—सड़े-पके फोड़े भरा शरीर, जिस में कीड़े पड़ चुके थे। घाव-मुखों को नाख़ून से कुरेदता था। शरीर जलते अंगारों से दग्ध करता था—तब उसकी इंद्रियों में बिगाड़ हुआ था। इसलिए भले ही अग्निस्पर्श वाक़ई पीड़ादायक, बड़ा ताप, बड़ा दाह भरा ही था, परंतु सुख को लेकर उसका नज़रिया उल्टा हो गया था।”

उसी तरह अतीतकाल में भी कामुकता—पीड़ादायक, बड़ी ताप, बड़ी दाहभरी ही होती थी। भविष्यकाल में भी कामुकता—पीड़ादायक, बड़ी ताप, बड़ी दाहभरी ही रहेगी। वर्तमानकाल में भी कामुकता पीड़ादायक, बड़ी ताप, बड़ी दाहभरी ही होती है। परंतु जब तक सत्व काम-राग [=कामुक दिलचस्पी] से मुक्त नही होते, तब तक काम-तृष्णा द्वारा चबाए जाते है। काम-ताप द्वारा दग्ध होते रहते है। उनकी इंद्रियों में बिगाड़ हुआ होता है। इसलिए भले ही कामुक-स्पर्श वाक़ई पीड़ादायक, बड़ा ताप, बड़ा दाह भरा ही होता है, किंतु सुख को लेकर सत्वों का नज़रिया उल्टा हो चुका होता है।

कल्पना करो कि वही कोढ़ी हो—सड़े-पके फोड़े भरा शरीर, जिस में कीड़े पड़ चुके हो। घाव-मुखों को नाख़ून से कुरेदता हो। शरीर जलते अंगारों से दग्ध करता हो। जितना अधिक वह जलते अंगारों से अपना शरीर दग्ध करता है, उतना ही अधिक उसके घाव-मुख घिनौनी दुर्गंध व पीब निकालते हुए सड़ने लगते है। तब भी घाव-मुखों में खुजलाहट के कारण उसे क्षणभर मज़ा आता है, संतुष्टि महसूस होती है।

उसी तरह जब तक सत्व **काम-राग** से मुक्त नही होते, तब तक काम-तृष्णा द्वारा चबाए जाते है। काम-ताप द्वारा दग्ध होते वह कामुकता में अधिक लिप्त होते जाते है। जितना अधिक वह कामुकता में लिप्त होते जाए, उतनी अधिक कामतृष्णा फ़िर भड़कती है। और परिणामस्वरूप

कामताप से सत्व अधिक दग्ध होते जाते है। तब भी 'पाँच कामगुण' पर आश्रित होने के कारण उन्हें क्षणभर मज़ा आता है, संतुष्टि महसूस होती है।

तो तुम्हें क्या लगता है? क्या तुमने ऐसे राजा या राजमंत्री के बारे में सुना या देखा, जिसके लिए 'पाँच कामगुण' का प्रबंध किया गया हो, जो उसमें लिप्त हो—वह कामतृष्णा बिना त्यागे, कामताप बिना हटाए, प्यासरहित हो भीतर प्रशांत चित्त से रहता था, या रहता हो, या रहेगा?

'नही, भो गौतम!"

साधु! मैंने भी ऐसे राजा या राजमंत्री के बारे में न सुना न देखा, जिसके लिए 'पाँच कामगुण' का प्रबंध किया गया हो, जो उसमें लिप्त हो—वह कामतृष्णा बिना त्यागे, कामताप बिना हटाए, प्यासरहित हो भीतर प्रशांत चित्त से रहता था, या रहता हो, या रहेगा।

बल्कि जो श्रमण व ब्राह्मण वाक़ई प्यासरहित हो, भीतर प्रशांत चित्त से रहते थे, या रहते हो, या रहेंगे—वह सभी कामतृष्णा त्यागकर ही ऐसा कर पाए। कामताप हटाकर ही ऐसा कर पाए। कामुकता की उत्पत्ति व व्यय, प्रलोभन, ख़तरा व निकलने का मार्ग—जैसे हो, वैसे पता कर ही ऐसा कर पाए।

«मा.नि.७५»

* * *

काम-प्रलोभन «अस्साद» क्या है?

— **पाँच कामगुण** होते है। कौन से पाँच?

• आँख पर टकराता **रूप**—जो पसंदीदा सुखद मोहक प्रिय लुभावना कामुकता से जुड़ा हो।

• कान पर टकराती **आवाज़**—जो पसंदीदा सुखद मोहक प्रिय लुभावनी कामुकता से जुड़ी हो।

• नाक पर टकराती **गन्ध**—जो पसंदीदा सुखद मोहक प्रिय लुभावनी कामुकता से जुड़ी हो।

• जीभ पर टकराता **स्वाद**—जो पसंदीदा सुखद मोहक प्रिय लुभावना कामुकता से जुड़ा हो।

• शरीर पर टकराता **संस्पर्श**—जो पसंदीदा सुखद मोहक प्रिय लुभावना कामुकता से जुड़ा हो।

— इन पाँच कामगुण पर आधारित जो **सुख व ख़ुशी** मिलती है, वही काम-प्रलोभन है। और यही 'पाँच कामगुण' आर्य धर्म-विनय में 'दुनिया' «लोक» कहलाती है।

काम-दुष्परिणाम «आदीनव» क्या है?

• ऐसा होता है कोई कुलपुत्र रोज़गार द्वारा जीविका चलाता है—चाहे पैसा व्यवहार हो, या लेखागणना, संख्यागणना, कृषि, व्यापार, वाणिज्य, गो-पालन, आयुध, बाणअस्त्र, राजा की नौकरी, या अन्य शिल्पकारी। तब **जीविका कमाते समय** उसे ठंडी लगती है, गर्मी लगती है; मक्खियाँ मच्छर हवा धूप बिच्छु साँप के संस्पर्श से परेशान होता है; भूख प्यास से मरता अपनी जीविका कमाता है।

अब यह दुष्परिणाम, दुःख संग्रह, जो «सन्दिट्ठिको» अभी यहीं दिखता है—कामुकता ही कारण «हेतु» है, कामुकता ही स्त्रोत «निदान» है, कामुकता के ही परिणामस्वरूप «अधिकरण» है, उसकी वजह बस कामुकता ही है।

• अब कुलपुत्र इतना काम कर, परिश्रम कर, ज़ोर लगाकर **धनदौलत प्राप्त न कर पाए**—तो अफ़सोस करता है, ढ़ीला पड़ता है, मातम करता है, छाती पीटता है, बावला हो जाता है—'हाय! मेरा सारा परिश्रम व्यर्थ गया। सारी मेहनत पानी में गई!'

अब यह दुष्परिणाम, दुःख संग्रह, जो अभी यहीं दिखता है—कामुकता ही कारण है, कामुकता ही स्त्रोत है, कामुकता के ही परिणामस्वरूप है, उसकी वजह बस कामुकता ही है।

• अब कुलपुत्र इतना काम कर, परिश्रम कर, ज़ोर लगाकर **धनदौलत प्राप्त करें**—तो उसका **बचाव करते हुए दर्द व व्यथा** «दुक्ख दोमनस्स» महसूस करता है—'कहीं मेरी धनदौलत सरकार न छीन ले, चोर-डाकू न लूट ले, आग न जला दे, बाढ़ न बहा दे, नालायक वारिस बर्बाद न कर दे!'

किंतु धनदौलत बचाते हुए, संगोपन करते हुए उसकी धनसंपत्ति सरकार छीन लेती है, या चोर-डाकू लूट लेते है, या आग जला देती है, या बाढ़ बहा देती है, या अंततः नालायक वारिस बर्बाद कर देता है—तो वह अफ़सोस करता है, ढ़ीला पड़ता है, मातम करता है, छाती पीटता है, बावला हो जाता है—'हाय! मेरा जो भी था, नही बचा!'

अब यह दुष्परिणाम, दुःख संग्रह, जो अभी यहीं दिखता है—कामुकता ही कारण है, कामुकता ही स्त्रोत है, कामुकता के ही परिणामस्वरूप है, उसकी वजह बस कामुकता ही है।

• और फ़िर कामुकता के कारण, कामुकता के स्त्रोत से, कामुकता के परिणामस्वरूप, जिसकी वजह बस कामुकता ही है—कि राजा राजाओं से **लड़ते है**, क्षत्रिय क्षत्रियों से लड़ते है, ब्राह्मण ब्राह्मणों से लड़ते है, गृहस्थ गृहस्थों से लड़ते है; माँ पुत्र से लड़ती है, पुत्र माँ से। बाप पुत्र से लड़ता है, पुत्र बाप से। भाई भाई से लड़ता है। भाई बहन से लड़ती है, बहन भाई से। मित्र मित्रों से लड़ते है। और फ़िर वे लड़ते, झगड़ते, विवाद करते एक-दूसरे पर हाथ उठाते हैं, पत्थर उठाते हैं, डंडों चाक़ू शस्त्रों से हमला करते हैं। तब इस कलह में मौतें होती हैं, या मौत जैसी पीड़ा।

अब यह दुष्परिणाम, दुःख संग्रह, जो अभी यहीं दिखता है—कामुकता ही कारण है, कामुकता ही स्त्रोत है, कामुकता के ही परिणामस्वरूप है, उसकी वजह बस कामुकता ही है।

• आगे, कामुकता के कारण, कामुकता के स्त्रोत से, कामुकता के परिणामस्वरूप, जिसकी वजह बस कामुकता ही है—कि लोग हाथों में ढ़ाल-तलवार लेकर, तीर-धनुष चढ़ाकर दोनों ओर से व्यूहरचित युद्ध में **आक्रमण करते** हुए दौड़ पड़ते हैं—जहाँ तीर व भालें उड़ते है, तलवारें चमकती हैं। लोग तीर-भालों से बींधते घायल होते हैं। सिर तलवारों से काटे जाते हैं। फ़िर इसमें मौतें होती हैं, या मौत जैसी पीड़ा।

अब यह दुष्परिणाम, दुःख संग्रह, जो अभी यहीं दिखता है—कामुकता ही कारण है, कामुकता ही स्त्रोत है, कामुकता के ही परिणामस्वरूप है, उसकी वजह बस कामुकता ही है।

• आगे, कामुकता के कारण, कामुकता के स्त्रोत से, कामुकता के परिणामस्वरूप, जिसकी वजह बस कामुकता ही है—कि लोग हाथों में ढ़ाल-तलवार लेकर, तीर-धनुष चढ़ाकर फ़िसलनभरे ऊँचे किल्लों पर आक्रमण करते हुए दौड़ पड़ते हैं—जहाँ तीर व भालें उड़ते हैं, तलवारें चमकती हैं। ऊपर से उबलता ग़ोबर गिराया जाता है। भारी चट्टाने गिराकर कुचला जाता है। सिर तलवारों से काटे जाते हैं। फ़िर इसमें मौतें होती हैं, या मौत जैसी पीड़ा।

अब यह दुष्परिणाम, दुःख संग्रह, जो अभी यहीं दिखता है—कामुकता ही कारण है, कामुकता ही स्त्रोत है, कामुकता के ही परिणामस्वरूप है, उसकी वजह बस कामुकता ही है।

• आगे, कामुकता के कारण, कामुकता के स्त्रोत से, कामुकता के परिणामस्वरूप, जिसकी वजह बस कामुकता ही है—कि लोग खिड़कियाँ तोड़कर **चोरी लूट डाके** डालते है, मार्ग पर **घात** लगाते है, **व्यभिचार** करते है। और जब उन्हें गिरफ्तार किया जाता है, तो दंडस्वरुप राजा उन्हें विभिन्न प्रकार से प्रताड़ित करवाते है—चाबुक़ से पिटवाते है। कोड़े लगवाते है। मुग्दर या बेंत से भी पिटाई करवाते है। डंडों से भी पिटाई करवाते है। उनके हाथ कटवाते है। उनके पैर कटवाते है। उनके हाथ-पैर दोनों कटवाते है। उनके कान भी कटवाते है। नाक कटवाते है। कान-नाक दोनों कटवाते है।

या उन्हें तरह-तरह से उत्पीड़न देते है—जैसे खोपड़ी निकालकर उसमें गर्म लोहा भी डाल देते है। सिर की चमड़ी उतारकर खोपड़ी से कंकड़ों को रगड़ते भी है। चिमटे से मुँह खुलवाकर उसमें दीपक भी जला देते है। सारे शरीर पर तेलबत्ती लपेटकर उसमें आग भी लगा देते है। हाथ पर तेलबत्ती लपेटकर उसमें भी आग लगा देते है। गले से कलाई तक की चमड़ी भी उतार देते है। गले से कुल्हे तक की चमड़ी भी उतार देते है। दोनों कोहनियों तथा दोनों घुटनों में खूँटा ठोक कर ज़मीन पर भी लिटा देते है। दोनों ओर से नुक़िले काँटे गाड़-गाड़कर चमड़ी माँस व नसें भी नचोट लेते है। सारे शरीर की चमड़ी को सिक्के-सिक्के भर भी छिलवाते है। शरीर को जहाँ-तहाँ शस्त्रों से पीटकर उसपर कंघी भी फेरते है। एक करवट लिटाकर कानों में खूँटा भी गाड़ देते है। चमड़ी को बिना हानि पहुँचाये भीतर ही भीतर हड्डी भी पीस डालते है। उबलता हुआ तेल भी डालते है। कुत्तों द्वारा नोच-नोच कर भी खिलवाते है। खूँटी घुसाकर सुली पर भी लटकाते है। और तलवार से सिर भी कटवाते है। फ़िर इसमें मौतें भी होती हैं, या मौत जैसी पीड़ा।

अब यह दुष्परिणाम, दुःख संग्रह, जो अभी यहीं दिखता है—कामुकता ही कारण है, कामुकता ही स्त्रोत है, कामुकता के ही परिणामस्वरूप है, उसकी वजह बस कामुकता ही है।

• आगे, कामुकता के कारण, कामुकता के स्त्रोत से, कामुकता के परिणामस्वरूप, जिसकी वजह बस कामुकता ही है—लोग **कायिक दुराचरण, वाचिक दुराचरण, मानसिक दुराचरण** में लिप्त

हो जाते हैं। दुराचरण में लिप्त होने पर **मृत्युपरांत** काया छूटने पर दयनीय लोक, दुर्गति, नीचे यातनालोक, नरक में उत्पन्न होते हैं।

अब यह दुष्परिणाम, दुःख संग्रह, जो अभी यहीं दिखता है—कामुकता ही कारण है, कामुकता ही स्त्रोत है, कामुकता के ही परिणामस्वरूप है, उसकी वजह बस कामुकता ही है।

काम-निकास «निस्सरण» क्या है?

कामुकता के प्रति **चाह व दिलचस्पी हटाना**, कामुकता के प्रति चाह व दिलचस्पी **त्याग देना**—बस यही कामुकता से बच निकलने का मार्ग है।

कोई श्रमण व ब्राह्मण इस तरह 'काम-प्रलोभन' जैसे हो, वैसे सही न पता करें, 'काम-दुष्परिणाम' जैसे हो, वैसे सही न पता करें, 'काम-निकास' जैसे हो, वैसे सही न पता करें, तब वे स्वयं कामुकता समझ पाए, या दूसरों को समझा पाए—असंभव है।

परंतु कोई श्रमण व ब्राह्मण इस तरह 'काम-प्रलोभन' जैसे हो, वैसे सही पता करें, 'काम-दुष्परिणाम' जैसे हो, वैसे सही पता करें, 'काम-निकास' जैसे हो, वैसे सही पता करें, तब वे स्वयं कामुकता समझ पाए, या दूसरों को समझा पाए—**यह संभव है।**

«मा.नि.१४ + सं.नि.३५:८२»

* * *

रूप-आकर्षण «अस्साद» क्या है?

कल्पना करो कि कोई पंद्रह या सोलह वर्ष की क्षत्रियकन्या हो, या ब्राह्मणकन्या हो, या गृहस्थकन्या हो—न बहुत लंबी, न बहुत नाटी। न बहुत पतली, न बहुत मोटी। न बहुत काली, न बहुत गोरी। क्या उसकी सुंदरता व मोहकता उस समय चरमस्थिति पर होगी?

'हाँ, भन्ते!"

उसकी सुंदरता व मोहकता पर आधारित जो **सुख व ख़ुशी** उत्पन्न हो—वही रूपों का आकर्षण होता है।

रूप में ख़ामी «आदीनव» क्या है?

कल्पना करो कि कोई उसी स्त्री को पश्चात देखें—अस्सी नब्बे या सौ वर्ष की बूढ़ी—ऊपरी शरीर टेढ़ा-मेढ़ा, झुका हुआ, लट्ठ के सहारे चलता या खड़ा, लक़वे से ग्रस्त, दर्द पीड़ा में, त्रस्त हो चुकी, दाँत टूट चुके, केश भूरे पड़ चुके, अर्ध गंजी या पूर्ण गंजी, काया पूर्णतः झुर्रिदार व धब्बेदार।

तो क्या लगता है, भिक्षुओं? क्या उसकी पूर्व सुंदरता व मोहकता ग़ायब हुई, और ख़ामी प्रकट हुई?

'हाँ, भन्ते!"

— यह भिक्षुओं, रूप में ख़ामी है। आगे कोई उस स्त्री को देखें—बीमार, गंभीर रोग से ग्रस्त, दर्द पीड़ा में कराहते, स्वयं के मलमूत्र में सनी, दूसरों द्वारा उठायी जाती, दूसरों द्वारा लिटायी जाती। तो क्या लगता है, भिक्षुओं? क्या उसकी पूर्व सुंदरता व मोहकता ग़ायब हुई, और ख़ामी प्रकट हुई?

'हाँ, भन्ते!"

— यह भी भिक्षुओं, रूप में ख़ामी है। और आगे कोई उसी स्त्री की लाश देखें—एक दिन पुरानी, दो दिन पुरानी, तीन दिन पुरानी—फूल चुकी; नीली पड़ चुकी; पीब रिसती। तो क्या लगता है, भिक्षुओं? क्या उसकी पूर्व सुंदरता व मोहकता ग़ायब हुई, और ख़ामी प्रकट हुई?

'हाँ, भन्ते!"

— यह भी भिक्षुओं, रूप में ख़ामी है। और आगे, कोई उसी स्त्री की लाश देखें—कौवों द्वारा नोची जाती, चीलों द्वारा नोची जाती, गिद्धों द्वारा नोची जाती, बगुलों द्वारा नोची जाती, कुत्तों द्वारा चबाई जाती, बाघ द्वारा चबाई जाती, तेंदुए द्वारा चबाई जाती, सियार द्वारा चबाई जाती, अथवा विविध जंतुओं द्वारा खायी जाती। तो क्या लगता है, भिक्षुओं? क्या उसकी पूर्व सुंदरता व मोहकता ग़ायब हुई, और ख़ामी प्रकट हुई?

'हाँ, भन्ते!"

— यह भी भिक्षुओं, रूप में ख़ामी है। और आगे, कोई उसी स्त्री की लाश देखें—

• मांसयुक्त, रक्त से सनी, नसों से बँधी, हड्डी-कंकालवाली...

• मांसरहित, रक्त से सनी, नसों से बँधी, हड्डी-कंकालवाली...

• मांसरहित, रक्तरहित, नसों से बँधी, हड्डी-कंकालवाली...

• मांसरहित, रक्तरहित, नसों से बिना बँधी, हड्डियां जहाँ-वहाँ बिखरी हुई—कही हाथ की हड्डी; कही पैर की; कही टखने की हड्डी; कही जाँघ की; कही कूल्हे की हड्डी; कही कमर की; कही पसली; कही पीठ की हड्डी; कही कंधे की हड्डी; कही गर्दन की; कही ठोड़ी की हड्डी; कही दाँत; कही खोपड़ी। तो क्या लगता है, भिक्षुओं? क्या उसकी पूर्व सुंदरता व मोहकता ग़ायब हुई, और ख़ामी प्रकट हुई?

'हाँ, भन्ते!"

— यह भी भिक्षुओं, रूप में ख़ामी है। और आगे, कोई उसी स्त्री को देखें—

• हड्डिया शंख जैसे सफ़ेद हो चुकी...

• वर्षों पश्चात हड्डियों का ढ़ेर लगा हुआ...

• हड्डिया सड़कर चूर्ण बन चुकी हो। तो क्या लगता है, भिक्षुओं? क्या उसकी पूर्व सुंदरता व मोहकता ग़ायब हुई, और ख़ामी प्रकट हुई?

'हाँ, भन्ते!"

— यह भी भिक्षुओं, रूप में ख़ामी है।

रूप-निकास «निस्सरण» क्या है?

रूप के प्रति **चाह व दिलचस्पी हटाना**, रूप के प्रति चाह व दिलचस्पी **त्याग देना**—बस यही रूप से निकलने का मार्ग है।

कोई श्रमण व ब्राह्मण इस तरह 'रूप-आकर्षण' जैसे हो, वैसे सही न पता करें, 'रूप-ख़ामी' जैसी हो, वैसे सही न पता करें, 'रूप-निकास' जैसे हो, वैसे सही न पता करें, तब वे स्वयं रुप समझ पाए, या दूसरों को समझा पाए—असंभव है।

परंतु कोई श्रमण व ब्राह्मण 'रुप-आकर्षण' जैसे हो, वैसे सही पता करें, 'रूप-ख़ामी' जैसी हो, वैसे सही पता करें, 'रूप-निकास' जैसे हो, वैसे सही पता करें, तब वे स्वयं रुप समझ पाए, या दूसरों को समझा पाए—**यह संभव है।**

«मा.नि.१३»

* * *

ज़रा देखों वह सुंदर तस्वीर—तट लगी, सड़ते फोड़ों का ढ़ेर।
रोगी, फ़िर भी नाना संकल्पों का आलंबन।
जहाँ कुछ टिकाव नही, निश्चित नही।
हड्डियों से बना नगर, रक्तमांस से ढका हुआ।
जिसका गुप्त खज़ाना है—घमंड कपट, बुढ़ापा मौत।

«धम्मपद १४७ + १५०»

* * *

'भय, पीड़ा, रोग, फोड़ा, तीर, गाँठ, दलदल, गर्भ' —
यह सारा वर्णन 'कामुकता' का है।

«सु.नि.१:३»

* * *

अपने **संकल्प के प्रति दिलचस्पी** ही पुरुष की कामुकता है।
न कि दुनिया में पाए जानेवाली चित्र-विचित्र कामुकताएँ।
अपने संकल्प के प्रति दिलचस्पी ही पुरुष की कामुकता है।
दुनिया की चित्र-विचित्रता जैसी हो, वैसी पड़ी रहती है।
ज्ञानी उनके प्रति मात्र **चाह** ख़त्म कर देता है।

«अं.नि.६:६३»

* * *

झान आहार

कामुकता जैसी हो, भले ही कोई वैसे पता कर देख चुका हो कि वह वाक़ई बड़ी कष्टप्रद है! बड़ी निराशाजनक है! जिसके दुष्परिणाम अधिक है! किंतु उसने जब तक ऐसी **प्रफुल्लता व सुख** न उपलब्ध किया हो, जो कामुकता के अलावा, अकुशल स्वभावों के अलावा मिलता हो, जो अधिक तृप्त करता हो—तब तक वह कामुकता द्वारा ललचाया जा सकता है।

परंतु कामुकता जैसी हो, वैसे कोई पता कर देख चुका हो कि वह वाक़ई बड़ी कष्टप्रद है! बड़ी निराशाजनक है! जिसके दुष्परिणाम अधिक है!—**साथ ही ऐसी प्रफुल्लता व सुख भी उपलब्ध**# किया हो, जो कामुकता के अलावा, अकुशल स्वभावों के अलावा मिलता हो, जो अधिक तृप्त करता हो—तब वह कामुकता द्वारा ललचाया नही जा सकता।

मैं भी जब संबोधि पूर्व केवल एक बोधिसत्व था, कामुकता जैसी हो, वैसे पता कर देख चुका था कि वह वाक़ई बड़ी कष्टप्रद होती है! बड़ी निराशाजनक होती है! जिसके दुष्परिणाम अधिक होते है! किंतु जब तक मैंने ऐसी प्रफुल्लता व सुख [=झान] न उपलब्ध किया, जो कामुकता के अलावा, अकुशल स्वभावों के अलावा मिलता हो, जो अधिक तृप्त करता हो—तब तक मैंने दावा नही किया कि मैं कामुकता से ललचाया नही जा सकता।

परंतु [पश्चात] जब मैंने... साथ ही ऐसी [झान की] प्रफुल्लता व सुख भी उपलब्ध कर लिया, जो कामुकता के अलावा, अकुशल स्वभावों के अलावा मिलता हो, जो अधिक तृप्त करता हो—तब जाकर मैंने दावा किया कि अब मैं कामुकता से ललचाया नही जा सकता।

«मा.नि.१४»

* * *

कुशल-सुख

पाँच कामगुणों पर आधारित जो भी [कायिक] सुख व [मानसिक] ख़ुशी मिलती है, उसे 'कामसुख' कहते है, 'घिनौना सुख' कहते है, 'देहाती सुख' कहते है, 'अनार्य सुख' कहते है। मैं कहता हूँ कि उस सुख के साथ नहीं जुड़ना चाहिए, उसे नहीं विकसित करना चाहिए, उसके पीछे नहीं पड़ना चाहिए।

आर्यमार्ग की परिपूर्णता सम्यकसमाधि 'झान-अवस्था' में मिलती प्रफुल्ल्लता और सुख, जिसे भगवान ने कुशल-सुख कहा, उससे कदापि डरने की ज़रूरत नहीं होती। क्योंकि वह पाप/अकुशल स्वभाव से न उत्पन्न होकर, सर्वोच्च कुशल-धर्म निर्लिप्तता, एकाग्रता और 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' की साधना करने से उत्पन्न होती है।

कामुकता की बार-बार लगती 'भूख-प्यास' मिटाने के लिए ऐसे वैकल्पिक 'धार्मिक-सुख' की नितांत आवश्यकता होती है, जो कुशल-आधारित हो, निष्पाप हो। भगवान झान-समाधि के ऐसे धार्मिक 'सुख-आहार' का सेवन करने, तथा अपने लिए हमेशा उपलब्ध करने के लिए प्रोत्साहन देते थे।

सीधी-सीधी बात है: भूख-प्यास सभी को लगती है। जिसे आहार-स्वरूप यह झान-सुख न उपलब्ध हो, वह लौटकर काम-सुख से ही अपनी भूख-प्यास मिटाता है। तब न वह कभी कामुकता से छूट पाता है, न ही आर्य-फ़ल, निर्वाण के क़रीब जा पाता।

बल्कि उससे भयभीत होना चाहिए। जबकि कुछ लोग कहते हैं कि 'दुनिया में महसूस होनेवाली सर्वोच्च 'सुख व ख़ुशी' बस यही [कामसुख] है।' किंतु मैं उनकी बात नहीं स्वीकार करता। क्योंकि उस सुख के अलावा भी अन्य सुख होता है, जो अधिक सुखद, अधिक उत्कृष्ट होता है। कौन-सा है वह सुख?

कोई भिक्षु काम से निर्लिप्त, अकुशल स्वभाव से निर्लिप्त—सोच व विचार के साथ निर्लिप्तता से जन्मे प्रफुल्लता व सुखवाले **प्रथम-झ्रान** में प्रवेश कर रहता है। इस सुख को 'संन्यास सुख' कहते है , 'निर्लिप्त सुख' कहते है , 'प्रशान्ति सुख' कहते है, 'संबोधि सुख' कहते है। मैं कहता हूँ कि इस सुख के साथ जुड़ना चाहिए, इसे विकसित करना चाहिए, इसके पीछे पड़ना चाहिए। इससे भयभीत नहीं होना चाहिए। यह सुख 'कामसुख' से अधिक सुखद एवं उत्कृष्ट होता है। तब कुछ लोग कहते हैं कि 'दुनिया में महसूस होनेवाली सर्वोच्च सुख व ख़ुशी बस यही [प्रथम-झ्रानसुख] है।' तो मैं उनकी भी बात नहीं स्वीकार करता। क्योंकि उस सुख के अलावा भी अन्य सुख होता है, जो अधिक सुखद, अधिक उत्कृष्ट होता है। कौन-सा है वह सुख?

द्वितीय-झ्रान सुख... तृतीय-झ्रान सुख... चतुर्थ-झ्रान सुख... अनंत आकाश-आयाम सुख... अनंत चैतन्यता-आयाम सुख... सूना-आयाम सुख... न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम सुख... इस सुख को 'संन्यास सुख' कहते है, 'निर्लिप्त सुख' कहते है , 'प्रशान्ति सुख' कहते है, 'संबोधि सुख' कहते है। मैं कहता हूँ कि इस सुख के साथ जुड़ना चाहिए, इसे विकसित करना चाहिए, इसके पीछे पड़ना चाहिए। इससे भयभीत नहीं होना चाहिए। यह सुख 'सूना-आयाम सुख' से अधिक सुखद, अधिक उत्कृष्ट होता है। अब कुछ लोग कहते हैं कि 'दुनिया में महसूस होनेवाली सर्वोच्च सुख व ख़ुशी बस यही [न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम सुख] है।' तो मैं उनकी भी बात नहीं स्वीकार करता। क्योंकि उस सुख के अलावा भी अन्य सुख होता है, जो अधिक सुखद, अधिक उत्कृष्ट होता है। कौन-सा है वह सुख?

भिक्षु न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम पूर्णतः लाँघकर नज़रिया-संवेदना **निरोध अवस्था** में प्रवेश करता है। इस सुख को 'संन्यास सुख' कहते है , 'निर्लिप्त सुख' कहते है , 'प्रशान्ति सुख' कहते है, 'संबोधि सुख' कहते है। मैं कहता हूँ कि इस सुख के साथ जुड़ना चाहिए, इसे विकसित करना चाहिए, इसके पीछे पड़ना चाहिए। इससे भयभीत नहीं होना चाहिए। यह सुख 'न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम सुख' से अधिक सुखद, अधिक उत्कृष्ट होता है।

«मा.नि.५९ + मा.नि.६६»

* * *

विपुलेन महग्गतेन चित्तेन

कामुकता अनित्य होती है, भिक्षुओं! तुच्छ होती है, झूठी होती है, धोखाधड़ी होती है! भ्रामक होती है! मूर्खों की बक़वास होती है! **कामुकता**—इस जीवन की हो या अगले जीवन की, **कामुक नज़रिए**—इस जीवन के हो या अगले जीवन के—दोनों मार का प्रभाव होते है, मार की दुनिया से आते है, मार का डाला चारा होते है, मार का कार्यक्षेत्र होते है। इसी पाप/अकुशल स्वभाव से 'लालच दुर्भावना और कलह' पैदा होती है। वह सीखते आर्यश्रावक की प्रगति रोकने मात्र के लिए ही उत्पन्न होते है।

तब आर्यश्रावक चिंतन करता है कि '**कामुकता**—इस जीवन की हो या अगले जीवन की, **कामुक नज़रिए**—इस जीवन के हो या अगले जीवन के—दोनों मार के प्रभाव में होते है, मार की दुनिया से आते है, मार का डाला चारा होते है, मार का कार्यक्षेत्र होते है। इसी पाप/अकुशल स्वभाव से लालच दुर्भावना और कलह पैदा होती है। वह सीखते आर्यश्रावक की प्रगति रोकने मात्र के लिए ही उत्पन्न होते है। क्यों न मैं ऐसा कामलोक पराभूत कर, मन पक्का बना ऐसे चित्त के साथ रहूँ, जो विस्तृत विशालकाय हो? ऐसा करके पाप/अकुशल स्वभाव—लालच दुर्भावना और कलह प्रकट न होंगे। उनसे छूटते-छूटते मेरा चित्त असीमित व अपरिमित होकर सुप्रतिष्ठित हो जाएगा।'

«मा.नि.१३»

★ ★ ★

६

अञ्ञ नीवरणप्पहान

~ दुर्भावना, बेचैनी और आलस्य का संपूर्ण परित्याग ~

ब्यापादप्पहान

[भिक्षुओं को संबोधकर भन्ते सारिपुत्त बताते है:]

नफ़रत «आघात» मिटाने के पाँच तरीक़े हैं मित्रों, जिनका उपयोग कर भिक्षु उत्पन्न नफ़रत पूर्णतः मिटा देता है। कौन-से पाँच? जब किसी व्यक्ति के प्रति नफ़रत जन्म ले, तब भिक्षु —

(१) उसके प्रति **मेत्ता की साधना** करता है। इस तरह नफ़रत मिट जाती है।

(२) उसके प्रति **करुणा की साधना** करता है। इस तरह नफ़रत मिट जाती है।

(३) उसके प्रति **तटस्थता की साधना** करता है। इस तरह नफ़रत मिट जाती है।

(४) भुला देता है, उसपर गौर नही करता **«असतिमनसिकार»**। इस तरह नफ़रत मिट जाती है।

(५) **कर्म के फ़ल-परिणाम पर चिंतन** करता है—'यह आयुष्मान अपने कर्मों का कर्ता है। अपने कर्मों का वारिस है। अपने कर्मों से योनि पाया है। अपने कर्मों द्वारा संबंधी है। अपने कर्मों पर निर्भर है। यह जो भी कर्म करेंगा—कल्याणकारी या पापपूर्ण—उसी का वारिस बनेगा।' इस तरह नफ़रत मिट जाती है।

नफ़रत मिटाने के यह पाँच तरीक़े होते है, जिनका उपयोग कर भिक्षु उत्पन्न नफ़रत पूर्णतः मिटा देता है।

• कुछ लोग 'कायिक-आचरण' में अशुद्ध होते है, किंतु 'वाचिक-आचरण' में शुद्ध। इस प्रकार के व्यक्ति के प्रति नफ़रत मिटा देनी चाहिए। कैसे?

जैसे कोई «पंसुकूलिक» भिक्षु फेंकी हुई वस्तुओं का उपयोग करता हो। उसे रास्ते में कपड़े का चिथड़ा दिखाई दे। तब वह दाएं पैर से एक हिस्सा दबोचे, बाएं पैर से फैलाकर, मात्र अच्छा हिस्सा ही फाड़कर अलग करें, और उसे उठाकर चल पड़े।

उसी तरह व्यक्ति के अशुद्ध कायिक-आचरण पर ध्यान न देकर, **मात्र शुद्ध वाचिक-आचरण पर ही ध्यान दे**। इस तरह उनके प्रति नफ़रत मिटा देनी चाहिए।

• कुछ लोग 'वाचिक-आचरण' में अशुद्ध होते है, किंतु 'कायिक-आचरण' में शुद्ध। इस प्रकार के व्यक्ति के प्रति नफ़रत मिटा देनी चाहिए। कैसे?

जैसे कोई जलाशय शैवाल व पौधों से घिरा हो। तब कोई व्यक्ति आए—गर्मी से बदहाल, पसीने से लथपथ, थका कपकपाता व प्यासा। वह जलाशय में उतरे, शैवाल व पौधें हाथों से दूर करें, चुल्लू से जल पीए, और निकलकर अपने रास्ते चल पड़े।

उसी तरह व्यक्ति के अशुद्ध वाचिक-आचरण पर ध्यान न देकर, **मात्र शुद्ध कायिक-आचरण पर ही ध्यान दे**। इस तरह उनके प्रति नफ़रत मिटा देनी चाहिए।

• कुछ लोग 'कायिक व वाचिक' दोनों आचरण में अशुद्ध होते है, किंतु समय-समय पर 'चित्त स्पष्टता व प्रशान्ति' महसूस करते है। इस प्रकार के व्यक्ति के प्रति नफ़रत मिटा देनी चाहिए। कैसे?

जैसे किसी रास्ते पर गाय के ख़ुर से बना जल भरा गड्ढा हो। तब कोई व्यक्ति आए—गर्मी से बदहाल, पसीने से लथपथ, थका कपकपाता व प्यासा। वह सोचे—'यह गाय के ख़ुर से बना जल भरा गड्ढा है। यदि मैं चुल्लू से जल उठाऊ, तो यह हिल जाए, उमड़ जाए, पीने-योग्य न बचे। क्यों न मैं नीचे झुक, गाय की भाँति सुड़कते हुए जल पीऊँ, और अपने रास्ते चल पड़ूँ?' तब वह नीचे झुक, गाय की भाँति सुड़कते हुए जल पीए, और अपने रास्ते चल पड़े।

उसी तरह उनके दोनों अशुद्ध कायिक व वाचिक आचरण पर ध्यान न देकर, **मात्र समय-समय पर चित्त स्पष्टता और प्रशान्ति महसूस करने पर ही ध्यान दे**। इस तरह उनके प्रति नफ़रत मिटा देनी चाहिए।

• कुछ लोग 'कायिक व वाचिक' दोनों आचरण में अशुद्ध होते है, और समय-समय पर 'चित्त स्पष्टता व प्रशान्ति' भी नही महसूस करते। इस प्रकार के व्यक्ति के प्रति भी नफ़रत मिटा देना चाहिए। कैसे?

जैसे कोई बीमार, दर्द से पीड़ित, गंभीर रोग से ग्रस्त, रास्ते से यात्रा कर रहा हो—अगले गाँव से दूर, पिछले गाँव से भी दूर। न योग्य भोजन पा सके, न दवाई। न योग्य सेवा करनेवाला पा सके, न कोई बस्ती ले जानेवाला। तब कोई यात्री उस बीमार को देखें। वह यात्री बीमार के प्रति दया करुणा व सहानुभूति के मारे जो बनेगा वह करेंगा, सोचते हुए, 'अरे! इसे योग्य भोजन मिल जाए! दवाई मिल जाए! कोई सेवा करनेवाला मिल जाए! बस्ती ले जानेवाला मिल जाए! क्यों? ताकि उसका यही विनाश न हो!'

उसी तरह ऐसे व्यक्ति के प्रति **दया करुणा व सहानुभूति के मारे जो बने वह करें,** सोचते हुए, 'अरे, यह व्यक्ति कायिक-दुराचरण त्याग दे, कायिक-सदाचरण का अभ्यास करें! वाचिक-दुराचरण त्याग दे, वाचिक-सदाचरण का अभ्यास करें! मानसिक-दुराचरण त्याग दे, मानसिक-सदाचरण का अभ्यास करें! क्यों? ताकि वह काया छूटने पर मृत्युपरांत दयनीय-लोक, दुर्गति, नीचे यातना-लोक, नरक में न उत्पन्न हो!' इस तरह उनके प्रति नफ़रत मिटा देनी चाहिए।

• कुछ लोग 'कायिक व वाचिक' दोनों आचरण में शुद्ध होते है, और समय-समय पर 'चित्त स्पष्टता और प्रशान्ति' भी महसूस करते है। इस प्रकार के व्यक्ति के प्रति नफ़रत मिटा देनी चाहिए। कैसे?

जैसे कोई स्वच्छ जलाशय हो—मीठा शीतल पारदर्शक, धीमी ढ़लानवाला तट, सभी दिशाओं से अनेक पेड़ों द्वारा आच्छादित। तब कोई व्यक्ति आए—गर्मी से बदहाल, पसीने से लथपथ, थका कपकपाता व प्यासा। वह उस जलाशय में उतरे, नहाए, जल पीए तथा बाहर निकलकर वही पेड़ों की छायातले बैठे या लेट जाए।

उसी तरह उस समय व्यक्ति के दोनों **शुद्ध कायिक व वाचिक आचरण पर ही ध्यान दे,** और उसके **समय-समय पर चित्त स्पष्टता और प्रशान्ति महसूस करने पर ही ध्यान दे**। चूँकि ऐसा प्रेरणादायक व्यक्ति चित्त शांत कर सकता है। इस तरह उनके प्रति नफ़रत मिटा देनी चाहिए।

«अं.नि.५:१६१ + ५:१६२»

*** * ***

ककचूपम ओवाद

भिक्षुओं, यह **उचित नही** कि तुम जैसे कुलपुत्र श्रद्धापूर्वक घर से बेघर होकर, प्रवज्यित होकर भिक्षुणियों के साथ अधिक समय व्यतीत करो।

• भिक्षुओं, यदि तुम्हारे समक्ष भिक्षुणियों को कोई **अपशब्द कहे,** तब उसी समय उसी जगह तुम्हें गृहस्थों जैसी चाह, गृहस्थों जैसी सोच त्याग देनी चाहिए। और सीखना चाहिए कि—'मेरा चित्त अप्रभावित ही रहेगा, और मैं कोई पापी शब्द नही बोलूँगा। मैं अपशब्द बोलनेवाले व्यक्ति के भलाई के लिए सहानुभूति रखूँगा—मैत्री चित्त के साथ, बिना भीतरी द्वेष पाले।' इस तरह तुम्हें सीखना चाहिए।

• और यदि तुम्हारे समक्ष भिक्षुणियों को कोई **हाथ पत्थर डंडा या चाकू से वार करें,** तब उसी समय उसी जगह तुम्हें गृहस्थों जैसी चाह, गृहस्थों जैसी सोच त्याग देनी चाहिए। और सीखना चाहिए कि—'मेरा चित्त अप्रभावित ही रहेगा, और मैं कोई पापी शब्द नही बोलूँगा। मैं अपशब्द बोलनेवाले व्यक्ति के भलाई के लिए सहानुभूति रखूँगा—मैत्री चित्त के साथ, बिना भीतरी द्वेष पाले।' इस तरह तुम्हें सीखना चाहिए।

• और यदि तुम्हारे समक्ष कोई **तुम्हें भी अपशब्द कहे**, तब उसी समय उसी जगह तुम्हें गृहस्थों जैसी चाह, गृहस्थों जैसी सोच त्याग देनी चाहिए। और सीखना चाहिए कि—'मेरा चित्त अप्रभावित ही रहेगा, और मैं कोई पापी शब्द नही बोलूँगा। मैं अपशब्द बोलनेवाले व्यक्ति के भलाई के लिए सहानुभूति रखूँगा—मैत्री चित्त के साथ, बिना भीतरी द्वेष पाले।' इस तरह तुम्हें सीखना चाहिए।

• और यदि कोई **तुम्हें भी हाथ पत्थर डंडा या चाकू से वार करें**, तब उसी समय उसी जगह तुम्हें गृहस्थों जैसी चाह, गृहस्थों जैसी सोच त्याग देनी चाहिए। और सीखना चाहिए कि—'मेरा चित्त अप्रभावित ही रहेगा, और मैं कोई पापी शब्द नही बोलूँगा। मैं अपशब्द बोलनेवाले व्यक्ति के भलाई के लिए सहानुभूति रखूँगा—मैत्री चित्त के साथ, बिना भीतरी द्वेष पाले।' इस तरह तुम्हें सीखना चाहिए।

भिक्षुओं, पहले के भिक्षु मेरे चित्त को कैसे संतुष्ट करते थे! एक समय था, जब मैंने भिक्षुओं से कहा—'भिक्षुओं, मैं [दिन में] एक ही बार भोजन करता हूँ। एक ही बार भोजन कर मुझे लगभग कोई रोग, कोई पीड़ा नही दिखती; बल्कि हल्कापन, शक्ति और राहतपूर्ण दिन बीतता है। तुम भी एक ही बार भोजन करो! एक ही बार भोजन कर तुम्हें भी लगभग कोई रोग, कोई पीड़ा नही दिखेगी; बल्कि हल्कापन, शक्ति और राहतपूर्ण दिन बीतेगा।" मुझे उन भिक्षुओं को अनुशासन [नियम] नही देना पड़ा। मात्र स्मरण कराना पड़ा।

कल्पना करो कि समतल भूमि में चौराहे पर उत्तम-घोड़ों से जुता एक रथ हो, चाबुक के साथ तैयार—ताकि कोई निपुण रथाचार्य, अश्व दमन करनेवाला सारथी चढ़कर, बाए हाथ में लगाम पकड़, दाए हाथ में चाबुक ले, जहाँ चाहे, जिधर चाहे, निकल पड़े और लौट आए। उसी तरह मुझे उन भिक्षुओं को अनुशासन नही देना पड़ा। मात्र स्मरण कराना पड़ा।

भिक्षुओं, तुम्हें भी अकुशल का त्याग करना चाहिए, और कुशल के प्रति निश्चयबद्ध होना चाहिए। तब तुम भी इस धम्म-विनय में वृद्धि विपुलता व प्रगति प्राप्त करोगे।

कल्पना करो कि गाँव या नगर के समीप कोई बड़ा शालवन झाड़-झंखाड़ व लताओं से जकड़ा हुआ हो। उसका कोई भला चाहनेवाला, हित चाहनेवाला, योगबन्धन से सर्वोपरि राहत चाहनेवाला पुरुष आए। वह शालवृक्षों का पोषण चुरानेवाली लताएँ व झाड़-झंखाड़ काटकर बाहर फ़ेक आए। वन का भीतरी भाग साफ़ कर दे। और जो शाल शाखाएँ ठीक निकली हो, उन्हें अच्छी तरह रखे। पश्चात वह शालवन वृद्धि विपुलता व प्रगति प्राप्त करेंगा।

उसी तरह भिक्षुओं, तुम्हें भी अकुशल का त्याग करना चाहिए, और कुशल के प्रति निश्चयबद्ध होना चाहिए। तब तुम भी इस धम्म-विनय में वृद्धि विपुलता व प्रगति प्राप्त करोगे।

इसी श्रावस्ती की बात है—यहाँ एक समय **वेदेहिका** नामक गृहिणी रहती थी। उस गृहिणी वेदेहिका के बारे में यह अच्छी ख़बर फैली थी—'सभ्य है गृहिणी वेदेहिका! सौम्य है गृहिणी वेदेहिका! शान्त है गृहिणी वेदेहिका!'

गृहिणी वेदेहिका की एक दासी थी—**काली**—जो काम तेज़ निपुणता व सफ़ाई से करती थी।

उस काली ने सोचा—'मेरी मालकिन गृहिणी वेदेहिका के बारे में यह अच्छी ख़बर फैली है—'सभ्य है गृहिणी वेदेहिका! सौम्य है गृहिणी वेदेहिका! शान्त है गृहिणी वेदेहिका!' क्या उसमें गुस्सा छिपा है या नही? या मैं केवल काम तेज़ निपुणता व सफ़ाई से करती हूँ, इसलिए उसका छिपा गुस्सा दिखता नही? क्यों न मैं उसकी परीक्षा लूँ?'

तब काली दासी दिन चढ़ने पर उठी। गृहिणी वेदेहिका ने कहा —'ऐ काली!"

'हाँ मालकिन?"

'दिन चढ़ने पर क्यों उठी?"

'मालकिन, यूँ ही!"

'यूँ ही, कमीनी दासी? बिना कारण दिन चढ़ने पर उठती है?"—नाराज़ व गुस्सा होकर उसने भौंए चढ़ा ली।

तब काली दासी को लगा—'मालकिन में छिपा हुआ गुस्सा तो **है!** ऐसा नही कि नहीं! और मैं केवल काम तेज़ निपुणता व सफ़ाई से करती हूँ, इसलिए उसका छिपा गुस्सा दिखता नहीं। क्यों न मैं उसकी और परीक्षा लूँ?'

तब काली दासी दिन में अधिक देरी से उठी। गृहिणी वेदेहिका ने कहा —'ऐ काली!"

'हाँ मालकिन?"

'दिन में इतनी देरी से क्यों उठी?"

'मालकिन, यूँ ही!"

'यूँ ही, कमीनी दासी? बिना कारण इतनी देरी से उठती है?"—नाराज़ व गुस्सा होकर वह बड़बड़ाने लगी।

तब काली दासी को लगा—'मालकिन में छिपा हुआ गुस्सा तो बहुत **है!** ऐसा नही कि नहीं! और मैं केवल काम तेज़ निपुणता व सफ़ाई से करती हूँ, इसलिए उसका छिपा गुस्सा दिखता नहीं। क्यों न मैं उसकी और अधिक परीक्षा लूँ?'

तब काली दासी दिन में बहुत देरी से उठी। गृहिणी वेदेहिका ने कहा —'ऐ काली!"

'हाँ मालकिन?"

'दिन में बहुत देरी से क्यों उठी?"

'मालकिन, यूँ ही!"

'यूँ ही, कमीनी दासी? बिना कारण बहुत देरी से उठती है?"—नाराज़ व गुस्सा होकर उसने बेलन उठाया, और उसके सिर पर दे मारा। काली का सिर फ़ट गया।

तब काली दासी चीखते हुए, रक्त बहते सिर के साथ पड़ोसियों की ओर भागी —'देखों औरतों! देखों **सभ्य** गृहिणी की हस्तकृति! देखों देखों, **सौम्य** गृहिणी की हस्तकृति! देखों देखों, **शांत** गृहिणी की हस्तकृति! मात्र दिन चढ़ने पर ही उठी, तो वह कैसे गुस्सा होकर मेरा सिर बेलन से फोड़ सकती है?"

उसके बाद गृहिणी वेदेहिका के बारे में बुरी ख़बर फैल गई—'**चण्डी** है गृहिणी वेदेहिका! **ग़ुस्सैल** है गृहिणी वेदेहिका! **हिंसक** है गृहिणी वेदेहिका!'

उसी तरह भिक्षुओं, कोई भिक्षु बड़ा सभ्य हो सकता है! बड़ा सौम्य हो सकता है! बड़ा शांत हो सकता है!—जब तक उसे अप्रिय वचन न छूते हो। किंतु जब उसे अप्रिय वचन छुए, तब वाक़ई पता चलता है कि वह कितना सभ्य है! कितना सौम्य है! कितना शांत है!

मैं उस भिक्षु को **आज्ञाधारक** «सुवचो» नही समझता—जो मात्र चीवर, भिक्षा, निवास या भैषज्य के कारण आज्ञा सुनता हो, या स्वयं को आज्ञाधारक बनाता हो। क्योंकि यदि कभी उसे चीवर, भिक्षा, निवास या भैषज्य न मिले, तब वह न आज्ञा सुनेगा, न स्वयं को आज्ञाधारक बनाएगा।

हालाँकि कोई भिक्षु यदि **धर्म के प्रति आदर व सम्मान** के कारण, **धर्म को मानने व पूजने के कारण** आज्ञा सुनता हो, या स्वयं को आज्ञाधारक बनाता हो, तब मैं उसे 'आज्ञाधारक' समझता हूँ।

इसलिए भिक्षुओं, तुम्हें सीखना चाहिए—'हम धर्म के प्रति आदर व सम्मान के कारण, धर्म को मानने व पूजने के कारण आज्ञा सुनेंगे, या स्वयं को आज्ञाधारक बनाएंगे।'

भिक्षुओं, **पाँच तरह के वचन** से तुम्हें कोई चेता सकता है—मौका-बेमौका, सच-झूठ, स्नेहपूर्ण-कटु, हितकर-अहितकर, मैत्री-नफ़रतभरे चित्त से।

अर्थात भिक्षुओं, कोई तुम्हें 'मौका देखकर सही समय पर' चेता सकता है, या बेमौक़े पर। कोई तुम्हें 'सच्चाई' के साथ संबोध सकता है, या झूठ के साथ। कोई तुम्हें 'स्नेहपूर्ण ढंग' से संबोध सकता है, या कटुतापूर्ण ढंग से। कोई तुम्हें 'हितकारक बात' कह सकता है, या अहितकर। कोई तुम्हें 'मैत्रीभरे चित्त' से संबोध सकता है, या नफ़रतभरे चित्त से।

तब भिक्षुओं, तुम्हें सीखना चाहिए कि—'किसी भी तरह का वचन सुनते हुए हमारा चित्त अप्रभावित ही रहेगा। हम कोई पापी शब्द नहीं बोलेंगे। हम उस व्यक्ति के भलाई के लिए सहानुभूति रखेंगे—मैत्री चित्त के साथ, बिना भीतरी द्वेष पाले। हम उसपर मैत्री भरा मानस फैलाएँगे, और उससे शुरु कर फ़िर दुनिया में सर्वत्र ऐसा मानस फैलाएँगे—जो मैत्री भरा, विस्तृत विशालकाय अपरिमित बैरमुक्त व दुर्भावनामुक्त हो।' इस तरह तुम्हें सीखना चाहिए।

• कल्पना करो कि एक पुरुष कुदाल व टोकरी लेकर आए, कहते हुए—'मैं इस **विशालकाय पृथ्वी को पृथ्वीरहित** बना दूँगा!' फ़िर वह यहाँ-वहाँ खोदने लगे, यहाँ-वहाँ मिट्टी बिखराने लगे, यहाँ-

वहाँ थूकने लगे, यहाँ-वहाँ पेशाब करने लगे, कहते हुए—'पृथ्वीरहित हो जा! पृथ्वीरहित हो जा!' तो तुम्हें क्या लगता है? क्या वह इस विशालकाय पृथ्वी को पृथ्वीरहित बना पाएगा?

'कदापि नही, भगवान। क्योंकि यह विशालकाय पृथ्वी गहरी और विराट है। इसे आसानी से पृथ्वीरहित नही बनाया जा सकता। वह पुरुष मात्र थकान व निराशा के अलावा कुछ हासिल न कर पाएगा।"

उसी तरह भिक्षुओं... तुम्हें सीखना चाहिए कि 'किसी भी तरह का वचन सुनते हुए हमारा चित्त अप्रभावित ही रहेगा। हम कोई पापी शब्द नहीं बोलेंगे। हम उस व्यक्ति के भलाई के लिए सहानुभूति रखेंगे—मैत्री चित्त के साथ, बिना भीतरी द्वेष पाले। हम उसपर मैत्री भरा मानस फैलाएँगे, और उससे शुरु कर फ़िर दुनिया में सर्वत्र ऐसा मानस फैलाएँगे—जो मैत्री भरा, विस्तृत विशालकाय अपरिमित बैरमुक्त व दुर्भावनामुक्त हो।'

• कल्पना करो कि कोई पुरुष 'लाख हल्दी नील या लालिमा' लेकर आए, कहते हुए—'मैं **आकाश में चित्र** बनाऊँगा, चित्र प्रकट करूँगा।' तो तुम्हें क्या लगता है? क्या वह आकाश में चित्र बना पाएगा, चित्र प्रकट कर पाएगा?

'कदापि नही, भगवान। क्योंकि आकाश अरूप है, बिना सतहवाला। वहाँ चित्र बनाना, चित्र प्रकट करना आसान नही। वह पुरुष मात्र थकान व निराशा के अलावा कुछ हासिल न कर पाएगा।"

उसी तरह भिक्षुओं... तुम्हें सीखना चाहिए कि 'किसी भी तरह का वचन सुनते हुए हमारा चित्त अप्रभावित ही रहेगा। हम कोई पापी शब्द नहीं बोलेंगे। हम उस व्यक्ति के भलाई के लिए सहानुभूति रखेंगे—मैत्री चित्त के साथ, बिना भीतरी द्वेष पाले। हम उसपर मैत्री भरा मानस फैलाएँगे, और उससे शुरु कर फ़िर दुनिया में सर्वत्र ऐसा मानस फैलाएँगे—जो मैत्री भरा, विस्तृत विशालकाय अपरिमित बैरमुक्त व दुर्भावनामुक्त हो।'

• कल्पना करो कि कोई पुरुष जलती घास की मशाल लेकर आए, कहते हुए—'मैं इस **मशाल से गंगा नदी तपा** दूँगा, उबाल दूँगा।' तो तुम्हें क्या लगता है? क्या वह पुरुष उस मशाल से गंगा नदी को तपा पाएगा, उबाल पाएगा?

'कदापि नही, भगवान। क्योंकि गंगा नदी गहरी और विराट है। उसे घास की जलती मशाल से तपाना, उबालना आसान नही। वह पुरुष मात्र थकान व निराशा के अलावा कुछ हासिल न कर पाएगा।"

उसी तरह भिक्षुओं... तुम्हें सीखना चाहिए कि 'किसी भी तरह का वचन सुनते हुए हमारा चित्त अप्रभावित ही रहेगा। हम कोई पापी शब्द नहीं बोलेंगे। हम उस व्यक्ति के भलाई के लिए सहानुभूति रखेंगे—मैत्री चित्त के साथ, बिना भीतरी द्वेष पाले। हम उसपर मैत्री भरा मानस फैलाएँगे, और उससे शुरु कर फ़िर दुनिया में सर्वत्र ऐसा मानस फैलाएँगे—जो मैत्री भरा, विस्तृत विशालकाय अपरिमित बैरमुक्त व दुर्भावनामुक्त हो।'

• कल्पना करो कि बिल्ली के चमड़ी से बनी एक थैली हो—पीटी गई, भलीभाँति पीटी गई, बहुत-बहुत पीटी गई; मृदु, रेशमी सरसराने-चटकानेवाले आवाज़ से पूर्णतः मुक्त। और एक पुरुष डंडा व ठीकरा लेकर आए, कहते हुए—'इस डंडे व ठीकरें से मैं थैली को सरसराऊँगा, चटकाऊँगा।' तो तुम्हें क्या लगता है? क्या वह पुरुष उस बिल्ली के चमड़ी से बनी थैली को सरसरा पाएगा, चटका पाएगा?

'कदापि नही, भगवान। क्योंकि बिल्ली के चमड़ी से बनी थैली, जो पीटी गई, भलीभाँति पीटी गई, बहुत-बहुत पीटी गई हो; मृदु, रेशमी सरसराने-चटकानेवाले आवाज़ से पूर्णतः मुक्त हो, उसे डंडे व ठीकरें से सरसराना, चटकाना आसान नही। वह पुरुष मात्र थकान व निराशा के अलावा कुछ हासिल न कर पाएगा।"

उसी तरह भिक्षुओं... तुम्हें सीखना चाहिए कि 'किसी भी तरह का वचन सुनते हुए हमारा चित्त अप्रभावित ही रहेगा। हम कोई पापी शब्द नहीं बोलेंगे। हम उस व्यक्ति के भलाई के लिए सहानुभूति रखेंगे—मैत्री चित्त के साथ, बिना भीतरी द्वेष पाले। हम उसपर मैत्री भरा मानस फैलाएँगे, और उससे शुरु कर फ़िर दुनिया में सर्वत्र ऐसा मानस फैलाएँगे—जो मैत्री भरा, विस्तृत विशालकाय अपरिमित बैरमुक्त व दुर्भावनामुक्त हो।'

• भिक्षुओं, भले ही चोर-डाकू दो मूँठवाली आरी लेकर तुम्हारा अंगप्रत्यंग काटें, तब भी आप में से जो चित्त दूषित करेंगा—वह मेरा आज्ञाधारक नही। तब भी तुम्हें सीखना चाहिए—'हमारा चित्त अप्रभावित ही रहेगा। हम कोई पापी शब्द नहीं बोलेंगे। हम उस व्यक्ति के भलाई के लिए सहानुभूति रखेंगे—मैत्री चित्त के साथ, बिना भीतरी द्वेष पाले। हम उसपर मैत्री भरा मानस फैलाएँगे, और उससे शुरु कर फ़िर दुनिया में सर्वत्र ऐसा मानस फैलाएँगे—जो मैत्री भरा, विस्तृत विशालकाय अपरिमित बैरमुक्त व दुर्भावनामुक्त हो।'

भिक्षुओं, यदि आप इस **आरी की उपमावाली आज्ञा** पर निरंतर चिंतनशील रहे, तो वचन का कोई छोटा-बड़ा पहलू देखते हो, जिसे बर्दाश्त न कर पाओ?

'नही, भगवान।"

— तब इस 'आरी की उपमावाली आज्ञा' पर निरंतर चिंतनशील रहो, भिक्षुओं। वह तुम्हारे दीर्घकालीन हित व सुख के लिए होगा।

«मा.नि.२१»

* * *

[सारिपुत्त भन्ते धर्मदेशना देते हुए भिक्षुओं को कहते है:]

भिक्षुओं, यदि कोई आपका अपमान करें, गाली-गलौज, कुपित या पीड़ित करें, तब आप समझे—'कानसंपर्क से जन्मी एक दुखद संवेदना उत्पन्न हुई है। और वह कारणपूर्ण उत्पन्न हुई, अकारण नही। किस कारण? **संपर्क के कारण**।'

आप देखें: 'किंतु संपर्क अनित्य होते है। संवेदना अनित्य होती है। नज़रिए अनित्य होते है। चैतन्यता अनित्य होती है।' यूँ देखकर आपका चित्त धातु-आलंबन से ऊपर उठेगा; आश्वस्त व स्थिर होकर विमुक्त हो जाएगा।

भिक्षुओं, यदि कोई आपके साथ अनचाहे प्रतिकूल अप्रिय तरीक़े से बर्ताव करें—जैसे मुक्के, पत्थर, डंडे या चाकू से स्पर्श करें। तब आप समझे: 'अरे! यह काया ऐसी ही होती है कि जिसका मुक्के, पत्थर, डंडे या चाकू से स्पर्श होते रहते हैं। भगवान ने 'आरी की उपमावाली आज्ञा' «ककचूपम ओवाद» में कहा, 'भिक्षुओं, यदि चोर-डाकू दो मूँठवाली आरी लेकर तुम्हारा अंगप्रत्यंग काटें, तब भी आप में से जो चित्त दूषित करेंगा—वह मेरा आज्ञाधारक नही।"

इसलिए भिक्षुओं, [प्रयास करिए:] मेरी **ऊर्जा**—अथक व जागृत रहे। मेरी **स्मरणशीलता**—स्थापित व अ-धुँधली रहे। मेरी **काया**—प्रशान्त व अनुत्तेजित रहे। मेरा **चित्त**—समाहित व एकाग्र रहे। तब चाहे इस काया का मुक्के, पत्थर, डंडे या चाकू से स्पर्श होते रहे। इसी तरह बुद्ध का आज्ञापालन होगा।'

जैसे कोई बहू अपने ससुर को देखकर आशंकित होती है, संवेग जगाती है। उसी तरह बुद्धस्मरण धर्मस्मरण व संघस्मरण करते हुए भिक्षु को यदि कुशलता पर आधारित **तटस्थता** न स्थापित हो, तब वह आशंकित हो, संवेग जगाए: 'अरे! यह मेरी हानि है, लाभ नही! मेरा दुर्लाभ है, सुलाभ नही! जो मुझे बुद्ध धर्म व संघ का स्मरण करते हुए भी कुशलता पर आधारित तटस्थता स्थापित नही हुई!'

किंतु यदि बुद्ध धर्म व संघ का स्मरण करते हुए उसे कुशलता पर आधारित तटस्थता स्थापित हो जाए, तब वह संतुष्ट हो जाए।

«मा.नि.२८»

*** * ***

जन्म-जन्मांतरण की शुरुवात सोच के परे है, भिक्षुओं। संसरण की निश्चित शुरुवात पता नही चलती, परंतु अविद्या में डूबे, तृष्णा में फँसे सत्व जन्म-जन्मांतरण में भटक रहे हैं। ऐसा सत्व मिलना आसान नहीं, जो अतीतकाल में कभी तुम्हारी **माँ** न रही हो... तुम्हारा **पिता** न रहा हो... तुम्हारी **बहन** न रही हो... तुम्हारा **भाई** न रहा हो... तुम्हारी **पुत्री** न रही हो... तुम्हारा **पुत्र** न रहा हो।

क्यों? क्योंकि जन्म-जन्मांतरण की शुरुवात सोच के परे है। संसरण की निश्चित शुरुवात पता नही चलती, परंतु अविद्या में डूबे, तृष्णा में फँसे सत्व जन्म-जन्मांतरण में भटक रहे हैं। यूँ दीर्घ.. दीर्घकाल तक आप इतना दुःख ले चुके, इतना दर्द ले चुके, इतना ग़म उठा चुके, इतने श्मशान भर चुके—जो [दुनिया के] समस्त रचनाओं के प्रति **मोहभंग** होने के लिए पर्याप्त है, **वैराग्य** लाने के लिए पर्याप्त है, **विमुक्ति** पाने के लिए पर्याप्त है।

«सं.नि.१५:१४ ~ १५:१९»

* * *

‘उसने मेरा अपमान किया! मारा! हराया! लूट लिया!’
जो इसी में उलझे होते है, उनका बैर शान्त नही होता।
जो इस में नही उलझते, उनका बैर शान्त हो जाता है।
बैर से बैर शान्त नही होता।
अ-बैर से बैर शान्त होता है—यही धर्म सनातन है।

«धम्मपद ३ + ४ + ५»

* * *

जीत बैर को जन्म देती है।
और हार दुःख में डुबाती है।
हज़ारों-हज़ारों व्यक्तियों से लड़कर जीतने से बेहतर है
केवल एक व्यक्ति पर जीत हासिल करना—स्वयं पर!
दूसरों के बजाय स्वयं को जीतना बेहतर है।
जब आप स्वयं को सिखा चुके हो,
अथक आत्मसंयम से रहते हो,
तब न देव, न गंधर्व, न ब्रह्म, न ही मार
वह जीत दुबारा हार में बदल सकता है।

«धम्मपद २०१ + १०३ + १०४+ १०५»

* * *

थिनमिद्धंप्पहान

एक समय भगवान भग्गों के साथ भेसकला मृगवन में मगरमच्छ-अड्डे के समीप विहार कर रहे थे। उस समय [बोधिपूर्व] भन्ते महामोग्गलान मगध के कल्लवलपुत्र गाँव के समीप [शायद ध्यानमुद्रा में] बैठकर **ऊँघ रहे** «पचलायमानो» थे।

भगवान ने महामोग्गलान भन्ते को अपने मनुष्योत्तर विशुद्ध दिव्यचक्षु से ऊँघते हुए देखा। तब जैसे कोई बलवान पुरुष अपनी सिकोड़ी-बाँह पसारे, या पसारी-बाँह सिकोड़े—भगवान मृगवन से गायब होकर महामोग्गलान भन्ते के ठीक सामने प्रकट हुए, और बिछे आसन पर बैठ गए। बैठे हुए उन्होंने महामोग्गलान भन्ते से पूछा 'तुम ऊँघ रहे हो, मोग्गलान? तुम ऊँघ रहे हो?"

'हाँ, भन्ते।"

• अच्छा मोग्गलान, जब तंद्रा आने लगे, तब [जिस तरह आलंबन पता चले] **उस नज़रिए पर ध्यान मत दो**। उस नज़रिए के पीछे मत पड़ो। संभव है ऐसा करके तुम तंद्रा हटा पाओगे।

• किंतु ऐसा करके यदि तुम तंद्रा न हटा पाए, तब अपने मानस में सुना, याद किया धर्म-विषय ले आओ, और उसपर पुनर्विचार करो। मन में **चिंतन-मनन करने लगो**। संभव है ऐसा करके तुम तंद्रा हटा पाओगे।

• किंतु ऐसा करके यदि तुम तंद्रा न हटा पाए, तब सुना, याद किया धर्म विस्तारपूर्वक **पठन करो**। संभव है ऐसा करके तुम तंद्रा हटा पाओगे।

• किंतु ऐसा करके यदि तुम तंद्रा न हटा पाए, तब अपने **दोनों कान खींचो और हाथों से शरीर मलो**। संभव है ऐसा करके तुम तंद्रा हटा पाओगे।

• किंतु ऐसा करके यदि तुम तंद्रा न हटा पाए, तब **आसन से उठो**। आँखे जल से धोकर सभी दिशाएँ देखो, ऊपर तारे-नक्षत्र देखो। संभव है ऐसा करके तुम तंद्रा हटा पाओगे।

• किंतु ऐसा करके यदि तुम तंद्रा न हटा पाए, तब **उजाला देखने लगो** «आलोकसञ्ञी»। 'उजला दिन है'—इस नज़रिए का अधिष्ठान लो—रात में दिन जैसा रहना, और दिन में रात जैसा। इस तरह खुले, बिना-अवरोधपूर्ण मानस के साथ चित्त को उजालेदार बनाने का अभ्यास करो। संभव है ऐसा करके तुम तंद्रा हटा पाओगे।

• किंतु ऐसा करके यदि तुम तंद्रा न हटा पाए, तब आगे-पीछे [निश्चित दूरी] पहचानकर, **चलित-ध्यान** «चङ्कमं» करो। इंद्रिय भीतर की ओर रहे, मानस बाहर न भटके! संभव है ऐसा करके तुम तंद्रा हटा पाओगे।

• इतना करने पर भी यदि तुम तंद्रा न हटा पाए, तब दायी करवट लेटते हुए **सिंहशय्या धारण करो**—पैर पर पैर रख, स्मरणशील सचेत हो, उठने पर «उट्ठानसञ्ञं» गौर करो। जैसे ही जागो,

तुरंत उठ जाओ [सोचते हुए] 'मैं न नींद-सुख में, न लेटने के सुख में, न ही तंद्रा-सुख में लिप्त होऊँगा।'

— इस तरह मोग्गलान तुम्हें सीखना चाहिए।

«अं.नि.७:६१»

* * *

कुसितआरद्धवत्थु

भिक्षुओं, **आलस करने के आठ बहाने** है —

(१) ऐसा होता है कि किसी भिक्षु को कोई काम करना होता है, तो वह सोचता है—'मुझे यह काम करना है। किंतु जब मैं यह काम करूँगा, तो मेरा शरीर थक जाएगा। क्यों न मैं थोड़ा लेट जाऊँ?'

तब वह लेट जाता है। और कोई ऊर्जा नही जगाता—अब तक न प्राप्त [अवस्था] की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुंचे [अवस्था] तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए [अवस्था] के साक्षात्कार के लिए।

(२) ऐसा होता है कि कोई भिक्षु कोई काम कर लेता है, तो वह सोचता है—'मैंने यह काम किया। किंतु जब मैंने यह काम किया, तो मेरा शरीर थक गया। क्यों न मैं थोड़ा लेट जाऊँ?'

तब वह लेट जाता है। और कोई ऊर्जा नही जगाता—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए।

(३) ऐसा होता है कि किसी भिक्षु को कोई यात्रा करनी होती है, तो वह सोचता है—'मुझे यह यात्रा करनी है। किंतु जब मैं यह यात्रा कर लूंगा, तो मेरा शरीर थक जाएगा। क्यों न मैं थोड़ा लेट जाऊँ?'

तब वह लेट जाता है। और कोई ऊर्जा नही जगाता—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए।

(४) ऐसा होता है कि कोई भिक्षु कोई यात्रा कर लेता है, तो वह सोचता है—'मैंने यह यात्रा किया। किंतु जब मैंने यह यात्रा कर लिया, तो मेरा शरीर थक गया। क्यों न मैं थोड़ा लेट जाऊँ?'

तब वह लेट जाता है। और कोई ऊर्जा नही जगाता—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए।

(५) ऐसा होता है कि कोई भिक्षु गाँव या नगर में भिक्षाटन करने जाता है, तो उसे अपेक्षाकृत मात्रा से कम भोजन मिलता है। तो वह सोचता है—'आज मुझे अपेक्षाकृत मात्रा से कम भोजन मिला। तो मेरा शरीर थका है, काम करने योग्य नही। क्यों न मैं थोड़ा लेट जाऊँ?'

तब वह लेट जाता है। और कोई ऊर्जा नही जगाता—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए।

(६) ऐसा होता है कि कोई भिक्षु गाँव या नगर में भिक्षाटन करने जाता है, तो उसे अपेक्षाकृत मात्रा में भोजन मिलता है। तो वह सोचता है—'आज मुझे अपेक्षाकृत मात्रा में भोजन मिला। तो मेरा शरीर भारी है, काम करने योग्य नही, जैसे [बोरा] दाने से भर गया हो। क्यों न मैं थोड़ा लेट जाऊँ?'

तब वह लेट जाता है। और कोई ऊर्जा नही जगाता—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए।

(७) ऐसा होता है कि किसी भिक्षु को कोई हल्की बीमारी होती है, तो वह सोचता है—'मुझे हल्की बीमारी हो गई। लेटने की ज़रूरत है।'

तब वह लेट जाता है। और कोई ऊर्जा नही जगाता—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए।

(८) ऐसा होता है कि कोई भिक्षु किसी बीमारी से उबरता है, अधिक समय नही होता, तो वह सोचता है—'मैं बीमारी से उबर गया। किंतु अधिक समय नही हुआ। मेरा शरीर अभी कमज़ोर है, काम करने योग्य नही। क्यों न मैं लेट जाऊँ?'

तब वह लेट जाता है। और कोई ऊर्जा नही जगाता—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए।

— यह आलस करने के आठ बहाने है।

और यह **ऊर्जा जगाने के आठ बहाने** है —

(१) ऐसा होता है कि किसी भिक्षु को कोई काम करना होता है, तो वह सोचता है—'मुझे यह काम करना है। किंतु काम करते हुए बुद्ध निर्देश «सासन» पर ध्यान देना आसान न होगा। क्यों न मैं उसके पूर्व ही ऊर्जा जगाऊँ—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए?'

तब वह भिक्षु ऊर्जा जगाता है—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए।

(२) ऐसा होता है कि कोई भिक्षु कोई काम कर लेता है, तो वह सोचता है—'मैंने यह काम किया। किंतु काम करते हुए मैं बुद्ध निर्देश पर ध्यान न दे पाया। क्यों न मैं अब ऊर्जा जगाऊँ—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए?'

तब वह भिक्षु ऊर्जा जगाता है…

(३) ऐसा होता है कि किसी भिक्षु को कोई यात्रा करनी होती है, तो वह सोचता है—'मुझे यह यात्रा करनी है। किंतु यात्रा करते हुए बुद्ध निर्देश पर ध्यान देना आसान न होगा। क्यों न मैं उसके पूर्व ही ऊर्जा जगाऊँ—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए?'

तब वह भिक्षु ऊर्जा जगाता है…

(४) ऐसा होता है कि कोई भिक्षु कोई यात्रा कर लेता है, तो वह सोचता है—'मैंने यह यात्रा किया। किंतु यात्रा करते हुए मैं बुद्ध निर्देश पर ध्यान नही दे पाया। क्यों न मैं अब ऊर्जा जगाऊँ—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए?'

तब वह भिक्षु ऊर्जा जगाता है…

(५) ऐसा होता है कि कोई भिक्षु गाँव या नगर में भिक्षाटन करने जाता है, तो उसे अपेक्षाकृत मात्रा से कम भोजन मिलता है। तो वह सोचता है—'आज मुझे अपेक्षाकृत मात्रा से कम भोजन मिला। तो मेरा शरीर हल्का व काम करने योग्य है। क्यों न मैं ऊर्जा जगाऊँ—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए?'

तब वह भिक्षु ऊर्जा जगाता है…

(६) ऐसा होता है कि कोई भिक्षु गाँव या नगर में भिक्षाटन करने जाता है, तो उसे अपेक्षाकृत मात्रा में भोजन मिलता है। तो वह सोचता है—'आज मुझे अपेक्षाकृत मात्रा में भोजन मिला। तो मेरा शरीर हल्का व काम करने योग्य है। क्यों न मैं ऊर्जा जगाऊँ—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए?'

तब वह भिक्षु ऊर्जा जगाता है…

(७) ऐसा होता है कि किसी भिक्षु को कोई हल्की बीमारी होती है, तो वह सोचता है—'मुझे हल्की बीमारी हो गई। हो सकता है यह बीमारी गंभीर हो जाए। क्यों न मैं उसके पूर्व ही ऊर्जा जगाऊँ—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए?'

तब वह भिक्षु ऊर्जा जगाता है…

(८) ऐसा होता है कि कोई भिक्षु किसी बीमारी से उबरता है, अधिक समय नही होता, तो वह सोचता है—'मैं बीमारी से उबर गया। किंतु अधिक समय नही हुआ। हो सकता है बीमारी लौट आए। क्यों न मैं उसके पूर्व ही ऊर्जा जगाऊँ—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए?'

तब वह भिक्षु ऊर्जा जगाता है—अब तक न प्राप्त की प्राप्ति के लिए, अब तक न पहुँचे तक पहुँच के लिए, अब तक न साक्षात्कार हुए के साक्षात्कार के लिए।

— यह ऊर्जा जगाने के आठ बहाने है।

«अं.नि.८:९५»

* * *

रात भर सोते रहे,
दिन में मेलमिलाप में मस्त रहे,
कब, आख़िर कब वह मुर्ख
दुःखों का अन्त करेंगा?

«थेरगाथा १:८४»

* * *

उद्धच्चप्पहान

जब भिक्षु ने चित्त ऊँचा उठाने «अधिचित्त» का मन बना लिया हो, तब उसे समय-समय पर पाँच आलंबनों पर ध्यान देना चाहिये। कौन-से पाँच?

(१) ऐसा होता है कि भिक्षु को कभी किसी **ख़ास बात** पर गौर करने से 'राग द्वेष मोह' से जुड़े पाप/अकुशल विचार आने लगते है। तब उसे ख़ास बात छोड़कर, किसी **अन्य बात पर गौर करना** चाहिए, जो कुशलता से जुड़ी हो।

जैसे कोई कुशल बढ़ई, धँसी हुई बड़ी-कील बाहर निकालने के लिए छोटी-कील उसके ऊपर ठोंके। उसी तरह भिक्षु वह ख़ास बात छोड़कर, किसी अन्य कुशल बात पर गौर करें, तब 'राग द्वेष मोह' से जुड़े पाप/अकुशल विचार छूट जाते है, रुक जाते है। उनके छूटते ही वह चित्त भीतर से स्थिर करता है, स्थित करता है, एकाग्र करता है, समाहित करता है।

(२) यदि अन्य कुशल बात पर गौर करने पर भी उसे 'राग द्वेष मोह' से जुड़े पाप/अकुशल विचार उत्पन्न होते रहे, तब उसे उन विचारों के **दुष्परिणाम की समीक्षा** करनी चाहिए। 'वाक़ई यह विचार अकुशल है! वाक़ई यह विचार निंदनीय है! वाक़ई यह विचार पीड़ादायक है!'

जैसे सजावट के शौकीन किसी युवक या युवती के गर्दन पर साँप कुत्ते या मनुष्य का शव लटका दिया जाए, तब वह कैसे खौफ़ लज्जा व घिन महसूस करेंगे। उसी तरह जब भिक्षु उन विचारों के दुष्परिणाम की समीक्षा करें, तब 'राग द्वेष मोह' से जुड़े पाप/अकुशल विचार छूट जाते है, रुक जाते है। उनके छूटते ही वह चित्त भीतर से स्थिर करता है, स्थित करता है, एकाग्र करता है, समाहित करता है।

(३) यदि दुष्परिणाम की समीक्षा करने पर भी उसे 'राग द्वेष मोह' से जुड़े पाप/अकुशल विचार उत्पन्न होते ही रहे, तब उसे उन विचारों को **भुला देना** चाहिए, **ध्यान नही देना** चाहिए।

जैसे कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष रुप न देखना चाहे, तो आँखे बंद कर ले, या अन्यत्र देखने लगे। उसी तरह जब वह उन विचारों को भुला दे, ध्यान न दे, तब 'राग द्वेष मोह' से जुड़े पाप/अकुशल विचार छूट जाते है, रुक जाते है। उनके छूटते ही वह चित्त भीतर से स्थिर करता है, स्थित करता है, एकाग्र करता है, समाहित करता है।

(४) यदि भुला देने, ध्यान न देने पर भी उसे राग द्वेष मोह से जुड़े पाप/अकुशल विचार उत्पन्न होते ही रहे, तब उसे उन विचारों की **वचन-रचना शिथिल करने** पर गौर करना चाहिए।

जैसे किसी तेज़ चलते पुरुष को लगे, 'मैं तेज़ क्यों चल रहा हूँ? क्यों न मैं धीमे चलूँ?" तब वह धीमे चलता है। तब उसे लगे, 'मैं धीमे क्यों चल रहा हूँ? क्यों न मैं खड़ा रहूँ?" तब वह खड़ा रहता है। तब उसे लगे, 'मैं खड़ा क्यों हूँ? क्यों न मैं बैठ जाऊँ?" तब वह बैठ जाता है। तब उसे लगे, 'मैं बैठा क्यों हूँ? क्यों न मैं लेट जाऊँ?" तब वह लेट जाता है। उसी तरह जब वह उन विचारों की वचन-

रचना शिथिल करने पर गौर करें, तब 'राग द्वेष मोह' से जुड़े पाप/अकुशल विचार छूट जाते है, रुक जाते है। उनके छूटते ही वह चित्त भीतर से स्थिर करता है, स्थित करता है, एकाग्र करता है, समाहित करता है।

(५) यदि वचन-रचना की शिथिलता पर गौर करने पर भी उसे 'राग द्वेष मोह' से जुड़े पाप/अकुशल विचार उत्पन्न होते ही रहे, तब उसे दाँत भींच, जीभ तालु पर दबाए अपने चित्त को मानस द्वारा पीटकर, **विवश कर, कुचल देना** चाहिए।

जैसे कोई बलवान पुरुष दुर्बल पुरुष का सिर गला या कंधा दबाकर पीटे, विवश करें, कुचल दे। उसी तरह वह दाँत भींच, जीभ तालु पर दबाए अपने चित्त को मानस द्वारा पीटकर, विवश कर, कुचल दे, तब 'राग द्वेष मोह' से जुड़े पाप/अकुशल विचार छूट जाते है, रुक जाते है। उनके छूटते ही वह चित्त भीतर से स्थिर करता है, स्थित करता है, एकाग्र करता है, समाहित करता है।

«मा.नि.२०»

* * *

स्वर्ण में **स्थूल** अशुद्धियां होती है—धूलभरी रेत, कंकड़ और बजरी। धोनेवाला उस स्वर्ण को जलकुंड में रखता है, और बार-बार धोता है, जब तक वह पूर्ण धुल न जाए।

जब वह धुल जाए, तब स्वर्ण में **मध्यम** अशुद्धियां बचती है—खुरदुरी रेत और सूक्ष्म बजरी। तब धोनेवाला उसे फ़िर बार-बार धोता है, जब तक वह पूर्ण धुल न जाए।

जब वह धुल जाए, तब स्वर्ण में **सूक्ष्म** अशुद्धियां बचती है—महीन रेत और काली धूल। तब धोनेवाला उसे फ़िर बार-बार धोता है, जब तक वह पूर्ण धुल न जाए।

जब वह धुल जाए, तब स्वर्ण में केवल स्वर्णधूल बचती है। तब सुनार उसे द्रोण [=तपते बर्तन] में रखकर धौंकनी से बार-बार हवा देता है, जब तक वह धूल उड़ न जाए। धौंकनी से बार-बार हवा देनेपर धूल जब तक पूर्णतः उड़ न जाए, और मैल छूटकर स्वर्ण परिशुद्ध न हो जाए, तब तक स्वर्ण मृदु, काम करने योग्य चमकीला नही होता। बल्कि वह भंगुर रहता है, आकार देने योग्य तैयार नही रहता।

किंतु अंततः एक समय आता है, जब सुनार धौंकनी से बार-बार हवा देकर धूल पूर्णतः उड़ा ही देता है, और मैल छूटकर स्वर्ण परिशुद्ध, मृदु, काम करने योग्य चमकीला हो जाता है। तब वह भंगुर नही बचता, बल्कि आकार देने योग्य तैयार हो जाता है। तब सुनार जो आभूषण चाहे—पट्टा कर्णफूल कंठहार या लड़ी—स्वर्ण उसकी लक्ष्यपूर्ति करेंगा।

उसी तरह चित्त ऊँचा उठाने «अधिचित्त» का मन बनाए भिक्षु में यह **स्थूल** अशुद्धियां होती है—कायिक दुराचरण, वाचिक दुराचरण, मानसिक दुराचरण। तब कोई सचेत, सक्षम वृत्ति का भिक्षु

उन्हें त्यागता है «पजहति», हटाता है «विनोदेति», दूर करता है «ब्यन्तीकरोति», अस्तित्व से मिटा देता है «अनभावं गमेति»।

जब वह उनसे छूट जाए, तब उसमें **मध्यम** अशुद्धियां रह जाती है—कामुक विचार, दुर्भावनापूर्ण विचार, हिंसात्मक विचार। तब वह सचेत, सक्षम वृत्ति का भिक्षु उन्हें त्यागता है, हटाता है, दूर करता है, अस्तित्व से मिटा देता है।

जब वह उनसे छूट जाए, तब उसमें **सूक्ष्म** अशुद्धियां रह जाती है—अपने परिवार-रिश्तेदारों का विचार, गाँव-नगर का विचार, निंदित न होने का विचार। तब वह सचेत, सक्षम वृत्ति का भिक्षु उन्हें त्यागता है, हटाता है, दूर करता है, अस्तित्व से मिटा देता है।

जब वह उनसे छूट जाए, तब उसमें केवल **धर्म** के विचार बच जाते है। किंतु उसकी समाधि न शांत होती है, न परिष्कृत। उसे न प्रशान्ति मिलती है, न मानस एकरस होता है। मात्र 'दबावपूर्ण संयम' रचते हुए ही उसने अपना चित्त संभाला होता है।

किंतु एक समय आता है, जब उसका चित्त भीतर से स्थिर हो जाता है, स्थित हो जाता है, एकाग्र हो जाता है, समाहित हो जाता है। उसकी समाधि शांत हो जाती है, परिष्कृत हो जाती है। उसे प्रशान्ति मिलती है, और मानस एकरस हो जाता है। अब मात्र 'दबावपूर्ण संयम' रचते हुए ही उसने अपना चित्त संभाला नही होता। तब वह छह विशिष्ट-ज्ञानों «अभिञ्ञा» में से जिसे जानने, साक्षात्कार करने की ओर अपना चित्त मोड़ें, जब भी आयाम खुले, वह साक्षात्कार कर सकता है।

«अं.नि.३:१००»

★★★

अरियसच्च

<<<<<<|>>>>>>

७

अरियसच्च

~ आर्य सत्य का परिचय ~

सीसपावन —

एक समय भगवान कौशाम्बी के समीप शीशमवन में रहते थे। उन्होंने शीशम के कुछ पत्ते हाथ में लेकर भिक्षुओं से पूछा—'क्या लगता है भिक्षुओं, क्या अधिक है? मेरे हाथ में लिए कुछ पत्ते, या शीशमवन को आच्छादित किए पत्ते?"

'भगवान, आपके हाथ में लिए पत्ते थोड़े से है, किंतु शीशमवन को आच्छादित किए पत्ते बहुत अधिक हैं।"

उसी तरह भिक्षुओं, जितना मुझे विशिष्ट-ज्ञान «अभिञ्ञा» मिला—वह बहुत अधिक है, जिसे मैंने बताया नहीं। क्यों नही बताया? क्योंकि वह न ध्येय से संबंधित है, न ब्रह्मचर्य-आधार से। उससे न मोहभंग, न वैराग्य, न निरोध होता है; न प्रशान्ति मिलती है, न विशिष्ट-ज्ञान, न संबोधि, न ही निर्वाण। इसीलिए वह बताया नहीं।

और मैंने क्या बताया? मैंने बताया—'ऐसा दुःख होता है'... 'यह दुःख उत्पत्ति है'... 'वह दुःख निरोध है'... 'वह दुःख निरोध करानेवाला प्रगतिपथ है'। वह क्यों बताया? क्योंकि वह ध्येय से संबंधित, ब्रह्मचर्य के आधार से संबंधित है। उससे मोहभंग, वैराग्य व निरोध होता है; उससे प्रशान्ति, विशिष्ट-ज्ञान, संबोधि और निर्वाण मिलता है। इसीलिए मैंने वह बताया।

इसलिए 'ऐसा दुःख होता है'—पर जुटना तुम्हारा कर्तव्य है। 'यह दुःख उत्पत्ति है'—पर जुटना तुम्हारा कर्तव्य है। 'वह दुःख निरोध है'—पर जुटना तुम्हारा कर्तव्य है। 'वह दुःख निरोध करानेवाला प्रगतिपथ है'—पर जुटना तुम्हारा कर्तव्य है।

«सं.नि.५६:३१»

* * *

भिक्षुओं, यह **चार आर्यसत्य**—जो पूर्व कभी न सुना धर्म है—के प्रति मुझे [धर्म] चक्षु उत्पन्न हुए, ज्ञान उत्पन्न हुआ, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, विद्या उत्पन्न हुई, उजाला उत्पन्न हुआ कि इस —

- इस दुःख आर्यसत्य को **अंतिम-छोर तक पता करते जाना** «परिञ्ञेय्यन्ति» है।
- दुःख उत्पत्ति आर्यसत्य को **त्याग करते जाना** «पहातब्बन्ति» है।
- दुःख निरोध आर्यसत्य का **साक्षात्कार करते जाना** «सच्छिकातब्बन्ति» है।
- दुःख निरोध करानेवाले प्रगतिपथ की **साधना करते जाना** «भावेतब्बन्ति» है।

«सं.नि.५६:११»

* * *

दुःख आर्यसत्य क्या है?

जन्म कष्टपूर्ण है; बुढापा कष्टपूर्ण है; मौत कष्टपूर्ण है; शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा कष्टपूर्ण है; अप्रिय से जुड़ाव कष्टपूर्ण है, प्रिय से अलगाव कष्टपूर्ण है, इच्छापूर्ति न होना कष्टपूर्ण है; संक्षिप्त में, पाँच आधार-संग्रह कष्टपूर्ण है।

जन्म क्या है? भिन्न-भिन्न सत्वों का भिन्न-भिन्न समूह में जन्म होना, जन्म लेना, उत्पत्ति होना, उद्भव होना, [पाँच आधार] संग्रह का प्रादुर्भाव होना, [छह] आयामों का प्राप्त होना—यह कहलाता है जन्म।

बुढापा क्या है? भिन्न-भिन्न सत्वों का भिन्न-भिन्न समूह में बूढ़ा होना, जीर्ण होना, [दाँत] टूटना, [केश] सफ़ेद होना, [त्वचा पर] झुर्रियां पड़ना, प्राण-ऊर्जा «आयु» में कमी आना, इंद्रियाँ कमज़ोर होना—यह कहलाता है बुढ़ापा।

मौत क्या है? भिन्न-भिन्न सत्वों का भिन्न-भिन्न समूह से च्युति होना, गुज़र जाना, अलगाव होना, अंतर्धान होना, मृत्यु होना, निधन होना, समयावधि समाप्त «कालकिरिया» होना, संग्रह का बिखरना, शरीर त्यागना, जीवित-इंद्रिय रुक जाना—यह कहलाती है मौत।

शोक क्या है? भिन्न-भिन्न दुर्भाग्यों से पीड़ित, भिन्न-भिन्न दर्द-स्वभावों से संस्पर्शित [छूते] सत्वों का शोक, खेद, अफ़सोस; स्वयं को लेकर खेद होना, स्वयं को लेकर अफ़सोस होना—यह कहलाता है शोक।

विलाप «परिदेव» **क्या है?** भिन्न-भिन्न दुर्भाग्यों से पीड़ित, भिन्न-भिन्न दर्द-स्वभावों से संस्पर्शित सत्वों का रोना, बिलखना, विलाप करना, क्रंदन करना, आँसू बहाना, मातम करना—यह कहलाता है विलाप।

दर्द क्या है? शारीरिक पीड़ा, शारीरिक परेशानी, काया से छूने पर पीड़ा व परेशानी महसूस होना—यह कहलाता है दर्द।

व्यथा «दोमनस्स» **क्या है?** मानसिक पीड़ा, मानसिक परेशानी, मन से छूने पर पीड़ा व परेशानी महसूस होना—यह कहलाती है व्यथा।

निराशा «उपायास» **क्या है?** भिन्न-भिन्न दुर्भाग्यों से पीड़ित, भिन्न-भिन्न दर्द-स्वभावों से संस्पर्शित सत्वों का हताश होना, निराश होना, उदास होना, मायूस होना—यह कहलाती है निराशा।

अप्रिय से जुड़ाव क्या है? यहाँ किसी के इच्छाविरुद्ध, नापसंदीदा अनाकर्षक रूप, आवाज़, गन्ध, स्वाद, संस्पर्श व स्वभाव—या अनर्थ चाहनेवाले, अहित चाहनेवाले, असुविधा चाहनेवाले, योगबन्धन से राहत न चाहनेवाले—के साथ संगति होना, भेट होना, साथ जुड़ना, मेलमिलाप होना—यह कहलाता है अप्रिय से जुड़ाव कष्टपूर्ण है।

प्रिय से अलगाव क्या है? यहाँ किसी की इच्छानुसार, पसंदीदा आकर्षक रूप, आवाज़, गन्ध, स्वाद, संस्पर्श व स्वभाव—या भला चाहनेवाले, हित चाहनेवाले, सुविधा चाहनेवाले, योगबन्धन से राहत चाहनेवाले माता पिता बहन भाई मित्र साथी रक्तसंबंधी रिश्तेदार—के साथ संगति न होना, भेट न होना, साथ न जुड़ना, मेलमिलाप न होना—यह कहलाता है प्रिय से अलगाव कष्टपूर्ण है।

इच्छापूर्ति न होना क्या है? जन्म-स्वभाववाले सत्वों को [कभी] ऐसी इच्छा प्रकट होती है—'अरे! हम जन्म-स्वभाववाले न होते! काश हमारा जन्म ही न होता!' किंतु ऐसी [मात्र] इच्छा करने से नही मिलता—यह कहलाता है इच्छापूर्ति न होना कष्टपूर्ण है।

बुढ़ापा-स्वभाववाले सत्वों को ऐसी इच्छा प्रकट होती है—'अरे! हम बुढ़ापा-स्वभाववाले न होते! काश हम बूढ़े ही न होते!' किंतु ऐसी इच्छा करने से नही मिलता—यह कहलाता है इच्छापूर्ति न होना कष्टपूर्ण है।

रोग-स्वभाववाले सत्वों को ऐसी इच्छा प्रकट होती है—'अरे! हम रोग-स्वभाववाले न होते! काश हमें रोग ही न होता!' किंतु ऐसी इच्छा करने से नही मिलता—यह कहलाता है इच्छापूर्ति न होना कष्टपूर्ण है।

मौत-स्वभाववाले सत्वों को ऐसी इच्छा प्रकट होती है—'अरे! हम मौत-स्वभाववाले न होते! काश हमारी मौत ही न होती!' किंतु ऐसी इच्छा करने से नही मिलता—यह कहलाता है इच्छापूर्ति न होना कष्टपूर्ण है।

शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा—स्वभाववाले सत्वों को ऐसी इच्छा प्रकट होती है—'अरे! हम शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा—स्वभाववाले न होते! काश हमें शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा ही न होती!' किंतु ऐसी इच्छा करने से नही मिलता—यह कहलाता है इच्छापूर्ति न होना कष्टपूर्ण है।

संक्षिप्त में, पाँच आधार-संग्रह क्या है? जैसे की रूप आधार-संग्रह, संवेदना आधार-संग्रह, नज़रिया आधार-संग्रह, रचना आधार-संग्रह, चैतन्यता आधार-संग्रह—यह कहलाता है संक्षिप्त में, पाँच आधार-संग्रह कष्टपूर्ण है।

कल्पना करो कि कोई गृहस्थ बड़ा धनवान, शक्तिशाली व समृद्धशाली हो, जो पूर्णतः सुरक्षा घेरे में रहता हो। तब कोई पुरुष आए, जो उसका हित न चाहता हो, कल्याण न चाहता हो; बल्कि सुरक्षा में हानि चाहता हो, उसका वध करना चाहता हो। वह सोचेगा—'इस गृहस्थ का बलपूर्वक वध करना आसान नही। क्यों न मैं घुसपैठ करूँ, और तब वध करूँ?'

तब वह गृहस्थ के समक्ष जाकर कहता है —'मालिक, मुझे नौकर बना लो।" तब गृहस्थ उसे नौकर बनाता है।

नौकरी मिल जाने पर पुरुष प्रातःकाल अपने मालिक के जागने पूर्व उठता, रात में मालिक के पश्चात ही सोता। वही करता, जो मालिक आज्ञा करें। अपने कृत्यों से उसे हमेशा प्रसन्न करता, नम्रतापूर्वक ही बोलता। तब धीरे-धीरे गृहस्थ का उस पर विश्वास जड़ गया, तथा वह उसे मित्र सहचारी की तरह देखने लगा।

जब पुरुष को पता चला—'यह गृहस्थ अब मुझ पर विश्वास करता है', तब वह एकांतस्थल पर मिलने पर तेज़ चाक़ू से उसका वध कर देता है।

तो तुम्हें क्या लगता है? जब पुरुष ने उस गृहस्थ के समक्ष जाकर कहा —'मालिक, मुझे नौकर बना लो।" क्या तब भी वह हत्यारा नही था? चूँकि वह तब भी हत्यारा था, किंतु गृहस्थ को पता नही था कि वह उसका हत्यारा है।

और जब नौकरी मिल जाने पर पुरुष प्रातःकाल अपने मालिक के जागने पूर्व उठता, रात में मालिक के पश्चात ही सोता, वही करता, जो मालिक आज्ञा करें, अपने कृत्यों से उसे हमेशा प्रसन्न करता, नम्रतापूर्वक ही बोलता—क्या तब भी वह हत्यारा नही था? चूँकि वह तब भी हत्यारा था, किंतु गृहस्थ को पता नही था कि वह उसका हत्यारा है।

और जब एकांतस्थल पर मिलने पर उसने तेज़ चाक़ू से गृहस्थ का वध कर दिया—क्या तब भी वह हत्यारा नही था? चूँकि वह तब भी हत्यारा था, किंतु गृहस्थ को पता नही था कि वह उसका हत्यारा है।

उसी तरह कोई धर्म न सुना, आम आदमी **रूप** को आत्म मानता है; या आत्म की रूप मानता है; या आत्म में रूप मानता है; या रूप में आत्म मानता है।

वह **संवेदना... नज़रिया... रचना... चैतन्यता** को आत्म मानता है; या आत्म की चैतन्यता मानता है; या आत्म में चैतन्यता मानता है; या चैतन्यता में आत्म मानता है।

उसे रूप जैसे **अनित्य** हो, वैसे पता नही चलता कि—'यह रूप अनित्य है।' उसे संवेदना... नज़रिया... रचना... चैतन्यता जैसे **अनित्य** हो, वैसे पता नही चलता कि—'यह संवेदना... नज़रिया... रचना... चैतन्यता अनित्य है।'

उसे रुप जैसे **कष्टपूर्ण** हो, वैसे पता नही चलता कि —'यह रुप कष्टपूर्ण है। उसे संवेदना... नज़रिया... रचना... चैतन्यता जैसे कष्टपूर्ण हो, वैसे पता नही चलता कि —'यह संवेदना... नज़रिया... रचना... चैतन्यता कष्टपूर्ण है।"

उसे रुप जैसे **अनात्म** हो, वैसे पता नही चलता कि —'यह रुप अनात्म है।' उसे संवेदना... नज़रिया... रचना... चैतन्यता जैसे अनात्म हो, वैसे पता नही चलता कि—'यह संवेदना... नज़रिया... रचना... चैतन्यता अनात्म है।'

उसे रुप जैसे **रचित** हो, वैसे पता नही चलता कि—'यह रुप रचित है।' उसे संवेदना... नज़रिया... रचना... चैतन्यता जैसे रचित हो, वैसे पता नही चलता कि—'यह संवेदना... नज़रिया... रचना... चैतन्यता रचित है।'

उसे रुप जैसे **हत्यारा** हो, वैसे पता नही चलता कि—'यह रुप हत्यारा है।' उसे संवेदना... नज़रिया... रचना... चैतन्यता जैसे हत्यारी हो, वैसे पता नही चलता कि—'यह संवेदना... नज़रिया... रचना... चैतन्यता हत्यारी है।'

वह रुप से आसक्त होता है, रुप का आधार लेता है, व उसे 'मेरा आत्म' निश्चित करता है। वह संवेदना... नज़रिया... रचना... चैतन्यता से आसक्त होता है, उनका आधार लेता है, व उन्हें 'मेरा आत्म' निश्चित करता है। इन पाँच आधार-संग्रह से आसक्त होना, आधार लेना उसके दीर्घकालीन हानि व दुःख का कारण बनता है।

इन पाँच आधार-संग्रहों की जड़ **चाह** होती है।

* * *

• **रुप** को रुप क्यों कहते है?

«रुप्पती'ति रुपं» पीड़ित होता है, उसे रुप कहते है! किससे पीड़ित होता है? ठंडी से पीड़ित होता है, गर्मी से पीड़ित होता है, भूख से पीड़ित होता है, प्यास से पीड़ित होता है। मक्खियां मच्छर पवन धूप रेंगनेवाले-जीवों के संस्पर्शों से पीड़ित होता है। पीड़ित होता है, उसे रुप कहते है!

जो भी रुप है—भूत भविष्य या वर्तमान के, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप के—वह **रुपसंग्रह** है। **चार महाभूत** के कारण व परिस्थिति «हेतु पच्चय» से रुपसंग्रह प्रादुर्भूत होता है।

इस रुपसंग्रह में से जिनके प्रति **चाह व दिलचस्पी** हो, वही रुप **आधार-संग्रह** बनता है।

कल्पना करो कि **झाग** का एक बड़ा पिंड गंगा नदी में बह रहा हो। उसे कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष देखें, गौर करें, ठीक से निरीक्षण करें, तो उसे वह ख़ाली खोखला व निःसार लगेगा। झाग के पिंड में आख़िर क्या सार मिलेगा?

उसी तरह जो भी रूप हो—भूत भविष्य या वर्तमान के, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप के—भिक्षु देखें, गौर करें, ठीक से निरीक्षण करें, तो उसे सभी रूप ख़ाली खोखले व निःसार लगेंगे। रूप में आख़िर क्या सार मिलेगा?

• **संवेदना** को संवेदना क्यों कहते है?

«वेदयतीति वेदना» महसूस करते है, उसे संवेदना कहते है! क्या महसूस करते है? सुख महसूस करते है, दर्द महसूस करते है, नसुख-नदर्द महसूस करते है।

जो भी शारीरिक या मानसिक संवेदना सुखद व अच्छी लगती है, उसे **सुख** कहते है। जो भी शारीरिक या मानसिक संवेदना दर्दभरी व बुरी लगती है, उसे **दर्द** कहते है। जो भी शारीरिक या मानसिक संवेदना न-अच्छी न-बुरी लगती है, उसे **नसुख-नदर्द** कहते है।

सुख बने रहने में सुखद है, किंतु बदल जाने में दुखद है। दर्द बने रहने में दुखद है, किंतु बदल जाने में सुखद है। नसुख-नदर्द ज्ञान से जुड़ी हो [=पता चले] तो सुखद है, किंतु ज्ञान से जुड़ी न हो [=पता न चले] तब दुखद है। महसूस करते है, उसे संवेदना कहते है!

जो भी संवेदनाएँ है—भूत भविष्य या वर्तमान की, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप की—वह संवेदनासंग्रह है। [इंद्रिय] **संपर्क** के कारण व परिस्थिति से संवेदनासंग्रह प्रादुर्भूत होता है।

इस संवेदनासंग्रह में से जिनके प्रति **चाह व दिलचस्पी** हो, वही संवेदना **आधार-संग्रह** बनता है।

कल्पना करो कि शरदऋतु में जब बड़ी व भारी बूँदों के साथ वर्षा हो रही हो, तब जल में **बुलबुले** उठे व बुझ जाए। उसे कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष देखें, गौर करें, ठीक से निरीक्षण करें, तो उसे वह ख़ाली खोखला व निःसार लगेगा। जल के बुलबुले में आख़िर क्या सार मिलेगा?

उसी तरह जो भी संवेदनाएँ हो—भूत भविष्य या वर्तमान की, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप की—भिक्षु देखें, गौर करें, ठीक से निरीक्षण करें, तो उसे सभी संवेदनाएँ ख़ाली खोखले व निःसार लगेंगे। संवेदना में आख़िर क्या सार मिलेगा?

• **नज़रिया** को नज़रिया क्यों कहते है?

«सञ्जानातीति सञ्ञा» [जिस तरह जानते] पहचानते है, उसे नज़रिया कहते है! क्या पहचानते है? नीला पहचानते है, पीला पहचानते है, लाल पहचानते है, सफ़ेद पहचानते है। पहचानते है, उसे नज़रिया कहते है!

जो भी नज़रिएँ है—भूत भविष्य या वर्तमान के, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप के—वह नज़रियासंग्रह है। [इंद्रिय] **संपर्क** के कारण व परिस्थिति से नज़रियासंग्रह प्रादुर्भूत होता है। इस नज़रिया-संग्रह में से जिनके प्रति **चाह व दिलचस्पी** हो, वही नज़रिया **आधार-संग्रह** बनता है।

कल्पना करो कि ग्रीष्मकाल के अंतिम महीने में मृगमरीचिका झलक रही हो। उसे कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष देखें, गौर करें, ठीक से निरीक्षण करें, तो उसे वह ख़ाली खोखला व निःसार लगेगा। मृगमरीचिका में आख़िर क्या सार मिलेगा?

उसी तरह जो भी नज़रिएँ हो—भूत भविष्य या वर्तमान के, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप के—भिक्षु देखें, गौर करें, ठीक से निरीक्षण करें, तो उसे सभी नज़रिएँ ख़ाली खोखले व निःसार लगेंगे। नज़रिए में आख़िर क्या सार मिलेगा?

• **रचना** को रचना क्यों कहते है?

«सङ्खतमभिसङ्खरोन्तीति सङ्खारा» रचनेयोग्य वस्तुओं को रचते है, उसे रचना कहते है!

क्या रचते है? रूपत्व [भौतिकता] के लिए रूप रचते है, वेदत्व [महसूस करने] के लिए संवेदना रचते है, संज्ञत्व [पहचानने] के लिए नज़रिया रचते है, संस्कृत्व [रचने] के लिए रचना रचते है, विज्ञत्व [जानने] के लिए चैतन्यता रचते है। रचनेयोग्य वस्तुओं को रचते है, उसे रचना कहते है!

तीन तरह की रचनाएँ होती है—कायिक-रचना, वाचिक-रचना, और चित्त-रचना।

• आती-जाती साँस कायिक होती है। वह काया से जुड़े हुए धर्म है। इसलिये **आश्वास-प्रश्वास** कायिक-रचना है।

• पहले सोच «वितक्क» कर विचार करने पश्चात ही कोई वचन निकालता है। इसलिये **सोच-विचार** वाचिक-रचना है।

• नज़रिया व संवेदना चेतसिक है। वह चित्त से जुड़े हुए धर्म है। इसलिये **नज़रिया व संवेदना** चित्त-रचना है।

छह तरह से भी रचनाएँ होती है—भिन्न-भिन्न तरह के रूप, आवाज़, गंध, स्वाद, संस्पर्श व स्वभाव के प्रति भिन्न-भिन्न इरादे «चेतना»।

जो भी रचनाएँ है—भूत भविष्य या वर्तमान की, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप की—वह रचनासंग्रह है। [इंद्रिय] **संपर्क** के कारण व परिस्थिति से रचनासंग्रह प्रादुर्भूत होता है। इस रचनासंग्रह में से जिनके प्रति **चाह व दिलचस्पी** हो, वही रचना **आधार-संग्रह** बनता है।

कल्पना करो कि कोई पुरुष मज़बूत लकड़ी [=अन्तःकाष्ठ] चाहता हो, मज़बूत लकड़ी की ख़ोज में, मज़बूत लकड़ी ढूँढते हुए वह तेज़ कुल्हाड़ी लेकर जंगल जाए। वहाँ उसे बड़ा **केले का वृक्ष** दिखाई दे—सीधा ताज़ा व अत्यंत लंबा। उसे वह जड़ से काट दे। जड़ से काटने पर उसका सिरा छाँट दे। सिरा छाँटने पर वह उसका ऊपरी छिलका उतार दे। ऊपरी छिलका उतारने पर उसे मृदु लकड़ी [=रसकाष्ठ] भी न मिलेगी, मज़बूत लकड़ी तो छोड़ो! उसे कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष देखें, गौर

करें, ठीक से निरीक्षण करें, तो उसे वह ख़ाली खोखला व निःसार लगेगा। केले के वृक्ष में आख़िर क्या सार मिलेगा?

उसी तरह जो भी रचनाएँ हो—भूत भविष्य या वर्तमान की, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप की—भिक्षु देखें, गौर करें, ठीक से निरीक्षण करें, तो उसे सभी रचनाएँ ख़ाली खोखले व निःसार लगेंगे। रचनाओं में आख़िर क्या सार मिलेगा?

• **चैतन्यता** को चैतन्यता क्यों कहते है?

«विजानातीति विञ्ञाण» जानता है, उसे चैतन्यता कहते है! क्या जानता है? वह जानता है—क्या खट्टा है, क्या कड़वा है, क्या तीख़ा है, क्या मीठा है, क्या खारा है, क्या खारा नही है, क्या नमकीन है, क्या नमकीन नही है। जानता है, उसे चैतन्यता कहते है!

जिस स्थिति का आधार लेकर चैतन्यता उत्पन्न होती हो, उसी तरह वर्गीकृत होती है। अर्थात, आँख व रुप का आधार लेकर जब चैतन्यता उपजे, तो उसे 'आँख की चैतन्यता' कहते है। कान व आवाज़ का आधार लेकर जब चैतन्यता उपजे, तो उसे 'कान की चैतन्यता' कहते है। नाक व गंध का आधार लेकर जब चैतन्यता उपजे, तो उसे 'नाक की चैतन्यता' कहते है। जीभ व स्वाद का आधार लेकर जब चैतन्यता उपजे, तो उसे 'जीभ की चैतन्यता' कहते है। काया व संस्पर्श का आधार लेकर जब चैतन्यता उपजे, तो उसे 'काया की चैतन्यता' कहते है। मन व स्वभाव का आधार लेकर जब चैतन्यता उपजे, तो उसे 'मन की चैतन्यता' कहते है।

जैसे अग्नि जिस स्थिति का आधार लेकर उत्पन्न होती हो, उसी तरह वर्गीकृत होती है। अर्थात, अग्नि जब लकड़ी का आधार लेकर जलने लगे, तो उसे 'लकड़ी की अग्नि' कहते है। अग्नि जब तेल का आधार लेकर जलने लगे, तो उसे 'तेल की अग्नि' कहते है। अग्नि जब कचरे का आधार लेकर जलने लगे, तो उसे 'कचरे की अग्नि' कहते है। उसी तरह जिस स्थिति का आधार लेकर चैतन्यता उत्पन्न होती हो, उसी तरह वर्गीकृत होती है।

जो भी चैतन्यता है—भूत भविष्य या वर्तमान की, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप की—वह चैतन्यतासंग्रह है। **नाम-रूप** के कारण व परिस्थिति से चैतन्यतासंग्रह प्रादुर्भूत होता है। इस चैतन्यतासंग्रह में से जिनके प्रति **चाह व दिलचस्पी** हो, वही चैतन्यता **आधार-संग्रह** बनता है।

कल्पना करो कि कोई जादूगर बड़े चौराहे पर **जादुई खेल** दिखा रहा हो। उसे कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष देखें, गौर करें, ठीक से निरीक्षण करें, तो उसे वह ख़ाली खोखला व निःसार लगेगा। जादुई खेल में आख़िर क्या सार मिलेगा?

उसी तरह जो भी चैतन्यता हो—भूत भविष्य या वर्तमान की, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप की—भिक्षु देखें, गौर करें, ठीक से निरीक्षण करें, तो उसे सभी चैतन्यता ख़ाली खोखले व निःसार लगेंगे। चैतन्यता में आख़िर क्या सार मिलेगा?

इस तरह देखने से भिक्षुओं, धर्म सुने आर्यश्रावक का रूपों के प्रति **मोहभंग** होता है, संवेदनाओं के प्रति मोहभंग होता है, नज़रियों के प्रति मोहभंग होता है, रचनाओं के प्रति मोहभंग होता है, चैतन्यता के प्रति मोहभंग होता है।

मोहभंग होने से **वैराग्य** आता है। वैराग्य आने से वह **विमुक्त** होता है। विमुक्ति के साथ ज्ञान उत्पन्न होता है—'विमुक्त हुआ!' उसे पता चलता है—'जन्म समाप्त हुए! ब्रह्मचर्य परिपूर्ण हुआ! काम पुरा हुआ! अभी यहाँ करने के लिए कुछ बचा नही!'

«दी.नि.२२ + मा.नि.१०९ + सं.नि.२२:७९ + सं.नि.२२:५६ + सं.नि.२२:९५ + मा.नि.३८ + दी.नि.३३ + मा.नि.४४»

* * *

संवेदना, नज़रिया और चैतन्यता आपस में संयुक्त [=जुड़े] होते है, असंयुक्त नही। और यह असंभव है कि उन्हें विभाजित कर, उनकी भिन्नता का वर्णन किया जा सके। कोई जो [संवेदना] महसूस करता है, वही [नज़रिया द्वारा] पहचानता है। जो पहचानता है, वही [चैतन्यता द्वारा] जानता है।

«मा.नि.४३»

* * *

सारिपुत्त भन्ते:

मित्रों, यह पाँच-धातुएँ होती है। कौन-सी पाँच? पृथ्वीधातु, जलधातु, अग्निधातु, वायुधातु, और आकाशधातु।

• **पृथ्वीधातु** क्या है? पृथ्वीधातु भीतरी हो सकती है या बाहरी।

भीतरी पृथ्वीधातु क्या है? जो कुछ भीतर शरीर में कठोर, ठोस और [तृष्णा पर] आधारित है, जैसे—केश, लोम, नाख़ून, दाँत, त्वचा, मांस, नसें, हड्डी, हड्डीमज्जा, तिल्ली, हृदय, कलेजा, झिल्ली, गुर्दा, फेफड़ा, क्लोमक, आँत, छोटी-आँत, उदर, टट्टी—या [अन्य] जो कुछ भीतर कठोर, ठोस और आधारित है, उसे भीतरी पृथ्वीधातु कहते है।

अब भीतरी पृथ्वीधातु एवं बाहरी पृथ्वीधातु केवल 'पृथ्वीधातु' ही है, जिसे जैसी हो वैसे सही पता करके देखना है कि यह—'मेरी नही, मेरा आत्म नही, मैं यह नही!'

एक समय आता है, जब बाहरी जलधातु कुपित होती है [=बाढ़ सुनामी महाप्रलय कल्पान्त]। तब बाहरी पृथ्वीधातु विलुप्त हो जाती है। जब इतनी विशाल बाहरी पृथ्वीधातु की भी अनित्यता दिख पड़ती है, विनाशस्वभाव दिख पड़ता है, पतनस्वभाव दिख पड़ता है, बदलावस्वभाव दिख पड़ता है, तो

इस अल्पकालिक काया का कहना ही क्या, जो तृष्णा पर आधारित है? क्या 'मैं' 'मेरा' 'मैं यह' उसका होता भी है? यहाँ उसका तो बस एक 'ना' ही है!

जब कोई पृथ्वीधातु जैसी हो, वैसी सही पता करके देखता है, तो उसका पृथ्वीधातु से मोहभंग होता है। अपने चित्त को वह पृथ्वीधातु से विरक्त करता है।

• और **जलधातु** क्या है? जलधातु भीतरी हो सकती है या बाहरी।

भीतरी जलधातु क्या है? जो कुछ भीतर शरीर में जल, तरल और [तृष्णा पर] आधारित है, जैसे—पित्त, कफ, पीब, रक्त, पसीना, चर्बी, आँसू, तेल, थूक, बलगम, जोड़ों में तरल, मूत्र—या [अन्य] जो कुछ भीतर जल, तरल और आधारित है, उसे भीतरी जलधातु कहते है।

अब भीतरी जलधातु एवं बाहरी जलधातु केवल 'जलधातु' ही है जिसे, जैसी हो, वैसी सही पता करके देखना है कि यह—'मेरी नही, मेरा आत्म नही, मैं यह नही!'

एक समय आता है, जब बाहरी जलधातु कुपित होती है। तब वह गाँव नगर शहर राज्य और देश बहा ले जाती है। या एक समय आता है, जब महासागरों का जल केवल सात सौ-योजन... छह सौ... पाँच सौ... चार सौ... तीन सौ... दो सौ... केवल एक सौ योजन ही रह जाता है। एक समय आता है, जब महासागरों का जल केवल सात ताड़-वृक्षों तक गहरा... छह... पाँच... चार... तीन... दो... एक ताड़-वृक्ष तक गहरा ही रह जाता है। एक समय आता है, जब महासागरों का जल केवल सात पुरुष-लंबाई तक गहरा... छह... पाँच... चार... तीन... दो... एक पुरुष-लंबाई तक गहरा ही रह जाता है। एक समय आता है, जब महासागरों का जल अर्ध पुरुष-लंबाई तक गहरा... कमर तक... घुटने तक... मात्र टखने तक ही रह जाता है। और एक समय आता है, जब महासागरों का जल इतना भी गहरा नही बचता कि पैर की उँगली का जोड़ भिगो सके।

जब इतनी विशाल बाहरी जलधातु की भी अनित्यता दिख पड़ती है, विनाशस्वभाव दिख पड़ता है, पतनस्वभाव दिख पड़ता है, बदलावस्वभाव दिख पड़ता है, तो इस अल्पकालिक काया का कहना ही क्या, जो तृष्णा पर आधारित है? क्या 'मैं' 'मेरा' 'मैं यह' उसका होता भी है? यहाँ उसका तो बस एक 'ना' ही है!

जब कोई जलधातु जैसी हो, वैसी सही पता करके देखता है, तो उसका जलधातु से मोहभंग होता है। अपने चित्त को वह जलधातु से विरक्त करता है।

• अब **अग्निधातु** क्या है? अग्निधातु भीतरी हो सकती है या बाहरी।

भीतरी अग्निधातु क्या है? जो कुछ भीतर शरीर में ज्वलनशील, गर्म और [तृष्णा पर] आधारित है, जिससे शरीर गर्म रहता है, जीर्ण होता है, तपता है, और जिसके द्वारा खाए पीए चबाए व निगले का पाचन होता है—या [अन्य] जो कुछ भीतर ज्वलनशील, गर्म और आधारित है, उसे भीतरी अग्निधातु कहते है।

अब भीतरी अग्निधातु एवं बाहरी अग्निधातु केवल 'अग्निधातु' ही है, जिसे जैसी हो, वैसी सही पता करके देखना है कि यह—'मेरी नही, मेरा आत्म नही, मैं यह नही!'

एक समय आता है, जब बाहरी अग्निधातु कुपित होती है। तब वह गाँव नगर शहर राज्य और देश जलाकर भस्म कर देती है। और अंततः किसी हरेभरे नगर के छोर पर आकर, या मार्ग के किनारे आकर, या पथरीले नगर के किनारे आकर, या जलाशय के किनारे आकर, या हरियाली के किनारे आकर, या जल भरे क्षेत्र में आकर आहार न पाकर बुझ जाती है। और एक समय [ऐसा भी] आता है, जब लोग मुर्गे के पँख और चमड़े के छिलके से अग्नि जलाने की चेष्ठा करते है।

जब इतनी विशाल बाहरी अग्निधातु की भी अनित्यता दिख पड़ती है, विनाशस्वभाव दिख पड़ता है, पतनस्वभाव दिख पड़ता है, बदलावस्वभाव दिख पड़ता है, तो इस अल्पकालिक काया का कहना ही क्या, जो तृष्णा पर आधारित है। क्या 'मै' 'मेरा' 'मैं यह' उसका होता भी है? यहाँ उसका तो बस एक 'ना' ही है!

जब कोई अग्निधातु जैसी हो, वैसी सही पता करके देखता है, तो उसका अग्निधातु से मोहभंग होता है। अपने चित्त को वह अग्निधातु से विरक्त करता है।

• और **वायुधातु** क्या है? वायुधातु भीतरी हो सकती है या बाहरी।

भीतरी वायुधातु क्या है? जो कुछ भीतर शरीर में वायु, पवन और [तृष्णा पर] आधारित है, जैसे—ऊपर उठती वायु, नीचे गिरती वायु, पेट में वायु, आँत में वायु, शरीर में सर्वत्र घूमती वायु, आती जाती साँस «आनापान»—या जो कुछ भी भीतर वायु, पवन और आधारित है, उसे भीतरी वायुधातु कहते है।

अब भीतरी वायुधातु एवं बाहरी वायुधातु केवल 'वायुधातु' ही है, जिसे जैसी हो, वैसी सही पता करके देखना है कि यह—'मेरी नही, मेरा आत्म नही, मैं यह नही!'

एक समय आता है, जब बाहरी वायुधातु कुपित होती है। तब वह गाँव नगर शहर राज्य और देश उड़ा ले जाती है। और एक समय [ऐसा भी] आता है, जब ग्रीष्मकाल के अंतिम महीने में लोग पँखे या धौंकनी से हवा झलते है। तब छत की खर-पतवार तक नही हिलती।

जब इतनी विशाल बाहरी वायुधातु की भी अनित्यता दिख पड़ती है, विनाशस्वभाव दिख पड़ता है, पतनस्वभाव दिख पड़ता है, बदलावस्वभाव दिख पड़ता है, तो इस अल्पकालिक काया का कहना ही क्या, जो तृष्णा पर आधारित है? क्या 'मै' 'मेरा' 'मैं यह' उसका होता भी है? यहाँ उसका तो बस एक 'ना' ही है!

जब कोई वायुधातु जैसी हो, वैसी सही पता करके देखता है, तो उसका वायुधातु से मोहभंग होता है। अपने चित्त को वह वायुधातु से विरक्त करता है।

• और **आकाशधातु** क्या है? आकाशधातु भीतरी हो सकती है या बाहरी।

भीतरी आकाशधातु क्या है? जो कुछ भीतर शरीर में ख़ाली, रिक्त जगह, और [तृष्णा पर] आधारित है, जैसे—कर्णछिद्र, नासिकाछिद्र, मुखद्वार, और वह [रास्ता] जिससे खाया पिया चबाया आस्वादित निगला जाता है, और जहाँ [उदर में] वह इकट्ठा होता है, और जहाँ नीचे से वह मल त्यागा जाता है—या [अन्य] जो कुछ भीतर शरीर में ख़ाली, रिक्त जगह और आधारित है, उसे भीतरी आकाशधातु कहते है।

अब भीतरी आकाशधातु एवं बाहरी आकाशधातु केवल 'आकाशधातु' ही है, जिसे जैसी हो, वैसी सही पता करके देखना है कि यह—'मेरी नही, मेरा आत्म नही, मैं यह नही!'

जब इतनी विशाल बाहरी धातुओं की भी अनित्यता दिख पड़ती है, विनाशस्वभाव दिख पड़ता है, पतनस्वभाव दिख पड़ता है, बदलावस्वभाव दिख पड़ता है, तो इस अल्पकालिक काया का कहना ही क्या, जो तृष्णा पर आधारित है? क्या 'मै' 'मेरा' 'मैं यह' उसका होता भी है? यहाँ उसका तो बस एक 'ना' ही है!

जब कोई आकाशधातु जैसी हो, वैसी सही पता करके देखता है, तो उसका आकाशधातु से मोहभंग होता है। अपने चित्त को वह आकाशधातु से विरक्त करता है।

«मा.नि.६२ + मा.नि.२८»

* * *

यह जो भीतरी छह आयाम है—आँखआयाम, कानआयाम, नाकआयाम, जीभआयाम, कायाआयाम, मनआयाम—इन्हें भी दुःख आर्यसत्य कहते है।

«सं.नि.५६:१४»

* * *

''श्रोत श्रोत' कहते है। यह **श्रोत** क्या होता है?"

बस यही—'आर्य अष्टांगिक मार्ग' ही श्रोत है।

''श्रोतापन्न श्रोतापन्न' कहते है। यह **श्रोतापन्न** क्या होता है?"

जो व्यक्ति 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' में संपन्न हो, उसे श्रोतापन्न कहते है।

«सं.नि.५५:५»

* * *

सत्व

''सत्व.. सत्व..' कहते है, भगवान। किस हद तक किसी को सत्व कहते है?"

रुप के प्रति चाह होती है, या दिलचस्पी होती है, या मज़ा होता है, या तृष्णा होती है—«सत्ता विसत्ता'ति सत्ता» जो पकड़ ले, जो चिपक जाए—उसे सत्व कहते है।

संवेदना के प्रति... नज़रिए के प्रति... रचना के प्रति... चैतन्यता के प्रति चाह होती है, या दिलचस्पी होती है, या मज़ा होता है, या तृष्णा होती है—जो पकड़ ले, जो चिपक जाए—उसे सत्व कहते है।

जैसे बच्चें मिट्टी [या रेत] के नन्हें घर बनाने का खेल खेल रहे हो। जब तक बच्चों की नन्हें घरों के प्रति दिलचस्पी, चाह, स्नेह, प्यास, ताप व तृष्णा नही छूटती, उतनी देर बच्चें नन्हें घर बनाते हुए ख़ूब खेलते है, मौजमस्ती करते है, उन्हें सँजोते है, उनपर मालकियत समझते है। किंतु जब उनकी दिलचस्पी, चाह, स्नेह, प्यास, ताप व तृष्णा छूट जाए, तब वे हाथ-पैरों से उन्हें तोड़ देते है, बिखरा देते है, गिरा देते है, खेलने लायक नही छोड़ते।

उसी तरह तुम्हें भी **रूप** को तोड़ देना चाहिए, बिखरा देना चाहिए, गिरा देना चाहिए, खेलने लायक नही छोड़ना चाहिए। उसके प्रति तृष्णा का समूल अंत करने की साधना करनी चाहिए।

उसी तरह तुम्हें **संवेदना** को... **नज़रिए** को... **रचनाओं** को... **चैतन्यता** को तोड़ देना चाहिए, बिखरा देना चाहिए, गिरा देना चाहिए, खेलने लायक नही छोड़ना चाहिए। उनके प्रति तृष्णा का समूल अंत करने की साधना करनी चाहिए। क्योंकि तृष्णा का समूल अंत होना ही निर्वाण है।

«सं.नि.२५:१»

* * *

मित्र सारिपुत्त, **शीलवान** भिक्षु को किस बात पर योग्य तरह से गौर करना चाहिए?

मित्र कोट्ठित, शीलवान भिक्षु को **पाँच आधार-संग्रह** पर योग्य तरह से गौर करना चाहिए कि वह 'अनित्य होते है, कष्टपूर्ण होते है, रोग होते है, फोड़ा होते है, तीर होते है, पीड़ादायक होते है, मुसीबत होते है, पराये होते है, भंग होते है, शून्य होते है, अनात्म होते है।' क्योंकि हो सकता है पाँच आधार-संग्रह पर इस तरह चिंतन कर शीलवान भिक्षु को श्रोतापन्नफ़ल... श्रोतापन्न भिक्षु को सकदागामीफ़ल... सकदागामी भिक्षु को अनागामीफ़ल... अनागामी भिक्षु को अरहंतफ़ल का साक्षात्कार हो जाए।

अरहंत भिक्षु को भी इन्ही पाँच आधार-संग्रह पर योग्य तरह से गौर करना चाहिए कि वह—'अनित्य होते है, कष्टपूर्ण होते है, रोग होते है, फोड़ा होते है, तीर होते है, पीड़ादायक होते है, मुसीबत होते है, पराये होते है, भंग होते है, शून्य होते है, अनात्म होते है।' हालाँकि अरहंत भिक्षु को आगे कुछ करने के लिए बचता नही, और जो प्राप्त हो चुका, उसमें अधिक कुछ जुड़ता नही। फ़िर भी इस चिंतन की साधना करने, बार-बार करने से अभी यही सुखविहार होता है, तथा स्मरणशीलता व सचेतता बढ़ती है।

«सं.नि.२२:१२२»

* * *

«भारा हवे पञ्चक्खन्धा, भारहारो च पुग्गलो,
भारादानं दुखं लोके, भारनिक्खेपनं सुखं।»
ढ़ोनेवाले व्यक्ति के वाक़ई भार होते है - पाँच संग्रह। इस दुनिया का दुःख है - भार उठाना।
किंतु भार को नीचे डाल देना - सुख।
«निक्खिपित्वा गरुं भारं, अञ्ञं भारं अनादिय,
समूलं तण्हं अब्बुय्ह, निच्छातो परिनिब्बुतो"ति»
भारी-भार को नीचे डाल, न उठाए वह अन्य भार।
तृष्णा को जड़ से उखाड़, वह भूखमुक्त हो, परिनिवृत्त हो जाता है।

«सं.नि.२२:२२»

* * *

दुःख-उत्पत्ति आर्यसत्य क्या है?

यह जो **तृष्णा** है—पुनः अस्तित्व देनेवाली «पोनोब्भविका», मज़ा व दिलचस्पी के साथ आनेवाली «नन्दिरागसहगता», यहाँ वहाँ लुत्फ़ उठानेवाली «तत्रतत्राभिनन्दिनी»—अर्थात [इंद्रियसुख पाने की] काम तृष्णा **«कामतण्हा»,** अस्तित्व [बनाने की] तृष्णा **«भवतण्हा»,** अस्तित्व मिटाने की तृष्णा **«विभवतण्हा»**।

भिक्षुओं, यह तृष्णा जागनी हो तो कहाँ जागती [पैदा होती] है, बसनी हो तो कहाँ बसती [निवास करती] है? **इस दुनिया में जो प्रिय होता है, अच्छा लगता है**—तृष्णा जागनी हो तो यही जागती है, बसनी हो तो यही बसती है।

इस दुनिया में क्या प्रिय होता है, अच्छा लगता है? इस दुनिया में **आँख** प्रिय होती है, अच्छी लगती है—यह तृष्णा जागनी हो तो यही जागती है, बसनी हो तो यही बसती है। इस दुनिया में **कान... नाक... जीभ... काया... मन** प्रिय होता है, अच्छा लगता है—तृष्णा जागनी हो तो यही जागती है, बसनी हो तो यही बसती है।

इस दुनिया में **रूप... आवाज़... गंध... स्वाद... संस्पर्श... स्वभाव** प्रिय होते है, अच्छे लगते है—तृष्णा जागनी हो तो यही जागती है, बसनी हो तो यही बसती है।

इस दुनिया में **आँख की चैतन्यता... कान की चैतन्यता... नाक की चैतन्यता... जीभ की चैतन्यता... काया की चैतन्यता... मन की चैतन्यता** प्रिय होती है, अच्छी लगती है—तृष्णा जागनी हो तो यही जागती है, बसनी हो तो यही बसती है।

इस दुनिया में **आँख का संपर्क «फस्स»... कान का संपर्क... नाक का संपर्क... जीभ का संपर्क... काया का संपर्क... मन का संपर्क** प्रिय होता है, अच्छा लगता है—तृष्णा जागनी हो तो यही जागती है, बसनी हो तो यही बसती है।

इस दुनिया में **आँख संपर्क से जागी संवेदना... कान संपर्क से जागी संवेदना... नाक संपर्क से जागी संवेदना... जीभ संपर्क से जागी संवेदना... काया संपर्क से जागी संवेदना... मन संपर्क से जागी संवेदना** प्रिय होती है, अच्छी लगती है—तृष्णा जागनी हो तो यही जागती है, बसनी हो तो यही बसती है।

इस दुनिया में **रूप के प्रति नज़रिया... आवाज़ के प्रति नज़रिया... गंध के प्रति नज़रिया... स्वाद के प्रति नज़रिया... संस्पर्श के प्रति नज़रिया... स्वभाव के प्रति नज़रिया** प्रिय होता है, अच्छा लगता है—तृष्णा जागनी हो तो यही जागती है, बसनी हो तो यही बसती है।

इस दुनिया में **रूप के प्रति इरादा «संचेतना»... आवाज़ के प्रति इरादा... गंध के प्रति इरादा... स्वाद के प्रति इरादा... संस्पर्श के प्रति इरादा... स्वभाव के प्रति इरादा** प्रिय होता है, अच्छा लगता है—तृष्णा जागनी हो तो यही जागती है, बसनी हो तो यही बसती है।

इस दुनिया में **रूप के प्रति तृष्णा... आवाज़ के प्रति तृष्णा... गंध के प्रति तृष्णा... स्वाद के प्रति तृष्णा... संस्पर्श के प्रति तृष्णा... स्वभाव के प्रति तृष्णा** प्रिय होती है, अच्छी लगती है—तृष्णा जागनी हो तो यही जागती है, बसनी हो तो यही बसती है।

इस दुनिया में **रूप के प्रति सोच «वितक्क»... आवाज़ के प्रति सोच... गंध के प्रति सोच... स्वाद के प्रति सोच... संस्पर्श के प्रति सोच... स्वभाव के प्रति सोच** प्रिय होती है, अच्छी लगती है—तृष्णा जागनी हो तो यही जागती है, बसनी हो तो यही बसती है।

इस दुनिया में **रूप के प्रति विचार... आवाज़ के प्रति विचार... गंध के प्रति विचार... स्वाद के प्रति विचार... संस्पर्श के प्रति विचार... स्वभाव के प्रति विचार** प्रिय होता है, अच्छा लगता है—तृष्णा जागनी हो तो यही जागती है, बसनी हो तो यही बसती है।

भिक्षुओं, यह कहलाता है दुःख-उत्पत्ति आर्यसत्य।

«दी.नि.२२»

* * *

दुःख-निरोध आर्यसत्य क्या है?

उसी **तृष्णा** का बिना शेष बचे वैराग्य होना, निरोध होना, त्याग दिया जाना, संन्यास ले लेना, मुक्ति होना, आश्रय छूट जाना।

भिक्षुओं, यह तृष्णा छोड़नी हो तो कहाँ छोड़ी जाती है, खत्म करनी हो तो कहाँ ख़त्म होती है? इस दुनिया में **जो प्रिय होता है, अच्छा लगता है**—तृष्णा छोड़नी हो तो यही छोड़ी जाती है, खत्म करनी हो तो यही खत्म होती है।

इस दुनिया में क्या प्रिय होता है, अच्छा लगता है? इस दुनिया में **आँख** प्रिय होती है, अच्छी लगती है—यह तृष्णा छोड़नी हो तो यही छोड़ी जाती है, खत्म करनी हो तो यही खत्म होती है। इस

दुनिया में **कान... नाक... जीभ... काया... मन** प्रिय होता है, अच्छा लगता है—तृष्णा छोड़नी हो तो यही छोड़ी जाती है, खत्म करनी हो तो यही खत्म होती है।

इस दुनिया में **रूप... आवाज़... गंध... स्वाद... संस्पर्श... स्वभाव** प्रिय होते है, अच्छे लगते है—तृष्णा छोड़नी हो तो यही छोड़ी जाती है, खत्म करनी हो तो यही खत्म होती है।

इस दुनिया में **आँख की चैतन्यता... कान की चैतन्यता... नाक की चैतन्यता... जीभ की चैतन्यता... काया की चैतन्यता... मन की चैतन्यता** प्रिय होती है, अच्छी लगती है—तृष्णा छोड़नी हो तो यही छोड़ी जाती है, खत्म करनी हो तो यही खत्म होती है।

इस दुनिया में **आँख का संपर्क... कान का संपर्क... नाक का संपर्क... जीभ का संपर्क... काया का संपर्क... मन का संपर्क** प्रिय होता है, अच्छा लगता है—तृष्णा छोड़नी हो तो यही छोड़ी जाती है, खत्म करनी हो तो यही खत्म होती है।

इस दुनिया में **आँख संपर्क से जागी संवेदना... कान संपर्क से जागी संवेदना... नाक संपर्क से जागी संवेदना... जीभ संपर्क से जागी संवेदना... काया संपर्क से जागी संवेदना... मन संपर्क से जागी संवेदना** प्रिय होती है, अच्छी लगती है—तृष्णा छोड़नी हो तो यही छोड़ी जाती है, खत्म करनी हो तो यही खत्म होती है।

इस दुनिया में **रूप के प्रति नज़रिया... आवाज़ के प्रति नज़रिया... गंध के प्रति नज़रिया... स्वाद के प्रति नज़रिया... संस्पर्श के प्रति नज़रिया... स्वभाव के प्रति नज़रिया** प्रिय होता है, अच्छा लगता है—तृष्णा छोड़नी हो तो यही छोड़ी जाती है, खत्म करनी हो तो यही खत्म होती है।

इस दुनिया में **रूप के प्रति इरादा... आवाज़ के प्रति इरादा... गंध के प्रति इरादा... स्वाद के प्रति इरादा... संस्पर्श के प्रति इरादा... स्वभाव के प्रति इरादा** प्रिय होता है, अच्छा लगता है—तृष्णा छोड़नी हो तो यही छोड़ी जाती है, खत्म करनी हो तो यही खत्म होती है।

इस दुनिया में **रूप के प्रति तृष्णा... आवाज़ के प्रति तृष्णा... गंध के प्रति तृष्णा... स्वाद के प्रति तृष्णा... संस्पर्श के प्रति तृष्णा... स्वभाव के प्रति तृष्णा** प्रिय होती है, अच्छी लगती है—तृष्णा छोड़नी हो तो यही छोड़ी जाती है, खत्म करनी हो तो यही खत्म होती है।

इस दुनिया में **रूप के प्रति सोच... आवाज़ के प्रति सोच... गंध के प्रति सोच... स्वाद के प्रति सोच... संस्पर्श के प्रति सोच... स्वभाव के प्रति सोच** प्रिय होती है, अच्छी लगती है—तृष्णा छोड़नी हो तो यही छोड़ी जाती है, खत्म करनी हो तो यही खत्म होती है।

इस दुनिया में **रूप के प्रति विचार... आवाज़ के प्रति विचार... गंध के प्रति विचार... स्वाद के प्रति विचार... संस्पर्श के प्रति विचार... स्वभाव के प्रति विचार** प्रिय होता है, अच्छा लगता है—तृष्णा छोड़नी हो तो यही छोड़ी जाती है, खत्म करनी हो तो यही खत्म होती है।

भिक्षुओं, यह कहलाता है दुःख-निरोध आर्यसत्य।

«दी.नि.२२»

दुःख-निरोध करानेवाला प्रगतिपथ आर्यसत्य क्या है?

— आर्य अष्टांगिक मार्ग।

आर्य अष्टांगिक मार्ग क्या है?

— सम्यकदृष्टि, सम्यकसंकल्प, सम्यकवचन, सम्यककार्य, सम्यकजीविका, सम्यकमेहनत, सम्यकस्मृति, सम्यकसमाधि।

सम्यकदृष्टि क्या है?

- दुःख का ज्ञान,
- दुःख उत्पत्ति का ज्ञान,
- दुःख निरोध का ज्ञान,
- दुःख निरोध करानेवाले प्रगतिपथ का ज्ञान।

सम्यकसंकल्प क्या है?

- संन्यास का संकल्प,
- दुर्भावनाविहीन संकल्प,
- अहिंसात्मक संकल्प।

सम्यकवचन क्या है?

- असत्य वचन से विरत रहना,
- फूट डालनेवाले वचन से विरत रहना,
- कटु वचन से विरत रहना,
- व्यर्थ वचन से विरत रहना।

सम्यककार्य क्या है?

- जीवहत्या से विरत रहना,
- चुराने से विरत रहना,
- अब्रह्मचर्य [=मैथुनस्वभाव] से विरत रहना।

सम्यकजीविका क्या है?

कोई भिक्षु मिथ्या-जीविका त्यागता है, और सम्यक जीविका से जीवन चलाता है।

सम्यकमेहनत क्या है?

• अनुत्पन्न पाप/अकुशल स्वभाव आगे उत्पन्न न हो—उसके लिए भिक्षु चाह पैदा करता है «छन्द जनेति», मेहनत करता है «वायमति», ज़ोर लगाता है «विरियं आरभति», इरादा बनाकर जुटता है «चित्तं पग्गणाति पदहति»।

• उत्पन्न पाप/अकुशल स्वभाव छोड़ने के लिए भिक्षु चाह पैदा करता है, मेहनत करता है, ज़ोर लगाता है, इरादा बनाकर जुटता है।

• अनुत्पन्न कुशल स्वभाव उत्पन्न करने के लिए भिक्षु चाह पैदा करता है, मेहनत करता है, ज़ोर लगाता है, इरादा बनाकर जुटता है।

• और उत्पन्न कुशल स्वभाव टिकाए रखने, आगे लाने, वृद्धि करने, प्रचुरता लाने, विकसित कर परिपूर्ण करने के लिए भिक्षु चाह पैदा करता है, मेहनत करता है, ज़ोर लगाता है, इरादा बनाकर जुटता है।

सम्यकस्मृति क्या है?

• कोई भिक्षु **काया** को [मात्र] काया देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

• **संवेदना** को [मात्र] संवेदना देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

• **चित्त** को [मात्र] चित्त देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

• **स्वभाव** को [मात्र] स्वभाव देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

सम्यकसमाधि क्या है?

• कोई भिक्षु त्याग-आलंबन बनाकर समाधि लगाता है, चित्त-एकाग्र करता है। वह काम से निर्लिप्त, अकुशल स्वभाव से निर्लिप्त—सोच व विचार के साथ निर्लिप्तता से जन्मे प्रफुल्लता व सुखवाले **प्रथम-झान** में प्रवेश कर रहता है।

• फ़िर आगे सोच व विचार रुक जानेपर भीतर आश्वस्त हुआ मानस एकरस होकर बिना-सोच बिना-विचार, समाधि से जन्मे प्रफुल्लता व सुखवाले **द्वितीय-झान** में प्रवेश कर रहता है।

• तब आगे वह प्रफुल्लता से विरक्ति ले, स्मरणशील सचेतता के साथ तटस्थता धारणकर शरीर से सुख महसूस करता है। जिसे आर्यजन 'तटस्थ स्मरणशील सुखविहारी' कहते है—वह उस **तृतीय-झान** में प्रवेश कर रहता है।

• आगे वह सुख दर्द दोनों हटाकर, खुशी व परेशानी पूर्व ही विलुप्त होने से अब नसुख-नदर्दवाले, तटस्थता व स्मरणशीलता की परिशुद्धता के साथ **चतुर्थ-झान** में प्रवेश कर रहता है।

«दी.नि.२२»

★ ★ ★

८

अरियसच्च वित्थार

~ आर्य सत्य विस्तार से ~

अरिय सम्मासमाधि —

जब 'चित्त की एकाग्रता' इन **सात-अंगों** से परिपूर्ण हो—सम्यकदृष्टि सम्यकसंकल्प सम्यकवचन सम्यककार्य सम्यकजीविका सम्यकमेहनत व सम्यकस्मृति—तब उसे 'आर्य सम्यकसमाधि' कहते है। वही सात-अंग उसका आधार बनते है, और वही उसकी पूर्व-आवश्यकता है।

उनमें सम्यकदृष्टि अग्र होती है। कैसे?

जिसे मिथ्यादृष्टि पता चले कि 'यह मिथ्यादृष्टि है', और सम्यकदृष्टि पता चले कि 'यह सम्यकदृष्टि है'—वही उसकी सम्यकदृष्टि होती है। और मिथ्यादृष्टि क्या है?

मिथ्यादृष्टि

• 'नही होता दान [का फ़ल]। नही होता चढ़ावा। नही होती आहुति। नही होता सुकृत्य या दुष्कृत्य कर्मों का फ़ल परिणाम। नही होता लोक। नही होता परलोक। न माता होती है, न पिता। न टपके सत्व «ओपपातिक» होते है। और नही होते ऐसे श्रमण व ब्राह्मण, जो सम्यक-साधना कर, सम्यक-प्रगति करते हुए विशिष्ट-ज्ञान साक्षात्कार कर, लोक-परलोक होने की घोषणा करते है।'#

• 'कोई दुष्कृत्य करने या करवाने में, किसी को काटने या कटवाने में, किसी को यातना देने या दिलवाने में, किसी को शोक देने या दिलवाने में, किसी को पीड़ा देने या दिलवाने में, किसी को

ऐसी दृष्टि भगवान के समकालीन छह गुरुओं में से एक 'अजित केसकम्बलिन' की थी।

डराने या डरवाने में, किसी की हत्या, चोरी, लूट, डाका, घात लगाने, व्यभिचार करने, झूठ बोलने में—**कोई पाप नही होता**।

यदि कोई इस धरातल के सभी जीवों को चक्र से काटते हुए उन्हें माँस के ढ़ेर में बदल दे—तब भी कोई पाप न हो, बुरा परिणाम न हो। कोई यदि गंगा नदी के दाँए-तट पर जीवों को मारते मरवाते, काटते कटवाते, यातना प्रताड़ना देते या दिलवाते जाए—तब भी कोई पाप नहीं होता, बुरा परिणाम नहीं होता। कोई यदि गंगा नदी के बाएँ-तट पर जीवों को दान देते दिलवाते, बलिदान देते दिलवाते जाए—तब भी कोई पुण्य नहीं होता, अच्छा परिणाम नहीं होता। दान, आत्मनियंत्रण, संयम व सत्यवाणी से कोई पुण्य नहीं होता, कोई अच्छा परिणाम नहीं होता।'[#]

• 'सत्वों की मलिनता की कोई वजह या परिस्थिति [=कार्यकारण संबंध] नही होती। सत्व अकारण, बिनाशर्त मलिन हो जाते है। सत्व अकारण, बिनाशर्त विशुद्ध भी हो जाते है। न कोई बल, न कोई मेहनत, न कोई पौरुष ऊर्जा, न कोई पौरुष उद्यमता होती है। बल्कि सभी सत्व प्राणी भूत जीव—बलहीन, मेहनतहीन व ऊर्जाहीन होते है। मात्र संयोग, भाग्य व अनियमित सृष्टि के बदलाव में फँसकर सभी छह-महाजातियों में उत्पन्न हो सुखदुःख भोगते ही है। [अर्थात, दुःख-मुक्ति की कोई संभावना नही]'[##]

• '[भौतिक जगत के परे] नही होती अरुपता। और नही होता लोक अस्तित्व का निरोध।"

— यह मिथ्यादृष्टि है।

और सम्यकदृष्टि क्या है?

सम्यकदृष्टि

सम्यकदृष्टि मैं कहता हूँ, दो प्रकार की होती है —

(१) [लोकिय सम्यकदृष्टि]—बहाव के साथ, पुण्य पक्ष की, संग्रह करानेवाली।

(२) [आर्य सम्यकदृष्टि]—बिना बहाव के साथ, लोकुत्तर, आर्यमार्ग अंगोवाली।

[लोकिय] सम्यकदृष्टि क्या है?

• 'दान होता है। चढ़ावा होता है। आहुति होती है। सुकृत्य या दुष्कृत्य कर्मों का फल-परिणाम होता है। लोक होता है। परलोक होता है। माता होती है, पिता होता है। टपके सत्व होते है। और ऐसे श्रमण व ब्राह्मण होते है, जो सम्यक-साधना कर, सम्यक-प्रगति करते हुए विशिष्ट-ज्ञान साक्षात्कार कर, लोक-परलोक होने की घोषणा करते है।'

[#] ऐसी दृष्टि दुसरे गुरु 'पूराण कश्यप' की थी।

[##] ऐसी दृष्टि तीसरे गुरु 'मक्खलि गोसाल' की थी।

• 'कोई दुष्कृत्य करने या करवाने में, किसी को काटने या कटवाने में, किसी को यातना देने या दिलवाने में, किसी को शोक देने या दिलवाने में, किसी को पीड़ा देने या दिलवाने में, किसी को डराने या डरवाने में, किसी की हत्या, चोरी, लूट, डाका, घात लगाने, व्यभिचार करने, झूठ बोलने में—**पाप होता है**।'

यदि कोई इस धरातल के सभी जीवों को चक्र से काटते हुए उन्हें माँस के ढ़ेर में बदल दे—तो बड़ा पाप होगा, बुरा परिणाम आएगा। कोई यदि गंगा नदी के दाँए-तट पर जीवों को मारते मरवाते, काटते कटवाते, यातना प्रताड़ना देते या दिलवाते जाए—तब पाप होगा, बुरा परिणाम आएगा। कोई यदि गंगा नदी के बाएँ-तट पर जीवों को दान देते दिलवाते, बलिदान देते दिलवाते जाए—तब पुण्य होगा, अच्छा परिणाम आएगा। दान, आत्मनियंत्रण, संयम व सत्यवाणी से पुण्य होता है, अच्छा परिणाम आता है।'

• 'सत्वों की मलिनता की वजह व परिस्थिति होती है। कारणपूर्ण सशर्त सत्व मलिन हो जाते है। तथा कारणपूर्ण सशर्त सत्व विशुद्ध हो सकते है। [उसके लिए] बल, मेहनत, पौरुष ऊर्जा, पौरुष उद्यमता होती है। सत्व प्राणी भूत जीव—बलपूर्ण, मेहनतपूर्ण व ऊर्जापूर्ण होते है। मात्र संयोग, भाग्य व अनियमित सृष्टि के बदलाव में फँसकर छह-महाजातियों में उत्पन्न हो सुख-दुःख नही भोगते।' [अर्थात, दुःख-मुक्ति की संभावना मौजूद है।]

• '[भौतिक जगत के परे] अरूपता होती है। और अस्तित्व निरोध भी हो सकता है।'

— यह बहाव के साथ, पुण्य पक्ष की, संग्रह करानेवाली सम्यकदृष्टि है।

आर्य-सम्यकदृष्टि क्या है?

ऐसा कोई व्यक्ति हो: आर्य-चित्तवाला, बहावमुक्त चित्तवाला, आर्य [अष्टांगिक] मार्ग पर पूर्णतः प्रतिष्ठित, आर्यमार्ग की साधना करनेवाला—उसका सम्यकदृष्टि-मार्गअंग, अन्तर्ज्ञान, अन्तर्ज्ञानइंद्रिय, अन्तर्ज्ञानबल, स्वभाव-जाँच संबोधिअंग—यह आर्य-सम्यकदृष्टि है, बिना बहाव के साथ, लोकुत्तर, आर्यमार्ग-अंगवाली।

जो मिथ्यादृष्टि त्यागकर सम्यकदृष्टि उत्पन्न करने का प्रयत्न करें—वही उसकी सम्यकमेहनत है। जो मिथ्यादृष्टि त्यागकर सम्यकदृष्टि उत्पन्न करने के प्रति स्मरणशील रहे—वही उसकी सम्यकस्मृति है। इस तरह तीन धर्मस्वभाव—सम्यकदृष्टि सम्यकमेहनत सम्यकस्मृति—सम्यकदृष्टि के गोलगोल चक्कर काटते रहते है।

«मा.नि.६० + मा.नि.११७»

* * *

‘भगवान, ‘सम्यकदृष्टि.. सम्यकदृष्टि’ कहते है। किस हद तक सम्यकदृष्टि होती है?”

मोटा-मोटी यह दुनिया **अस्तित्व और अनस्तित्व**—इस ध्रुवीयता का आधार लेती है। किंतु कोई व्यक्ति दुनिया की जैसे **उत्पत्ति** होती हो, वैसे सही देख ले, तब उसे दुनिया का केवल ‘अनस्तित्व’ ही होता है – ऐसा नही लगता। और कोई व्यक्ति दुनिया का जैसे **निरोध** होता हो, वैसे सही देख ले, तो उसे दुनिया का केवल ‘अस्तित्व’ ही होता है – ऐसा नही लगता।

मोटा-मोटी यह दुनिया आसक्तियों में बँधी है, आधारों पर टिकी है, और एकतरफ़ा झुकी है। किंतु जो व्यक्ति इन आसक्तियों, आधारों, लगावों या सुप्त-अवस्थाओं में न पड़े, वह एकतरफ़ा नही झुकता। वह न ‘मेरा आत्म’ को लेकर किसी तरह से संकल्पित होता है, न उसे शंका या अनिश्चितता होती है कि जब भी कुछ उत्पन्न होता हो—मात्र **दुःख** ही उत्पन्न होता है। जब भी कुछ व्यय होता हो—मात्र **दुःख** ही व्यय होता है। इस तरह उसका ज्ञान अन्यों से स्वतंत्र होता है।

— इस हद तक सम्यकदृष्टि होती है।

«सं.नि.१२:१५»

* * *

मैं कोई अन्य स्वभाव नही देखता, जिससे अनुत्पन्न **अकुशल** स्वभाव उत्पन्न होने लगते है, और उत्पन्न अकुशल स्वभाव बढ़ने, वृद्धि पाने लगते है—जैसे मिथ्यादृष्टि।

और मैं कोई अन्य स्वभाव नही देखता, जिससे अनुत्पन्न **कुशल** स्वभाव उत्पन्न होने लगते है, और उत्पन्न कुशल स्वभाव बढ़ने, वृद्धि पाने लगते है—जैसे सम्यकदृष्टि।

जैसे कोई नम-भूमि पर नीम, करेंला या कड़वे ख़रबूज़े का बीज डाल दे। अब वह बीज नम-भूमि से जो पोषण लेगा, जितना पोषण लेगा—सभी कड़वावट लाएगा, कटु लगेगा, स्वाद में नापसंदीदा होगा। क्यों? क्योंकि बीज ही वैसे कड़वे «पापी» स्वभाव का है।

उसी तरह कोई मिथ्यादृष्टि में पड़ जाए! मिथ्यादृष्टि में पड़कर वह जो भी कायिककर्म, वाचिककर्म या मनोकर्म आरंभ करता है, या जो भी इरादे निश्चय संकल्प या रचना आरंभ करता है—सभी अप्रिय असुखद अनाकर्षक अलाभ एवं दुःख की ओर ही ले जाते हैं। क्यों? क्योंकि **दृष्टि** ही वैसे पापी स्वभाव की है।

किंतु कोई नम-भूमि पर गन्ना, चावल या अंगूर का बीज डाल दे। अब वह बीज नम-भूमि से जो पोषण लेगा, जितना पोषण लेगा—सभी मिठास लाएगा, स्वादिष्ट लगेगा, स्वाद में पसंदीदा होगा। क्यों? क्योंकि बीज ही वैसे मंगलकारी स्वभाव की है।

उसी तरह कोई सम्यकदृष्टि में प्रतिष्ठित हो जाए! सम्यकदृष्टि में प्रतिष्ठित होकर वह जो भी कायिककर्म, वाचिककर्म या मनोकर्म आरंभ करता है, या जो भी इरादे निश्चय संकल्प या रचना

आरंभ करता है—सभी प्रिय सुखद आकर्षक लाभ एवं सुख की ओर ही ले जाते है। क्यों? क्योंकि **दृष्टि** ही वैसे मंगलकारी स्वभाव की है।

«अं.नि.१:१८१~१८२, १८९~१९०»

* * *

अविद्या भिक्षुओं, अकुशल स्वभाव पनपने में नेतृत्व करती है। उसके पीछे-पीछे निर्लज्जता व बेफ़िक्री «अहिरी अनोतप्प» चलते आते है।

अविद्या में डूबे, धर्म न सुने आम आदमी में मिथ्यादृष्टि उत्पन्न होती है। जिसकी दृष्टि मिथ्या हो, उसमें मिथ्यासंकल्प उत्पन्न होते है। जिसके संकल्प मिथ्या हो, वह मिथ्यावचन बोलता है। जिसके वचन मिथ्या हो, वह मिथ्याकार्य करता है। जिसके कार्य मिथ्या हो, उसकी मिथ्याजीविका होती है। जिसकी जीविका मिथ्या हो, वह मिथ्यामेहनत करता है। जो मेहनत मिथ्या करें, उसमें मिथ्यास्मृति पनपती है। जिसमें स्मृति मिथ्या पनपे, उसे मिथ्यासमाधि मिलती है। जिसकी समाधि मिथ्या हो, उसे मिथ्याज्ञान मिलता है। जिसे ज्ञान मिथ्या मिले, उसकी मिथ्याविमुक्ति होती है। जिसकी विमुक्ति मिथ्या हो, उसका आधार-संग्रह बने रहता है। जिसका आधार-संग्रह बने रहे, उसका अस्तित्व निरोध नही होता। जिसका अस्तित्व बने रहे, वह फ़िर जन्म में पड़ता है। उसे रोग बुढ़ापा मौत, शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा होती रहती है।

जबकि **विद्या** भिक्षुओं, कुशल स्वभाव पनपने में नेतृत्व करती है। उसके पीछे-पीछे लज्जा व फ़िक्र «हिरी ओतप्प» चलते आते है।

विद्या में प्रतिष्ठित जानकार-व्यक्ति में सम्यकदृष्टि उत्पन्न होती है। जिसकी दृष्टि सम्यक हो, उसमें सम्यकसंकल्प उत्पन्न होते है। जिसके संकल्प सम्यक हो, वह सम्यकवचन बोलता है। जिसके वचन सम्यक हो, वह सम्यककार्य करता है। जिसके कार्य सम्यक हो, उसकी सम्यकजीविका होती है। जिसकी जीविका सम्यक हो, वह सम्यकमेहनत करता है। जो मेहनत सम्यक करें, उसमें सम्यकस्मृति पनपती है। जिसमें स्मृति सम्यक पनपे, उसे सम्यकसमाधि मिलती है। जिसकी समाधि सम्यक हो, उसे सम्यकज्ञान मिलता है। जिसे ज्ञान सम्यक मिले, उसकी सम्यकविमुक्ति होती है। जिसकी विमुक्ति सम्यक हो, उसका आधार-संग्रह निरोध हो जाता है। जिसका आधार-संग्रह निरोध हो, उसका अस्तित्व निरोध हो जाता है। जिसका अस्तित्व निरोध हो जाए, वह फ़िर जन्म में नही पड़ता। उसे रोग बुढ़ापा मौत, शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा नही होती।

«सं.नि.४५:१ + मा.नि.११७»

* * *

भिक्षुओं, जब घड़ा **चौकी** पर न रखा हो, तो आसानी से उलट जाता है। किंतु चौकी पर रखा आसानी से नही उलटता। उसी तरह जब **चित्त** चौकी पर न रखा हो, तो आसानी से उलट जाता है। किंतु चौकी पर रखा आसानी से नही उलटता।

यह 'चित्त की चौकी' क्या होती है? बस यही—आर्य अष्टांगिक मार्ग।

«सं.नि.४५:२७»

* * *

समाधि विकसित करो, भिक्षुओं। समाधि में लीन भिक्षु जैसे हो, वैसे सही पता करता है। जैसे हो, वैसे क्या सही पता करता है?

रूप की उत्पत्ति व विलुप्त होना। संवेदना... नज़रिए... रचना... चैतन्यता की उत्पत्ति व विलुप्त होना।

रूप की उत्पत्ति क्या है?

कोई व्यक्ति [भौतिक] रूप से आनंदित होता है, स्वीकार करता है, जुड़ जाता है। जब वह रूप से आनंदित होता है, स्वीकार करता है, जुड़ जाता है, तब उसे **मज़ा** आता है। रूप का किसी भी तरह मज़ा लेना **आधार** बनाता है। आधार के कारण **अस्तित्व** पनपता है। अस्तित्व के कारण **जन्म** होता है। जन्म के कारण बुढ़ापा मौत शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा का सिलसिला चल पड़ता है। इस तरह **समस्त दुःख संग्रह** की उत्पत्ति होती है।

संवेदना...नज़रिए... रचना... चैतन्यता की उत्पत्ति क्या है?

कोई व्यक्ति संवेदना... नज़रिए... रचना... चैतन्यता से आनंदित होता है, स्वीकार करता है, जुड़ जाता है। जब वह संवेदना... नज़रिए... रचना... चैतन्यता से आनंदित होता है, स्वीकार करता है, जुड़ जाता है, तब उसे **मज़ा** आता है। संवेदना... नज़रिए... रचना... चैतन्यता का किसी भी तरह मज़ा लेना **आधार** बनाता है। आधार के कारण **अस्तित्व** पनपता है। अस्तित्व के कारण **जन्म** होता है। जन्म के कारण बुढ़ापा मौत शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा का सिलसिला चल पड़ता है। इस तरह **समस्त दुःख संग्रह** की उत्पत्ति होती है।

और **रूप का विलुप्त होना** क्या है?

कोई व्यक्ति रूप से आनंदित नही होता, स्वीकार नही करता, जुड़ नही जाता। जब वह रूप से आनंदित नही होता, स्वीकार नही करता, जुड़ नही जाता, तब उसे **मज़ा** नही आता। रूप का किसी भी तरह मज़ा न लेना **आधार** ख़त्म करता है। आधार ख़त्म होने के कारण **अस्तित्व** नही पनपता। अस्तित्व न होने के कारण **जन्म** नही होता। जन्म न होने के कारण बुढ़ापा मौत शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा का सिलसिला रुक जाता है। इस तरह समस्त दुःख संग्रह विलुप्त हो जाता है।

संवेदना...नज़रिए... रचना... चैतन्यता का विलुप्त होना क्या है?

कोई व्यक्ति संवेदना...नज़रिए... रचना... चैतन्यता से आनंदित नही होता, स्वीकार नही करता, जुड़ नही जाता। जब वह संवेदना...नज़रिए... रचना... चैतन्यता से आनंदित नही होता, स्वीकार नही करता, जुड़ नही जाता, तब उसे **मज़ा** नही आता। संवेदना...नज़रिए... रचना... चैतन्यता का किसी भी तरह मज़ा न लेना **आधार** ख़त्म करता है। आधार ख़त्म होने के कारण **अस्तित्व** नही पनपता। अस्तित्व न होने के कारण **जन्म** नही होता। जन्म न होने के कारण बुढ़ापा मौत शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा का सिलसिला रुक जाता है। इस तरह समस्त दुःख संग्रह विलुप्त हो जाता है।

इस तरह भिक्षुओं, रूप की उत्पत्ति व विलुप्ति होती है। संवेदना... नज़रिए... रचना... चैतन्यता की उत्पत्ति व विलुप्ति होती है, जिसे समाधि में लीन भिक्षु जैसे हो, वैसे सही पता करता है। इसलिए समाधि विकसित करो, भिक्षुओं। समाधि में लीन भिक्षु जैसे हो, वैसे सही पता करता है।

«सं.नि.२२:५»

* * *

पटिच्च समुप्पाद

एक समय भगवान उरुवेला में रहते हुए, निरंजना नदी के तट समीप बोधिवृक्षतले, अभी संबुद्ध बने थे। तब भगवान एक ही बैठक में सप्ताहभर बैठे रहे—विमुक्ति सुख महसूस करते हुए। सप्ताह बीतने पर उस समाधि से उठ रात्रि के तीसरे पहर भगवान ने **आधारपूर्ण सहउत्पत्ति** पर सीधे व विपरीत क्रम में ठीक से गौर किया।

इस तरह —

जब यह हो, तब वह होता है।
यह उत्पन्न होने से वह उत्पन्न होता है।
जब यह न हो, तो वह नही होता।
यह ख़त्म होने से वह ख़त्म होता है।

अर्थात —

- अविद्या की स्थिति में रचनाएँ बनती है।
- रचनाओं की स्थिति में चैतन्यता उत्पन्न होती है।
- चैतन्यता की स्थिति में नाम-रूप बनता है।
- नाम-रूप की स्थिति में छह आयाम प्रकट होते है।
- छह आयाम के स्थिति में संपर्क होता है।
- संपर्क की स्थिति में संवेदना होती है।

- संवेदना की स्थिति में तृष्णा उत्पन्न होती है।
- तृष्णा की स्थिति में आधार बनता है।
- आधार की स्थिति में अस्तित्व पनपता है।
- अस्तित्व की स्थिति में जन्म होता है।
- जन्म की स्थिति में बुढ़ापा मौत, शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा उपस्थित होते है।

— इस तरह संपूर्ण दुःख-संग्रह की उत्पत्ति होती है।

- अब उसी अविद्या का बिना शेष बचे वैराग्य व निरोध होने पर रचनाएँ रुकती है।
- रचनाएँ रुकने पर चैतन्यता ख़त्म होती है।
- चैतन्यता न होने पर नाम-रूप नहीं बनता।
- नाम-रूप न होने पर पर छह आयाम प्रकट नहीं होते।
- छह आयाम न होने पर संपर्क नहीं होता।
- संपर्क न होने पर संवेदना नहीं होती।
- संवेदना न होने पर तृष्णा उत्पन्न नहीं होती।
- तृष्णा न होने पर आधार नहीं बनता।
- आधार न होने पर अस्तित्व नहीं पनपता।
- अस्तित्व न होने पर जन्म नहीं होता।
- जन्म न होने पर बुढ़ापा मौत, शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा उपस्थित नहीं होते।

— इस तरह संपूर्ण दुःख-संग्रह ख़त्म हो जाता है।

«उदान १:३»

* * *

गहरी है यह आधारपूर्ण सहउत्पत्ति! गहरा है इसका दर्शन! इसी धर्म का बोध न करने, भेदन न करने से यह जनता 'उलझे सूत' जैसी है! 'धागे के गठीले गोले' जैसी है! 'कँटीली झाड़ी' जैसी है! और दयनीय लोक, दुर्गति व नीचे यातनालोक के दुष्चक्र के परे नही जाती!

«दी.नि.१५»

* * *

इस तरह कोई व्यक्ति **आँख** जैसी हो वैसे पता कर; **रूप** जैसा हो वैसे पता कर; **आँख की चैतन्यता** जैसी हो वैसे पता कर; **आँख पर संपर्क** जैसा हो वैसे पता कर; आँख के संपर्क से उत्पन्न **जो भी महसूस हो**—सुख, दर्द या नसुख-नदर्द जैसा हो वैसे पता कर—वह उनसे मोहित नही होता।

- **कान... आवाज़... कान की चैतन्यता... कान पर संपर्क...** कान के संपर्क से उत्पन्न **जो भी महसूस हो**—सुख, दर्द या नसुख-नदर्द जैसा हो वैसे पता कर—वह उनसे मोहित नही होता।

• **नाक... गंध... नाक की चैतन्यता... नाक पर संपर्क...** नाक के संपर्क से उत्पन्न **जो भी महसूस हो**—सुख, दर्द या नसुख-नदर्द जैसा हो वैसे पता कर—वह उनसे मोहित नही होता।

• **जीभ... स्वाद... जीभ की चैतन्यता... जीभ पर संपर्क...** जीभ के संपर्क से उत्पन्न **जो भी महसूस हो**—सुख, दर्द या नसुख-नदर्द जैसा हो वैसे पता कर—वह उनसे मोहित नही होता।

• **काया... संस्पर्श... काया की चैतन्यता... काया पर संपर्क**... काया के संपर्क से उत्पन्न **जो भी महसूस हो**—सुख, दर्द या नसुख-नदर्द जैसा हो वैसे पता कर—वह उनसे मोहित नही होता।

• **मन... स्वभाव.. मन की चैतन्यता... मन पर संपर्क...** मन के संपर्क से उत्पन्न **जो भी महसूस हो**—सुख, दर्द या नसुख-नदर्द जैसा हो वैसे पता कर—वह उनसे मोहित नही होता।

इस तरह अनासक्त, बिना जुड़े, बिना संभ्रमता के लगातार ख़ामी/दुष्परिणाम देखते रहने से «आदीनवानुपस्सी» उसके पाँच **आधार-संग्रह का पतन** होने लगता है।

यह जो **तृष्णा** है—पुनः अस्तित्व देनेवाली, मज़ा व दिलचस्पी के साथ आनेवाली, यहाँ वहाँ लुत्फ़ उठानेवाली—उसका वह **परित्याग** करता है।

साथ ही उसके कायिक व मानसिक **उपद्रव** «दरथा» का परित्याग होता है। उसके कायिक व मानसिक **संताप** का परित्याग होता है। उसके कायिक उत्पीड़न व मानसिक **उत्पीड़न** «परिळाह» का **परित्याग** होता है।

तब वह कायिक व मानसिक **सुख** महसूस करता है।

ऐसे किसी व्यक्ति की जो दृष्टि हो, वह सम्यकदृष्टि होगी। उसके जो संकल्प हो, वह सम्यकसंकल्प होंगे। उसने जैसी मेहनत किया हो, वह सम्यकमेहनत होगी। उसमें जैसी स्मरणशीलता पनपी हो, वह सम्यकस्मृति होगी। उसे जैसी समाधि मिली हो, वह सम्यकसमाधि होगी।

चूँकि उसके कार्य, वचन और जीविका पूर्व ही भलीभाँति परिशुद्ध हुई होती है, इसलिए उसके द्वारा आर्य अष्टांगिक मार्ग इस तरह विकसित करने पर उसके **चार स्मृति-प्रस्थान** भी विकसित होकर परिपूर्ण होने लगते है। उसके **चार सम्यक-उद्यम** भी विकसित होकर परिपूर्ण होने लगते है। उसके **चार ऋद्धिपद** भी विकसित होकर परिपूर्ण होने लगते है। उसके **पाँच इंद्रिय** भी विकसित होकर परिपूर्ण होने लगते है। उसके **पाँच बल** भी विकसित होकर परिपूर्ण होने लगते है... उसके **सात संबोधिअंग** भी विकसित होकर परिपूर्ण होने लगते है।

तब दो धर्म उसके लिए आगे-पीछे घटते है—**निश्चलता** «समथ» [=शान्तचित्तता/ रचनाओं का रुकना] और **अंतर्बोध** «विपस्सना»।

तब जो धर्म [=प्रथम आर्यसत्य] विशिष्ट-ज्ञान से **अंतिम छोर तक पता** किए जाते है, उन्हें वह विशिष्ट-ज्ञान के साथ अंतिम छोर तक पता करता है। जो धर्म [=द्वितीय आर्यसत्य] विशिष्ट-ज्ञान से

परित्याग किए जाते है, उन्हें वह विशिष्ट-ज्ञान से परित्याग करता है। जो धर्म [=तृतीय आर्यसत्य] विशिष्ट-ज्ञान से **साक्षात्कार** किए जाते है, उन्हें वह विशिष्ट-ज्ञान के साथ साक्षात्कार करता है। और जो धर्म [=चतुर्थ आर्यसत्य] विशिष्ट-ज्ञान से **विकसित** किए जाते है, उन्हें वह विशिष्ट-ज्ञान के साथ विकसित «भावित» करता है।

• कौन से धर्म विशिष्ट-ज्ञान से **अंतिम छोर तक पता** किए जाते है? उत्तर होना चाहिए—**पाँच आधार-संग्रह!** अर्थात, रुप आधार-संग्रह, संवेदना आधार-संग्रह, नज़रिया आधार-संग्रह, रचना आधार-संग्रह, चैतन्यता आधार-संग्रह।

• कौन से धर्म विशिष्ट-ज्ञान से **परित्याग** किए जाते है? उत्तर होना चाहिए—**अविद्या और अस्तित्व की तृष्णा**।

• कौन से धर्म विशिष्ट-ज्ञान से **साक्षात्कार** किए जाते है? **निश्चलता और अंतर्बोध**।

• और कौन से धर्म विशिष्ट-ज्ञान से **विकसित** किए जाते है? **विद्या और विमुक्ति**।

«मा.नि.१४९»

* * *

बेड़े की तरह

कल्पना करो कि कोई पुरुष यात्रा कर रहा हो। तब उसे आगे भीषण बाढ़ दिखाई दे, जिसका यह तट ख़तरनाक हो, और दूर का तट सुरक्षित। किंतु पार करने के लिए नाव या पुल न हो। तब वह सोचता है, 'क्यों न मैं लकड़ियां घास टहनियाँ और पत्ते इकट्ठा कर बेड़ा बनाऊ? उस बेड़े पर सवार हो, हाथ पैरों से चप्पू चलाता हुआ दूर के तट पर सुरक्षित पहुँचूँगा।"

तब वह लकड़ियां घास टहनियाँ और पत्ते इकट्ठा कर बेड़ा बनाता है, और उसपर सवार हो, हाथ पैरों से चप्पू चलाता हुआ बाढ़ पार करता है।

सुरक्षित तट पर पहुँचने पर वह सोचता है, 'मेरे लिए यह बेड़ा बड़ा उपयोगी पड़ा! क्योंकि इसी बेड़े का सहारा लेकर, सवार होकर मैं हाथ पैरों से चप्पू चलाता हुआ बाढ़ पार कर सुरक्षित तट पर पहुँचा हूँ। क्यों न मैं अब इस बेड़े को सिर पर उठाकर, या पीठ पर लादकर जहाँ जाना चाहूँ, वहाँ जाऊँ?" तब वह उस बेड़े को सिर पर उठाकर, या पीठ पर लादकर जहाँ जाना चाहे, वहाँ जाता है।

तो भिक्षुओं, तुम्हें क्या लगता है? ऐसा करके उसने बेड़े के साथ जो किया जाना चाहिए था, वह किया?

'नही, भन्ते।"

तब उस पुरुष ने क्या करना चाहिए, जिससे उस बेड़े के साथ जो होना चाहिए, वह हो?

ऐसा होता है कि सुरक्षित तट पर पहुँचने पर कोई पुरुष सोच सकता है, 'मेरे लिए यह बेड़ा बड़ा उपयोगी पड़ा! क्योंकि इसी बेड़े का सहारा लेकर, सवार होकर मैं हाथ पैरों से चप्पू चलाता

हुआ बाढ़ पार कर सुरक्षित तट पर पहुँचा हूँ। क्यों न मैं इस बेड़े को सूखी ज़मीन पर खींचकर, या जल में डुबोकर जहाँ जाना चाहूँ, वहाँ जाऊँ?"

तब वह उस बेड़े को सूखी ज़मीन पर खींचकर, या जल में डुबोकर जहाँ जाना चाहे, वहाँ जाता है। ऐसा करके उसने बेड़े के साथ जो किया जाना चाहिए था, वह किया।

उसी तरह भिक्षुओं, मैंने उस बेड़े की तरह ही तुम्हें धर्म दिया है—मात्र बाढ़ लाँघने के ध्येय से! उससे चिपके रहने के ध्येय से नही! धर्म को मात्र 'बेड़े की तरह' मानते हुए उस सद्धर्म को भी तुम्हें अंततः छोड़ देना चाहिए। तो अधर्मों का कहना ही क्या!

«मा.नि.२२»

★★★

कुसलभावना

९

सब्बासवादि

~ बहाव, संबोधि अंग, छत्तीस भाव, इंद्रिय साधना इत्यादि ~

भगवान —

भिक्षुओं, जो स्वयं जानता है, देखता है—मैं कहता हूँ उसके बहाव «आसव» थमते है। जो स्वयं नहीं जानता, नहीं देखता, उसके बहाव नही थमते। क्या स्वयं जानता है, देखता है?

- «**योनिसो मनसिकार**» उचित बात पर गौर करना, और
- «**अयोनिसो मनसिकार**» अनुचित बात पर गौर करना।

जब कोई व्यक्ति 'अनुचित बात' पर गौर करता है, तो अनुत्पन्न बहाव उत्पन्न होने लगते है, और उत्पन्न हुए बहाव बढ़ने लगते है। जबकि 'उचित बात' पर गौर करने पर अनुत्पन्न बहाव उत्पन्न नही होते, और उत्पन्न हो चुके बहाव थमने लगते है।

भिक्षुओं, कुछ प्रकार के बहाव होते हैं, जो [योग्य तरह] देखकर त्यागे जाते है, तो कुछ बहाव [इंद्रिय] संयम कर। कुछ प्रकार के बहाव होते है, जो [आवश्यकताओं का उचित] उपयोग कर त्यागे जाते है, तो कुछ बहाव [कष्ट] सहन कर। कुछ प्रकार के बहाव होते है, जो [ख़तरे] टालकर त्यागे जाते है, तो कुछ बहाव [अकुशलताए] हटाकर। जबकि कुछ प्रकार के बहाव होते है, जो [संबोधिअंग] साधना कर के त्यागे जाते है।

(१) कौन-से बहाव **देखकर** त्यागे «दस्सना पहातब्बा» जाते है?

कोई जो आर्यदर्शन से वंचित, आर्यधर्म से अपरिचित, आर्यधर्म में न अनुशासित हो; या सत्पुरुषदर्शन से वंचित, सत्पुरुषधर्म से अपरिचित, सत्पुरुषधर्म में न अनुशासित हो—ऐसा धर्म न सुने आम आदमी को पता नही चलता कि कौन-सी बात पर गौर करना 'उचित' है, और कौन-सी बात पर 'अनुचित'। इस कारण वह उचित बात पर नही गौर करता, बल्कि अनुचित पर करता है।

कौन-सी बात **अनुचित** है? जिसपर गौर करने से अनुत्पन्न **कामुक-बहाव** उत्पन्न होने लगे, और उत्पन्न हुए बढ़ने लगे; अनुत्पन्न **अस्तित्व-बहाव** उत्पन्न होने लगे, और उत्पन्न हुए बढ़ने लगे; अनुत्पन्न **अविद्या-बहाव** उत्पन्न होने लगे, और उत्पन्न हुए बढ़ने लगे।

— ऐसी बातों पर गौर करना 'अनुचित' होता है, जिसपर वह [=आम आदमी] गौर करता है।

तब कौन-सी बात **उचित** है? जिसपर गौर करने से अनुत्पन्न कामुक-बहाव... अस्तित्व-बहाव... अविद्या-बहाव उत्पन्न न हो, और उत्पन्न हुए थमने लगे। ऐसी बातों पर गौर करना 'उचित' होता है, किंतु जिसपर वह [=आम आदमी] गौर नही करता।

और इस तरह 'अनुचित' बात पर गौर करने से, तथा 'उचित' बात पर गौर न करने से उसके अनुत्पन्न बहाव उत्पन्न होते रहते है, और उत्पन्न हुए बढ़ते रहते है।

कोई धर्म न सुना, आम आदमी इस तरह 'अनुचित' बातों पर गौर करता है—'क्या मैं अतीतकाल में **था**?' 'क्या मैं अतीतकाल में **नही था**?' ' मैं अतीतकाल में **क्या** था?' 'मैं अतीतकाल में **कैसा** था?' 'मैं अतीतकाल में क्या बनकर फ़िर क्या बना था?'

'क्या मैं भविष्यकाल में रहूँगा?' 'क्या मैं भविष्यकाल में नही रहूँगा?' 'क्या मैं भविष्यकाल में रहूँगा?' 'मैं भविष्यकाल में कैसा रहूँगा?' 'मैं भविष्यकाल में क्या बनकर फ़िर क्या बनूँगा?'

या वह वर्तमानकाल को लेकर भ्रमित रहता है—'क्या मैं हूँ?' 'क्या मैं नही हूँ?' 'मैं क्या हूँ?' 'मैं कैसा हूँ?' 'यह सत्व कहाँ से आया है?' 'वह कहाँ जानेवाला है?'

इस प्रकार **अनुचित** बातों पर गौर करने से, उसमें छह-दृष्टियों में से एक [मिथ्या] दृष्टी उत्पन्न होती है—

• 'मेरा आत्म है'—उसे यह उत्पन्न हुई दृष्टि सच लगती है, जिसे वह धारण करता है। या

• 'मेरा आत्म नही# है'... या

• 'आत्म के द्वारा **आत्म** महसूस करता हूँ'... या

• 'आत्म के द्वारा **अनात्म** महसूस करता हूँ'... या

• 'अनात्म के द्वारा **आत्म** महसूस करता हूँ'—उसे यह उत्पन्न हुई दृष्टि सच लगती है, जिसे वह धारण करता है।

• या उसे उत्पन्न हुई दृष्टि कुछ इस तरह होती है—'मेरा यह जो आत्म है, जो यहाँ वहाँ भले-बुरे कर्मों के फ़ल-परिणाम भोगता है—वह नित्य ध्रुव शाश्वत है। वह कभी नही बदलेगा। अनन्तकाल तक वैसा ही बना रहेगा।'

गौर करें कि 'आत्म नहीं होती'—ऐसा मानना भी मिथ्या-दृष्टियों में फँसना ही है, जिस कारण श्रोतापन्नफ़ल नहीं मिल पाता। भगवान के अनुसार आत्म का अस्तित्व मानने से **शाश्वतवाद** दृष्टी, तथा आत्म का अस्तित्व नहीं मानने से **उच्छेदवाद** दृष्टी उत्पन्न होती है। उच्छेदवाद दृष्टी से नास्तिकता बढती है, और मरणोपरांत दुर्गति हो सकती है।

इन्हें कहते है, भिक्षुओं—'दृष्टियो का झुरमुट! दृष्टियो का जंगल! दृष्टियो का रेगिस्तान! दृष्टियो की विकृति! दृष्टियों की पीड़ापूर्ण ऐठन! दृष्टियो का बंधन!' इस तरह दृष्टिबंधन में बँधा, धर्म न सुना, आम आदमी—जन्म बुढ़ापा मौत, शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा से छूट नहीं पाता! मैं कहता हूँ, वह दुःख से छूट नहीं पाता!

किंतु भिक्षुओं, कोई आर्यदर्शन लाभान्वित, आर्यधर्म से सुपरिचित, आर्यधर्म में अनुशासित हो; या सत्पुरुषदर्शन लाभान्वित, सत्पुरुषधर्म से सुपरिचित, सत्पुरुषधर्म में अनुशासित हो—ऐसा धर्म सुने आर्यश्रावक को पता चलता है कि कौन-सी बातों पर गौर करना उचित है, और कौन-सी बात पर अनुचित। इस कारण वह 'उचित' बात पर ही गौर करता है, अनुचित पर नहीं।

कौन-सी बात उचित होती है?

जिसपर गौर करने से अनुत्पन्न कामुक-बहाव... अस्तित्व-बहाव... अविद्या-बहाव उत्पन्न न हो, और उत्पन्न हुआ थमने लगे। ऐसी बातों पर गौर करना 'उचित' होता है, जिनपर वह [=आर्यश्रावक] गौर करता है। उसके 'उचित बात' पर गौर करने, और अनुचित बात पर गौर न करने से उसमें अनुत्पन्न बहाव उत्पन्न नही होते, और उत्पन्न हुए थमने लगते है।

धर्म सुना आर्यश्रावक इन **उचित बातों** पर गौर करता है—

- 'ऐसा दुःख होता है।'
- 'ऐसे दुःख की उत्पत्ति होती है।'
- 'ऐसे दुःख का निरोध होता है।'
- 'यह दुःख निरोध करानेवाला प्रगतिपथ है।'

इस तरह 'उचित बात' पर ही गौर करने से उसके तीन बंधन «संयोजन» टूट जाते [=श्रोतापन्नफ़ल] है—आत्मिय दृष्टि «सक्कायदिट्ठि», अनिश्चितता, और शील व्रतों पर अटकना «सीलब्बतपरामासो»।

— यह बहाव 'देखकर त्यागे जाते' है।

* * *

(२) कौन-से बहाव **संयम कर** त्यागे जाते «संवरा पहातब्बा» है?

भिक्षु उचित चिंतन कर **आँख-इंद्रिय** पर पहरा देते हुए 'संयमपूर्वक' रहता है। इस तरह आँखों का संयम करने से परेशानी व ताप देनेवाले वह बहाव उसमें उत्पन्न नही होते, जो असंयमित रहने से उत्पन्न हुए होते।

वह उचित चिंतन कर **कान-इंद्रिय... नाक-इंद्रिय... जीभ-इंद्रिय... काया-इंद्रिय... मन-इंद्रिय** पर पहरा देते हुए 'संयमपूर्वक' रहता है। इस तरह मन का संयम करने से परेशानी व ताप देनेवाले वह बहाव उसमें उत्पन्न नही होते, जो असंयमित रहने से उत्पन्न हुए होते।

— यह बहाव ‘संयम कर त्यागे जाते’ है।

(३) कौन-से बहाव **उपयोग कर** त्यागे «पटिसेवना पहातब्बा» जाते है?

• भिक्षु उचित चिंतन करते हुए **वस्त्र का उपयोग** करता है—मात्र सर्दी-गर्मी से बचने के लिए। मक्खियाँ मच्छर हवा धूप बिच्छु साँप का संस्पर्श रोकने के लिए। और लज्जांगो को ढ़कने के लिए।

• भिक्षु उचित चिंतन करते हुए **भिक्षान्न का उपयोग** करता है—न मज़े के लिए, न मदहोशी के लिए, न सुडौलता के लिए, न ही सौंदर्य के लिए। बल्कि काया को मात्र टिकाने के लिए। उसकी [भूख] पीड़ाएँ समाप्त करने के लिए। ब्रह्मचर्य के लिए। [सोचते हुए] ‘पुरानी पीड़ा ख़त्म करूँगा! [अधिक खाकर] नई पीड़ा नहीं उत्पन्न करूँगा! मेरी जीवनयात्रा निर्दोष रहेगी, और राहत से रहूँगा!’

• भिक्षु उचित चिंतन करते हुए **निवास का उपयोग** करता है—केवल सर्दी-गर्मी से बचने के लिए। मक्खियाँ मच्छर हवा धूप बिच्छु साँप का संस्पर्श रोकने के लिए। ऋतु की पीड़ा से बचने के लिए। और एकांतवास का उपयोग करने के लिए।

• भिक्षु उचित चिंतन करते हुए **रोगावश्यक औषधि-भैषज्य का उपयोग** करता है—केवल रोग से उत्पन्न पीड़ाएँ रोकने के लिए। और रोग से अधिकाधिक दूर रहने के लिए।

इस तरह उपयोग करने से परेशानी व ताप देनेवाले वह बहाव उसमें उत्पन्न नही होते, जो इस तरह उपयोग न करने से उत्पन्न हुए होते।

— यह बहाव ‘उपयोग कर त्यागे जाते’ है।

(४) कौन-से बहाव **सहन करके** त्यागे «अधिवासना पहातब्बा» जाते है?

कोई भिक्षु उचित चिंतन करते हुए [कष्ट] **बर्दाश्त** करता है। वह सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, मक्खियाँ मच्छर हवा धूप बिच्छु साँप का संस्पर्श सहन करता है। वह कटु वचन, नापसंदीदा आवाज, काया में उत्पन्न होती—तीक्ष्ण तीव्र भेदती चीरती, प्राण-हरति अनिच्छित पीड़ाएँ बर्दाश्त करता है।

इस तरह बर्दाश्त करने से परेशानी व ताप देनेवाले वह बहाव उसमें उत्पन्न नही होते, जो बर्दाश्त न करने से हुए होते।

— यह बहाव ‘सहन करके त्यागे जाते’ है।

(५) कौन-से बहाव **टाल कर** त्यागे «परिवज्जना पहातब्बा» जाते है?

कोई भिक्षु उचित चिंतन करते हुए—चण्ड हाथी, चण्ड घोड़ा, चण्ड सांड, चण्ड कुत्ते [के समीप जाना] टालता है। वह साँप, कटा पेड़, कँटीली झाड़ी, खाईं प्रपात गड्ढा नाला टालता है। वह उचित चिंतन करते हुए ऐसी सभी हरकतें टालता है, जिसे जानकर समझदार सहब्रह्मचारी उसपर पाप की शंका करते—जैसे अनुचित जगह बैठना, अनुचित बस्ती में जाना, बुरे मित्र से मेलमिलाप।

इस तरह टालने से परेशानी व ताप देनेवाले वह बहाव उसमें उत्पन्न नही होते, जो न टालने से हुए होते।

— यह बहाव 'टालकर त्यागे जाते' है।

(६) कौन-से बहाव **दूर हटाकर** त्यागे «विनोदना पहातब्बा» जाते है?

• भिक्षु उचित चिंतन करते हुए, उत्पन्न **कामुक-विचार** बर्दाश्त नही करता। बल्कि उसे त्यागता है, हटाता है, दूर करता है, अस्तित्व से मिटा देता है।

• भिक्षु उचित चिंतन करते हुए उत्पन्न **दुर्भावनापूर्ण-विचार** बर्दाश्त नही करता। बल्कि उसे त्यागता है, हटाता है, दूर करता है, अस्तित्व से मिटा देता है।

• भिक्षु उचित चिंतन करते हुए उत्पन्न **हिंसात्मक-विचार** बर्दाश्त नही करता। बल्कि उसे त्यागता है, हटाता है, दूर करता है, अस्तित्व से मिटा देता है।

• भिक्षु उचित चिंतन करते हुए उत्पन्न **पाप/अकुशल स्वभाव** बर्दाश्त नही करता। बल्कि उसे त्यागता है, हटाता है, दूर करता है, अस्तित्व से मिटा देता है।

इस तरह हटाने से परेशानी व ताप देनेवाले वह बहाव उसमें उत्पन्न नही होते, जो न हटाने से हुए होते।

— यह बहाव 'हटाकर त्यागे जाते' है।

(७) कौन-से बहाव **साधना कर** के त्यागे «भावना पहातब्बा» जाते है?

भिक्षु उचित चिंतन करते हुए **स्मृति** संबोधिअंग की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उसे भी त्याग देता है।

भिक्षु उचित चिंतन करते हुए **स्वभाव-जाँच** संबोधिअंग... **ऊर्जा** संबोधिअंग... **प्रफुल्लता** संबोधिअंग... **प्रशान्ति** संबोधिअंग... **समाधि** संबोधिअंग... **तटस्थता** संबोधिअंग की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उसे भी त्याग देता है।

इस तरह [सात संबोधिअंग] साधना करने से परेशानी व ताप देनेवाले वह बहाव उसमें उत्पन्न नही होते, जो न करने से हुए होते।

— यह बहाव 'साधना कर के त्यागे जाते' है।

भिक्षुओं, जब भिक्षु 'देखकर' त्यागे जानेवाले बहाव को देखकर त्यागे, 'संयम कर' त्यागे जानेवाले बहाव को संयम कर त्यागे, 'उपयोग कर' त्यागे जानेवाले बहाव को उपयोग कर त्यागे, 'सहन कर' त्यागे जानेवाले बहाव को सहन कर के त्यागे, 'टालकर' त्यागे जानेवाले बहाव को टालकर त्यागे, 'हटाकर' त्यागे जानेवाले बहाव को हटाकर त्यागे, 'साधना कर' त्यागे जानेवाले बहाव को साधना कर त्यागे—तब वह सभी बहावों के प्रति संयमपूर्वक रहता है। वह तृष्णा को काट, बंधनों को फेंक, अहंभाव «मान» का सम्यकभेदन कर अभी यही दुःखों का अंत कर देता है।

«मा.नि.२»

* * *

सम्बोज्झङ्ग आहार —

• अनुत्पन्न **स्मृति** संबोधिअंग उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुआ स्मृति संबोधिअंग बढ़ाकर अत्याधिक करने का आहार क्या है? ऐसे कुछ स्वभाव होते है, जो स्मृति संबोधिअंग पनपने का आधार बनते है—उसपर उचित तरह से गौर करना आहार बनता है अनुत्पन्न स्मृति संबोधिअंग उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुआ स्मृति संबोधिअंग बढ़ाकर अत्याधिक करने का।

• अनुत्पन्न **स्वभाव-जाँच** संबोधिअंग उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुआ स्वभाव-जाँच संबोधिअंग बढ़ाकर अत्याधिक करने का आहार क्या है? ऐसे कुछ स्वभाव होते है, जो कुशल व अकुशल, दोषपूर्ण व निर्दोष, स्थूल व सूक्ष्म, अंधेरे पक्ष व उजले पक्ष के होते है—उसपर उचित तरह से गौर करना आहार बनता है...।

• अनुत्पन्न **ऊर्जा** संबोधिअंग उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुआ ऊर्जा संबोधिअंग बढ़ाकर अत्याधिक करने का आहार क्या है? ऊर्जा प्रयास व उद्यमशीलता का सामर्थ्य होता है—उसपर उचित तरह से गौर करना आहार बनता है...।

• अनुत्पन्न **प्रफुल्लता** संबोधिअंग उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुआ प्रफुल्लता संबोधिअंग बढ़ाकर अत्याधिक करने का आहार क्या है? ऐसे कुछ स्वभाव होते है, जो प्रफुल्लता संबोधिअंग पनपने का आधार बनते है—उसपर उचित तरह से गौर करना आहार बनता है...।

• अनुत्पन्न **प्रशान्ति** संबोधिअंग उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुआ प्रशान्ति संबोधिअंग को बढ़ाकर अत्याधिक करने का आहार क्या है? कायिक प्रशान्ति होती है, और मानसिक प्रशान्ति होती है—उसपर उचित तरह से गौर करना आहार बनता है...।

• अनुत्पन्न **समाधि** संबोधिअंग उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुआ समाधि संबोधिअंग को बढ़ाकर अत्याधिक करने का आहार क्या है? निश्चलता के आलंबन «समथनिमित्त» होते है, अ-व्याकुलता के आलंबन «अब्यग्गनिमित्त» होते है—उनपर उचित तरह से गौर करना आहार बनता है...।

• अनुत्पन्न **तटस्थता** संबोधिअंग उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुआ तटस्थता संबोधिअंग को बढ़ाकर अत्याधिक करने का आहार क्या है? ऐसे स्वभाव होते है जो तटस्थता संबोधिअंग पनपने का आधार बनते है—उसपर उचित तरह से गौर करना आहार बनता है अनुत्पन्न तटस्थता संबोधिअंग उत्पन्न करने, एवं उत्पन्न हुआ तटस्थता संबोधिअंग बढ़ाकर अत्याधिक करने का।

«सं.नि.४६:५१»

* * *

(१) जब भिक्षु काया को काया देखते हुए... संवेदना को संवेदना देखते हुए... चित्त को चित्त देखते हुए... स्वभाव को स्वभाव देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए, उस अवसर पर उसकी **स्मरणशीलता** स्थिरता पाती है, बिना भ्रंश हुए। जब

उसकी स्मरणशीलता स्थिरता पाती है, बिना भ्रंश हुए, तब **स्मृति संबोधिअंग** जागृत होता है। वह उसकी साधना करता है, और विकसित कर परिपूर्ण करता है।

(२) इस तरह स्मरणशील होकर वह स्वभाव की जाँच-पड़ताल करता है, विश्लेषण करता है, और अन्तर्ज्ञान से उसे समझता है। जब वह इस तरह स्मरणशील होकर स्वभाव की जाँच-पड़ताल करें, विश्लेषण करें, अन्तर्ज्ञान से उसे समझे, तब **स्वभाव-जाँच संबोधिअंग** जागृत होता है। वह उसकी साधना करता है, और विकसित कर परिपूर्ण करता है।

(३) जो स्वभाव की जाँच-पड़ताल करें, विश्लेषण करें, अन्तर्ज्ञान से उसे समझे, उसमें ऊर्जा का संचार होता है। जब उसमें ऊर्जा का संचार हो, तब **ऊर्जा संबोधिअंग** जागृत होता है। वह उसकी साधना करता है, और विकसित कर परिपूर्ण करता है।

(४) जिस किसी की ऊर्जा जागृत होती हो, उसे आध्यात्मिक प्रफुल्लता उत्पन्न होती है। जब ऊर्जा जागृत होने से निरामिष प्रफुल्लता उत्पन्न हो, तब **प्रफुल्लता संबोधिअंग** जागृत होती है। वह उसकी साधना करता है, और विकसित कर परिपूर्ण करता है।

(५) जो प्रफुल्लता से भर उठे, उसकी **काया** शान्त होने लगती है, और **चित्त** शान्त होने लगता है। जब प्रफुल्लता से भर उठे भिक्षु की काया और चित्त शान्त हो, तब **प्रशान्ति संबोधिअंग** जागृत होता है। वह उसकी साधना करता है, और विकसित कर परिपूर्ण करता है।

(६) जो राहत से हो, जिसकी काया शान्त हो, उसका चित्त समाहित होने लगता है। जब राहत से होकर, काया शान्त होकर चित्त समाहित होने लगे, तब **समाधि संबोधिअंग** जागृत होती है। वह उसकी साधना करता है, और विकसित कर परिपूर्ण करता है।

(७) वह ऐसे समाहित चित्त का तटस्थतापूर्वक निरीक्षण करता है। जब वह ऐसे समाहित चित्त का निरीक्षण तटस्थतापूर्वक करें, तब **तटस्थता संबोधिअंग** जागृत होती है। वह उसकी साधना करता है, और विकसित कर परिपूर्ण करता है।

इस तरह जब **चार स्मृतिप्रस्थान** की साधना की जाए, बार-बार की जाए, तब सात संबोधिअंग परिपूर्णता की ओर जाते है।

और जब सात संबोधिअंग की साधना की जाए, बार-बार की जाए, तब **विद्या व विमुक्ति** परिपूर्णता की ओर जाती है। वह कैसे?

कोई भिक्षु स्मृति संबोधिअंग की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उसे भी त्याग देता है। वह स्वभाव-जाँच संबोधिअंग… ऊर्जा संबोधिअंग… प्रफुल्लता संबोधिअंग… प्रशान्ति संबोधिअंग… समाधि संबोधिअंग… तटस्थता संबोधिअंग की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उन्हें भी त्याग देता है।

— इस तरह सात संबोधिअंग की साधना की जाए, बार-बार की जाए, तब विद्या व विमुक्ति परिपूर्णता की ओर जाती है।

«सं.नि.८४:२»

* * *

संबोधिअंग संतुलन

भिक्षुओं, **जब चित्त सुस्त हो**, तब **प्रशान्ति, समाधि और तटस्थता** संबोधिअंगो की साधना करने का गलत समय होता है। क्यों? क्योंकि सुस्त चित्त उन [निष्क्रिय करते] स्वभावों से मुश्किल से उठेगा।

जैसे कोई पुरुष छोटी अग्नि को बड़ा धधकाना चाहे, किंतु उसपर गीली घास, गीला गोबर, गीली लकड़ियां डाल दे, उसे जल से सींच दे और धूल डालकर बुझा दे। तब क्या उसकी छोटी अग्नि बड़ी होकर धधक सकेगी?

'नही, भन्ते।"

उसी तरह जब चित्त सुस्त हो, तब प्रशान्ति, समाधि और तटस्थता संबोधिअंग की साधना करने का गलत समय होता है। क्योंकि सुस्त चित्त उन [निष्क्रिय करते] स्वभावों से मुश्किल से उठेगा। तब स्वभाव-जाँच, ऊर्जा और प्रफुल्लता संबोधिअंग की साधना करने का **सही समय** होता है। क्यों? क्योंकि सुस्त चित्त उन [सक्रिय करते] स्वभावों से आसानी से उठेगा।

जैसे कोई पुरुष छोटी अग्नि को बड़ा धधकाना चाहे, और उसपर सूखी घास, सूखा गोबर, सूखी लकड़ियां डाल दे, उसे मुँह से फूंक मारे और धूल डालकर बुझा न दे। क्या उसकी छोटी अग्नि बड़ी होकर धधक सकेगी?

'हाँ, भन्ते।"

उसी तरह जब चित्त सुस्त हो, तब स्वभाव-जाँच, ऊर्जा और प्रफुल्लता संबोधिअंग की साधना करने का सही समय होता है। क्योंकि सुस्त चित्त उन [सक्रिय करते] स्वभावों से आसानी से उठेगा।

• और **जब चित्त बेचैन हो**, तब स्वभाव-जाँच, ऊर्जा और प्रफुल्लता संबोधिअंग की साधना करने का गलत समय होता है। क्यों? क्योंकि बेचैन चित्त उन [सक्रिय करते] स्वभावों से मुश्किल से शांत होगा।

जैसे कोई पुरुष बड़ी धधकती अग्नि को बुझाना चाहे, किंतु उसपर सूखी घास, सूखा गोबर, सूखी लकड़ियां डाल दे, उसे मुँह से फूंक मारे और धूल डालकर बुझा न दे। क्या उसकी बड़ी धधकती अग्नि बुझ पायेगी?

'नही, भन्ते।"

उसी तरह जब चित्त बेचैन हो, तब स्वभाव-जाँच, ऊर्जा और प्रफुल्लता संबोधिअंग की साधना करने का गलत समय होता है। क्योंकि बेचैन चित्त उन [सक्रिय करते] स्वभावों से मुश्किल से शांत

होगा। तब प्रशान्ति, समाधि और तटस्थता संबोधिअंग की साधना करने का **सही समय** होता है। क्यों? क्योंकि बेचैन चित्त उन [निष्क्रिय करते] स्वभावों से आसानी से शांत होगा।

जैसे कोई पुरुष बड़ी धधकती अग्नि को बुझाना चाहे, और उसपर गीली घास, गीला गोबर, गीली लकड़ियां डाल दे, उसे जल से सींच दे और धूल डालकर बुझा दे। क्या उसकी बड़ी धधकती अग्नि बुझ सकेगी?

'हाँ, भन्ते।"

उसी तरह जब चित्त बेचैन हो, तब प्रशान्ति, समाधि और तटस्थता संबोधिअंग की साधना करने का **सही समय** होता है। क्योंकि बेचैन चित्त उन [निष्क्रिय करते] स्वभावों से आसानी से शांत होगा।

और **स्मृति** संबोधिअंग, मैं कहता हूँ, प्रत्येक अवसर पर लाभदायक होता है।

«सं.नि.४६:५३»

* * *

छत्तीस भाव

भिक्षुओं, छत्तीस भाव होते हैं, जिन्हें महसूस कर पता करना चाहिए। फ़िर एक तरह के भाव का आधार लेकर, निर्भर होकर दूसरे तरह का भाव त्यागना चाहिए, लाँघना चाहिए।

छत्तीस भाव क्या होते है? गृहस्थी की छह खुशियाँ, संन्यास की छह खुशियाँ। गृहस्थी के छह ग़म, संन्यास के छह ग़म। गृहस्थी की छह तटस्थताएँ, व संन्यास की छह तटस्थताएँ।

गृहस्थी की छह खुशियाँ क्या होती है?

• आँख से पता चलते 'अर्जित' **रूप,** जो पसंदीदा, सुखद, मोहक, प्रिय, लुभावने व लोक-प्रलोभन से जुड़े हो; या अतीतकाल के अर्जित रूप, जो गुज़र चुके, ख़त्म हुए या बदल चुके हो—उनका स्मरण कर जो खुशी मिलती है, उसे गृहस्थी की खुशी कहते है।

• कान से पता चलती 'अर्जित' **आवाज़े,** जो पसंदीदा...

• नाक से पता चलते 'अर्जित' **गन्ध,** जो पसंदीदा...

• जीभ से पता चलते 'अर्जित' **स्वाद,** जो पसंदीदा...

• काया से पता चलते 'अर्जित' **संस्पर्श,** जो पसंदीदा...

• मन से पता चलते 'अर्जित' **स्वभाव,** जो पसंदीदा सुखद मोहक प्रिय लुभावने लोक-प्रलोभन से जुड़े हो; या अतीतकाल के अर्जित स्वभाव, जो गुज़र चुके, ख़त्म हुए या बदल चुके हो—उनका स्मरण कर जो खुशी मिलती है, उसे गृहस्थी की खुशी कहते है।

संन्यास की छह खुशियाँ क्या है?

• उन्हीं **रूपों** का अनित्य-स्वभाव देख, बदलाव वैराग्य व निरोध-स्वभाव देख; जैसे हो वैसे सही पता चलने पर—कि अतीत या वर्तमान के सभी रूप 'अनित्य ही होते है! कष्टपूर्ण ही होते है! बदल ही जाते है!'—जो खुशी मिलती है, उसे संन्यास की खुशी कहते है।

• उन्हीं **आवाज़ों** का अनित्य-स्वभाव देख...

• उन्हीं **गंधों** का अनित्य-स्वभाव देख...

• उन्हीं **स्वादों** का अनित्य-स्वभाव देख...

• उन्हीं **संस्पर्शों** का अनित्य-स्वभाव देख...

• उन्हीं **स्वभावों** का अनित्य-स्वभाव देख, बदलाव वैराग्य व निरोध-स्वभाव देख; जैसे हो वैसे सही पता चलने पर—कि अतीत या वर्तमान के सभी स्वभाव 'अनित्य ही होते है! कष्टपूर्ण ही होते है! बदल ही जाते है!'—जो खुशी मिलती है, उसे संन्यास की खुशी कहते है।

गृहस्थी के छह ग़म क्या होते है?

• आँख से पता चलते 'अर्जित न होनेवाले' **रूप,** जो पसंदीदा सुखद मोहक प्रिय लुभावने लोक-प्रलोभन से जुड़े हो; या अतीतकाल के 'अर्जित न हुए' रूप, जो गुज़र चुके, ख़त्म हुए या बदल चुके हो—उनका स्मरण कर जो ग़म होता है, उसे गृहस्थी का ग़म कहते है।

• कान से पता चलती 'अर्जित न होनेवाली' **आवाज़े,** जो पसंदीदा...

• नाक से पता चलते 'अर्जित न होनेवाले' **गन्ध,** जो पसंदीदा...

• जीभ से पता चलते 'अर्जित न होनेवाले' **स्वाद,** जो पसंदीदा...

• काया से पता चलते 'अर्जित न होनेवाले' **संस्पर्श,** जो पसंदीदा...

• मन से पता चलते 'अर्जित न होनेवाले' **स्वभाव,** जो पसंदीदा सुखद मोहक प्रिय लुभावने लोक-प्रलोभन से जुड़े हो; या अतीतकाल के अर्जित न हुए स्वभाव, जो गुज़र चुके, ख़त्म हुए या बदल चुके हो—उनका स्मरण कर जो ग़म होगा, उसे गृहस्थी का ग़म कहते है।

संन्यास के छह ग़म क्या है?

• सर्वोपरि विमोक्ष चाहते किसी लालसापूर्ण व्यक्ति को उन्हीं **रूपों** का अनित्य-स्वभाव देख, बदलाव वैराग्य व निरोध-स्वभाव देख, जैसे हो, वैसे सही पता चलने पर—कि अतीत या वर्तमान के सभी रुप 'अनित्य ही होते है! कष्टपूर्ण ही होते है! बदल ही जाते है!'—जो ग़म होता है, उसे संन्यास का ग़म कहते है।

• सर्वोपरि विमोक्ष चाहते… उन्हीं **आवाज़ों** का अनित्य-स्वभाव देख...

• सर्वोपरि विमोक्ष चाहते... उन्हीं **गंधों** का अनित्य-स्वभाव देख...

• सर्वोपरि विमोक्ष चाहते... उन्हीं **स्वादों** का अनित्य-स्वभाव देख...

• सर्वोपरि विमोक्ष चाहते... उन्हीं **संस्पर्शों** का अनित्य-स्वभाव देख...

• सर्वोपरि विमोक्ष चाहते किसी लालसापूर्ण व्यक्ति को उन्हीं **स्वभावों** का अनित्य-स्वभाव देख, बदलाव वैराग्य व निरोध-स्वभाव देख, जैसे हो, वैसे सही पता चलने पर—कि अतीत या वर्तमान के सभी स्वभाव 'अनित्य ही होते है! कष्टपूर्ण ही होते है! बदल ही जाते है!'—जो ग़म होता है, उसे संन्यास का ग़म कहते है।

गृहस्थी की छह तटस्थताएँ क्या है?

• आँख से कुछ रूप देखकर किसी मूर्ख भ्रमित, धर्म न सुने आम आदमी—जिसने अपनी कमज़ोरी या कर्मफ़ल पर विजय न पाई हो, जो ख़तरों के प्रति अँधा हो—को तटस्थता महसूस होती है। वह तटस्थता रूपों के परे नही जाती, इसलिए उसे गृहस्थी की तटस्थता कहते है।

• कान से कुछ आवाज़ें सुनकर किसी मूर्ख...

• नाक से कुछ गंध सुनकर किसी मूर्ख...

• जीभ से कुछ स्वाद चखकर किसी मूर्ख...

• काया से कुछ संस्पर्श महसूस कर किसी मूर्ख...

• मन से स्वभाव जानकर किसी मूर्ख भ्रमित, धर्म न सुने आम आदमी—जिसने अपनी कमज़ोरी या कर्मफ़ल पर विजय न पाई हो, जो ख़तरों के प्रति अँधा हो—को तटस्थता महसूस होती है। वह तटस्थता स्वभावों के परे नही जाती, इसलिए उसे गृहस्थी की तटस्थता कहते है।

और **संन्यास की छह तटस्थताएँ क्या है?**

• उन्हीं **रूपों** का अनित्य-स्वभाव देख, बदलाव वैराग्य व निरोध-स्वभाव देख; जैसे हो, वैसे सही पता चलने पर—कि अतीत या वर्तमान के सभी रूप 'अनित्य ही होते है! कष्टपूर्ण ही होते है! बदल ही जाते है!'—तटस्थता महसूस होती है। ऐसी तटस्थता रूपों के परे ले जाती है, इसलिए उसे संन्यास की तटस्थता कहते है।

• उन्हीं **आवाज़ों** का अनित्य-स्वभाव देख...

• उन्हीं **गंधों** का अनित्य-स्वभाव देख...

• उन्हीं **स्वादों** का अनित्य-स्वभाव देख...

• उन्हीं **संस्पर्शों** का अनित्य-स्वभाव देख...

• उन्हीं **स्वभावों** का अनित्य-स्वभाव देख, बदलाव वैराग्य व निरोध-स्वभाव देख; जैसे हो, वैसे सही पता चलने पर—कि अतीत या वर्तमान के सभी स्वभाव 'अनित्य ही होते है! कष्टपूर्ण ही होते है! बदल ही जाते है!'—तटस्थता महसूस होती है। ऐसी तटस्थता स्वभावों के परे ले जाती है, इसलिए उसे संन्यास की तटस्थता कहते है।

— यह छत्तीस भाव होते हैं, जिन्हें महसूस कर पता करना चाहिए। और फ़िर एक तरह के भाव का आधार लेकर, निर्भर होकर दूसरे तरह का भाव त्यागना चाहिए, लाँघना चाहिए। कैसे?

• संन्यास की छह खुशियों का आधार लेकर, निर्भर होकर गृहस्थी की छह खुशियाँ त्यागनी चाहिए, लाँघना चाहिए। इस तरह उनका परित्याग होता है, लाँघा जाता है।

• संन्यास के छह ग़मो का आधार लेकर, निर्भर होकर गृहस्थी के छह ग़म त्यागना चाहिए, लाँघना चाहिए। इस तरह उनका परित्याग होता है, लाँघा जाता है।

• संन्यास के छह तटस्थताओं का आधार लेकर, निर्भर होकर गृहस्थी के छह तटस्थताएँ त्यागनी चाहिए, लाँघना चाहिए। इस तरह उनका परित्याग होता है, लाँघा जाता है।

• तब संन्यास की छह खुशियों का आधार लेकर, निर्भर होकर संन्यास के छह ग़म त्यागना चाहिए, लाँघना चाहिए। इस तरह उनका परित्याग होता है, लाँघा जाता है।

• और संन्यास की छह तटस्थताओं का आधार लेकर, निर्भर होकर संन्यास की छह खुशियां त्यागनी चाहिए, लाँघनी चाहिए। इस तरह उनका परित्याग होता है, लाँघा जाता है।

तब 'विविध आश्रयवाली विविधतापूर्ण तटस्थता' «उपेक्खा नानत्ता नानत्तसिता» होती है, एवं 'अकेले आश्रयवाली एक-जैसी तटस्थता' «उपेक्खा एकत्ता एकत्तसिता» होती है।

विविध आश्रयवाली विविधतापूर्ण तटस्थता क्या है?

जो तटस्थता विविध रूप, आवाज़, गंध, स्वाद, संस्पर्श व स्वभाव के प्रति हो—उसे विविध आश्रयवाली विविधतापूर्ण तटस्थता कहते है।

अकेले आश्रयवाली एक-जैसी तटस्थता क्या है?

और जो तटस्थता आकाश-आयाम के आधार पर... चैतन्यता-आयाम के आधार पर... सूने-आयाम के आधार पर... न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम के आधार पर हो—उसे अकेले आश्रयवाली एक-जैसी तटस्थता कहते है।

• तब 'अकेले आश्रयवाली एक-जैसी तटस्थता' का आधार लेकर, निर्भर होकर 'विविध आश्रयवाली विविधतापूर्ण तटस्थता' त्यागनी चाहिए, लाँघना चाहिए। इस तरह उनका परित्याग होता है, लाँघा जाता है।

• तब **अ-गढंत** «अतम्मयता» का आधार लेकर, निर्भर होकर 'अकेले आश्रयवाली एक-जैसी तटस्थता' त्यागनी चाहिए, लाँघना चाहिए। इस तरह उसका भी परित्याग होता है, उसे भी लाँघा जाता है।

— इस तरह एक तरह के भाव का आधार लेकर, निर्भर होकर दूसरे तरह का भाव त्यागना चाहिए, लाँघना चाहिए।

«मा.नि.१३७»

* * *

इंद्रियों का विकास

आर्यविनय में **इंद्रियों का सर्वोपरि विकास** कैसे होता है?

• **आँख से रूप देखकर** भिक्षु में अच्छाई [या सकारात्मकता] जागती है, या बुराई [या नकारात्मकता] जागती है, या अच्छाई व बुराई दोनों जागती है। तब उसे पता चले कि 'मुझमें यह जो अच्छाई जागी है, या बुराई जागी है, या अच्छाई व बुराई दोनों जागी है—वह बनावटी है! स्थूल है! आधारपूर्ण सहउत्पादित है! परंतु **तटस्थता—**इसमें शांति है! यह सर्वोत्कृष्ट है!'

उसी के साथ जाग पड़ी अच्छाई, या बुराई, या अच्छाई व बुराई दोनों रुक जाती है, और तटस्थता खड़ी होती है।

जैसे आँखोंवाला पुरुष बंद आँखे खोल दे, या खुली आँखें बंद करें। उतनी तुरंत, उतनी तेज़, उतनी सरलता से, चाहे जिस बारे में हो—जाग पड़ी अच्छाई, या बुराई, या अच्छाई व बुराई दोनों रुक जाती है, और तटस्थता खड़ी होती है। और इसे आर्यविनय में आँख से रूप देखने में 'इंद्रिय का सर्वोपरि विकास' कहते है।

• **कान से आवाज़ सुनकर** भिक्षु में अच्छाई जागती है, या बुराई जागती है, या अच्छाई व बुराई दोनों जागती है। तब उसे पता चले कि 'मुझमें यह जो अच्छाई जागी है, या बुराई जागी है, या अच्छाई व बुराई दोनों जागी है—वह बनावटी है! स्थूल है! आधारपूर्ण सहउत्पादित है! परंतु **तटस्थता—**इसमें शांति है! यह सर्वोत्कृष्ट है!'

उसी के साथ जाग पड़ी अच्छाई, या बुराई, या अच्छाई व बुराई दोनों रुक जाती है, और तटस्थता खड़ी होती है।

जैसे कोई बलवान पुरुष अपनी उंगलियाँ सरलतापूर्वक चटखे। उतनी तुरंत, उतनी तेज़, उतनी सरलता से, चाहे जिस बारे में हो—जाग पड़ी अच्छाई, या बुराई, या अच्छाई व बुराई दोनों रुक जाती है, और तटस्थता खड़ी होती है। और इसे आर्यविनय में कान से आवाज़ सुनने में 'इंद्रिय का सर्वोपरि विकास' कहते है।

• **नाक से गंध सूँघकर** भिक्षु में... तटस्थता खड़ी होती है।

जैसे एक-ओर झुके कमल के पत्ते पर जल की बूंदें फ़िसल पड़े, ऊपर टिक न पाए। उतनी तुरंत, उतनी तेज़, उतनी सरलता से… तटस्थता खड़ी होती है। और इसे आर्यविनय में नाक से गंध सूँघने में 'इंद्रिय का सर्वोपरि विकास' कहते है।

• **जीभ से स्वाद चखकर** भिक्षु में… तटस्थता खड़ी होती है।

जैसे कोई बलवान पुरुष जीभ-छोर पर इकट्ठा थूंक-पिंड को सरलता से थूंक दे। उतनी तुरंत, उतनी तेज़, उतनी सरलता से… तटस्थता खड़ी होती है।

• **काया से संस्पर्श महसूस कर** भिक्षु में… तटस्थता खड़ी होती है।

जैसे कोई बलवान पुरुष सरलतापूर्वक सिकोड़ी-बाँह पसारे, या पसारी-बाँह सिकोड़े। उतनी तुरंत, उतनी तेज़, उतनी सरलता से… तटस्थता खड़ी होती है।

• **मन से स्वभाव जानकर** भिक्षु में अच्छाई जागती है, या बुराई जागती है, या अच्छाई व बुराई दोनों जागती है। तब उसे पता चले कि 'मुझमें यह जो अच्छाई जागी है, या बुराई जागी है, या अच्छाई व बुराई दोनों जागी है—वह बनावटी है! स्थूल है! आधारपूर्ण सहउत्पादित है! परंतु **तटस्थता—**इसमें शांति है! यह सर्वोत्कृष्ट है!'

— उसके साथ ही जाग पड़ी अच्छाई, या बुराई, या अच्छाई व बुराई दोनों रुक जाती है, और तटस्थता खड़ी होती है।

जैसे कोई पुरुष दिनभर तपाए लौह-तवे पर जल की दो-तीन बूंदे गिराए। बूंदों का गिरना धीमे होगा, भाप बनकर विलुप्त होना तेज़! उतनी तुरंत, उतनी तेज़, उतनी सरलता से, चाहे जिस बारे में हो—जाग पड़ी अच्छाई, या बुराई, या अच्छाई व बुराई दोनों रुक जाती है, और तटस्थता खड़ी होती है। और इसे आर्यविनय में मन से स्वभाव जानने में 'इंद्रिय का सर्वोपरी विकास' कहते है।

प्रगतिपथ पर चलता, सीखता व्यक्ति «सेक्ख» कैसे होता है?

• आँख से **रूप** देखकर भिक्षु में अच्छाई [या सकारात्मकता] जागती है, या बुराई [या नकारात्मकता] जागती है, या अच्छाई व बुराई दोनों जागती है—तब वह खौफ़ लज्जा व घिन महसूस करता है।

• कान से आवाज़ सुनकर भिक्षु… घिन महसूस करता है।

• नाक से गंध सूँघकर भिक्षु… घिन महसूस करता है।

• जीभ से स्वाद चखकर भिक्षु… घिन महसूस करता है।

• काया से संस्पर्श महसूस कर भिक्षु… घिन महसूस करता है।

• मन से स्वभाव जानकर भिक्षु में अच्छाई जागती है, या बुराई जागती है, या अच्छाई व बुराई दोनों जागती है—तब वह खौफ़ लज्जा व घिन महसूस करता है।

किंतु **विकसित इंद्रियोंवाला आर्य** कैसे होता है?

• आँख से **रूप** देखकर भिक्षु में अच्छाई [या सकारात्मकता] जागती है, या बुराई [या नकारात्मकता] जागती है, या अच्छाई व बुराई दोनों जागती है। घिनौनी उपस्थिति में वह जब चाहे 'घिनरहित पक्ष' देखते हुए रहता है। घिनरहित उपस्थिति में वह जब चाहे 'घिनौना पक्ष' देखते हुए रहता है। घिनौनी व घिनरहित दोनों की उपस्थिति में वह जब चाहे, मात्र 'घिनौना पक्ष' देखते हुए रहता है, या मात्र 'घिनरहित पक्ष' देखते हुए रहता है, या जब चाहे दोनों हटाकर वह 'तटस्थ सचेत व स्मरणशील' होकर रहता है।

• कान से आवाज़ सुनकर...

• नाक से गंध सूँघकर...

• जीभ से स्वाद चखकर...

• काया से संस्पर्श महसूस कर...

• मन से स्वभाव जानकर भिक्षु में अच्छाई जागती है, या बुराई जागती है, या अच्छाई व बुराई दोनों जागती है। घिनौनी उपस्थिति में वह जब चाहे 'घिनरहित पक्ष' देखते हुए रहता है। घिनरहित उपस्थिति में वह जब चाहे 'घिनौना पक्ष' देखते हुए रहता है। घिनौनी व घिनरहित दोनों की उपस्थिति में वह जब चाहे, मात्र 'घिनौना पक्ष' देखते हुए रहता है, या मात्र 'घिनरहित पक्ष' देखते हुए रहता है, या जब चाहे दोनों हटाकर वह 'तटस्थ सचेत व स्मरणशील' होकर रहता है।

— इस तरह भिक्षु विकसित इंद्रियोंवाला आर्य होता है।

«मा.नि.१५२»

★ ★ ★

१०

सतिपट्ठान

~ सम्यकस्मृति की आर्य साधना ~

आतापी —

कोई **कामचोर** «अनातापी» कैसे होता है?

आम आदमी सोचता है, 'अनुत्पन्न पाप/अकुशल स्वभाव उत्पन्न हुए, तो अनर्थ होगा'—तब भी वह तत्परता नही जगाता। 'उत्पन्न पाप/अकुशल स्वभाव त्यागे न गए, तो अनर्थ होगा'—तब भी वह तत्परता नही जगाता। 'अनुत्पन्न कुशल स्वभाव उत्पन्न न हुए, तो अनर्थ होगा'—तब भी वह तत्परता नही जगाता। 'उत्पन्न कुशल स्वभाव खत्म हुए, तो अनर्थ होगा'—तब भी वह तत्परता नही जगाता।

— इस तरह कोई व्यक्ति कामचोर होता है।

और कोई **तत्पर** «आतापी» कैसे होता है?

भिक्षु सोचता है —

- 'अनुत्पन्न पाप/अकुशल स्वभाव उत्पन्न हुए, तो अनर्थ होगा'—और वह तत्परता जगाता है।
- 'उत्पन्न पाप/अकुशल स्वभाव त्यागे न गए, तो अनर्थ होगा'—और वह तत्परता जगाता है।
- 'अनुत्पन्न कुशल स्वभाव उत्पन्न न हुए, तो अनर्थ होगा'—और वह तत्परता जगाता है।
- 'उत्पन्न कुशल स्वभाव खत्म हुए, तो अनर्थ होगा'—और वह तत्परता जगाता है।

— इस तरह भिक्षु तत्पर होता है।

«सं.नि.१६:२»

सम्पजानो

भिक्षु **सचेत** कैसे होता है?

• उसे **संवेदनाएँ** उत्पन्न होते हुए, स्थित होते हुए, व्यय होते हुए पता चलती हैं।

• उसे **विचार** उत्पन्न होते हुए, स्थित होते हुए, व्यय होते हुए पता चलते हैं।

• उसे **नज़रिए** उत्पन्न होते हुए, स्थित होते हुए, व्यय होते हुए पता चलते हैं।

— इस तरह भिक्षु सचेत होता है।

«सं.नि.४७:३५»

सतिमा

कोई भिक्षु **स्मरणशील** कैसे होता है?

• वह **काया** को [मात्र] काया देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

• **संवेदना** को [मात्र] संवेदना देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

• **चित्त** को [मात्र] चित्त देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

• **स्वभाव** को [मात्र] स्वभाव देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

— इस तरह भिक्षु स्मरणशील होता है।

स्मरणशील रहो भिक्षुओं, और सचेत रहो! यह हमारा [=सभी बुद्धों का] आपको संदेश है।

«सं.नि.४७:३५»

* * *

चार स्मृतिप्रस्थान की साधना करना क्या है?

• भिक्षु **काया के उत्पत्ति-स्वभाव** पर गौर करते हुए रहता है, काया के **व्यय-स्वभाव** पर गौर करते हुए रहता है, काया के **उत्पत्ति व व्यय स्वभाव** पर गौर करते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

• वह **संवेदना के उत्पत्ति-स्वभाव** पर गौर करते हुए रहता है, संवेदना के **व्यय-स्वभाव** पर गौर करते हुए रहता है, संवेदना के **उत्पत्ति व व्यय स्वभाव** पर गौर करते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

• वह **चित्त के उत्पत्ति-स्वभाव** पर गौर करते हुए रहता है, चित्त के **व्यय-स्वभाव** पर गौर करते हुए रहता है, चित्त के **उत्पत्ति व व्यय स्वभाव** पर गौर करते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

• वह **स्वभाव के उत्पत्ति-स्वभाव** पर गौर करते हुए रहता है, स्वभाव के **व्यय-स्वभाव** पर गौर करते हुए रहता है, स्वभाव के **उत्पत्ति व व्यय स्वभाव** पर गौर करते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

— यह चार स्मृतिप्रस्थान की साधना है।

और **चार स्मृतिप्रस्थान की साधना करानेवाला प्रगतिपथ** क्या है?

बस यही—आर्य अष्टांगिक मार्ग ही चार स्मृतिप्रस्थान की साधना करानेवाला प्रगतिपथ है।

«सं.नि.४७:४०»

* * *

सतिपट्ठानसुत्त

यह चार स्मृतिप्रस्थान एकतरफ़ा# «एकायनो» मार्ग है, भिक्षुओं—सत्वों की विशुद्धि के लिए, शोक विलाप लाँघने के लिए, दर्द व्यथा विलुप्त करने के लिए, सही तरीक़ा पाने के लिए, निर्वाण साक्षात्कार के लिए। कौन से चार?

यहाँ भिक्षुओं, भिक्षु **काया** को काया देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए। **संवेदना** को संवेदना देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए। **चित्त** को चित्त देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए। **स्वभाव** को स्वभाव देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

«कायानुपस्सना आनापान»

कैसे भिक्षु काया को काया देखते हुए रहता है? भिक्षु जंगल में, पेड़ तले, या ख़ालीगृह «सुञ्ञागार» जाकर पालथी मारकर, शरीर सीधा रख, स्मरणशील होकर बैठता है। स्मरणशील होकर वह साँस लेता है; स्मरणशील होकर वह साँस छोड़ता है।

• लंबी-साँस लेते हुए उसे **पता चलता** «पजानाति» है कि 'मैं लंबी-साँस ले रहा हूँ।" लंबी-साँस छोड़ते हुए पता चलता है कि 'मैं लंबी-साँस छोड़ रहा हूँ।"

'**एकायनो मग्गो**' का अनुवाद अनेक दशकों तक 'इकलौता मार्ग' जैसे होता था। किंतु भन्ते ञाणमोली के पश्चात अनुवादकों ने उसके पूर्वसंदर्भ की ओर गौर किया, और पाया कि दरअसल उसका अर्थ है—ऐसा रास्ता जो मात्र एक ही मंज़िल पर ले जाए, जिसमे भिन्न दिशाओं में दुसरे रास्तें न खुलते हो। आजकल ठीक **वन वे** की तरह।

• छोटी-साँस लेते हुए उसे पता चलता है कि 'मैं छोटी-साँस ले रहा हूँ।" छोटी-साँस छोड़ते हुए पता चलता है कि 'मैं छोटी-साँस छोड़ रहा हूँ।"

• संपूर्ण शरीर महसूस करते हुए वह साँस लेना **सीखता** «सिक्खति» है; संपूर्ण शरीर महसूस करते हुए वह साँस छोड़ना सीखता है।

• कायिक-रचना# शान्त करते हुए वह साँस लेना सीखता है; कायिक-रचना शान्त करते हुए वह साँस छोड़ना सीखता है।

जैसे किसी निपुण बढई को औजार लंबा घुमाते हुए पता चलता है कि 'मैं लंबा घुमा रहा हूँ।' छोटा घुमाते हुए पता चलता है कि 'मैं छोटा घुमा रहा हूँ।'

उसी तरह लंबी-साँस लेते हुए उसे पता चलता है कि 'मैं लंबी-साँस ले रहा हूँ।" लंबी-साँस छोड़ते हुए पता चलता है कि 'मैं लंबी-साँस छोड़ रहा हूँ।" छोटी-साँस लेते हुए उसे पता चलता है कि 'मैं छोटी-साँस ले रहा हूँ।" छोटी-साँस छोड़ते हुए पता चलता है कि 'मैं छोटी-साँस छोड़ रहा हूँ।" संपूर्ण शरीर महसूस करते हुए वह साँस लेना **सीखता** है; संपूर्ण शरीर महसूस करते हुए वह साँस छोड़ना सीखता है। कायिक-रचना शान्त करते हुए वह साँस लेना सीखता है; कायिक-रचना शान्त करते हुए वह साँस छोड़ना सीखता है।

— इस तरह वह अपनी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा अपनी व बाहरी [सभी] काया को काया देखते हुए रहता है। अथवा काया का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह काया है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित [स्वतंत्र] होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु काया को काया देखते हुए रहता है।

«इरियापथ»

फिर उसे **चलते** हुए पता चलता रहता है कि 'चल रहा हूँ।' **खड़े** हुए पता चलता रहता है कि 'खड़ा हूँ।' **बैठे** हुए पता चलता रहता है कि 'बैठा हूँ।' **लेटे** हुए पता चलता रहता है कि 'लेटा हूँ।' जैसे जैसे काया अवस्था लेती है, वैसे वैसे उसे पता चलता रहता है।

इस तरह वह अपनी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा अपनी व बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है। अथवा काया का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह काया

मा.नि.४४ के अनुसार आती-जाती साँस या आश्वास-प्रश्वास ही कायिक-रचना होती है। भिन्न-भिन्न तरह से साँस लेकर हम भिन्न-भिन्न तरह से शरीर महसूस करते है, और उसकी रचना करते है।

है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु काया को काया देखते हुए रहता है।

«सम्पजानपब्बं»

फिर भिक्षु आगे बढ़ते व लौट आते सचेत होता है। नज़र टिकाते व नज़र हटाते वह सचेत होता है। [अंग] सिकोड़ते व पसारते वह सचेत होता है। संघाटी पात्र व चीवर धारण करते वह सचेत होता है। खाते पीते चबाते स्वाद लेते वह सचेत होता है। पेशाब व शौच करते वह सचेत होता है। चलते खड़े रहते बैठते सोते जागते बोलते मौन होते वह सचेत होता है।

इस तरह वह अपनी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा अपनी व बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है। अथवा काया का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह काया है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु काया को काया देखते हुए रहता है।

«पटिकूलमनसिकार»

फिर भिक्षु अपनी काया को पैर तल से ऊपर, माथे के केश से नीचे, त्वचा से ढ़की, नाना प्रकार की गंदगियों से भरी हुई मनन करता रहता है—'मेरी इस काया में है—केश, लोम, नाखून, दाँत, त्वचा, माँस, नसें, हड्डी, हड्डीमज्जा, तिल्ली, ह्रदय, कलेजा, झिल्ली, गुर्दा, फेफड़ा, आँत, छोटी-आँत, उदर, टट्टी, मस्तिष्क, पित्त, कफ, पीब, रक्त, पसीना, चर्बी, आँसू, तेल, थूक, बलगम, जोड़ो में तरल, मूत्र।'

जैसे खुली बोरी में चावल, गेहूं, मूंग, राजमा, तिल, कनकी आदि नाना प्रकार का अनाज भरा हो। कोई अच्छी आँखोंवाला पुरुष उसे नीचे उड़ेलकर पता करें—'यह चावल है, यह गेहूं है, यह मूंग है, यह राजमा है, यह तिल है, यह कनकी है।'

उसी तरह भिक्षु अपनी काया को पैर तल से ऊपर, माथे के केश से नीचे, त्वचा से ढ़की, नाना प्रकार की गंदगियों से भरी हुई मनन करता रहता है—'मेरी इस काया में है—केश, लोम, नाखून, दाँत, त्वचा, माँस, नसें, हड्डी, हड्डीमज्जा, तिल्ली, ह्रदय, कलेजा, झिल्ली, गुर्दा, फेफड़ा, आँत, छोटी-आँत, उदर, टट्टी, मस्तिष्क, पित्त, कफ, पीब, रक्त, पसीना, चर्बी, आँसू, तेल, थूक, बलगम, जोड़ो में तरल, मूत्र।"

इस तरह वह अपनी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा अपनी व बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है। अथवा काया का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का

उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह काया है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु काया को काया देखते हुए रहता है।

«धातुमनसिकार»

फिर भिक्षु यह काया—चाहे जिस अवस्था में हो, जिस परिस्थिति में हो—**धातु के अनुसार** मनन करता रहता है—'इस काया में पृथ्वीधातु है; जलधातु है; अग्निधातु है; वायुधातु है।'

जैसे कोई कसाई गाय को काटकर चौराहे पर उसका अलग-अलग ढेर बनाकर बैठे। उसी तरह वह यह काया—चाहे जिस अवस्था में हो, जिस परिस्थिति में हो—धातुओं के अनुसार मनन करता रहता है—'इस काया में पृथ्वीधातु है; जलधातु है; अग्निधातु है; वायुधातु है।'

इस तरह वह अपनी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा अपनी व बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है। अथवा काया का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह काया है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु काया को काया देखते हुए रहता है।

«नवसिवथिक»

फिर भिक्षु श्मशान में पड़ी **लाश** देखें—

(१) एक दिन पुरानी, दो दिन पुरानी, तीन दिन पुरानी—फूल चुकी; नीली पड़ चुकी; पीब रिसती। तब वह अपनी काया से तुलना करता है—'मेरी काया भी इसी स्वभाव की है। आगे यही होना है। यह टाला नही जा सकता।'

इस तरह वह अपनी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा अपनी व बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है। अथवा काया का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह काया है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु काया को काया देखते हुए रहता है।

फिर भिक्षु श्मशान में पड़ी **लाश** देखें—

(२) कौवों द्वारा नोची जाती, चीलों द्वारा नोची जाती, गिद्धों द्वारा नोची जाती, बगुलों द्वारा नोची जाती, कुत्तों द्वारा चबाई जाती, बाघ द्वारा चबाई जाती, तेंदुए द्वारा चबाई जाती, सियार द्वारा

चबाई जाती, अथवा विविध जंतुओं द्वारा खायी जाती। तब वह अपनी काया से तुलना करता है—'मेरी काया भी इसी स्वभाव की है। आगे यही होना है। यह टाला नही जा सकता।'

इस तरह वह अपनी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा अपनी व बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है। अथवा काया का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह काया है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु काया को काया देखते हुए रहता है।

फिर वह श्मशान में पड़ी **लाश** देखें —

(३) मांसयुक्त, रक्त से सनी, नसों से बँधी, हड्डी-कंकालवाली...

(४) मांसरहित, रक्त से सनी, नसों से बँधी, हड्डी-कंकालवाली...

(५) मांसरहित, रक्तरहित, नसों से बँधी, हड्डी-कंकालवाली...

(६) मांसरहित, रक्तरहित, नसों से बिना बँधी, हड्डियां जहाँ-वहाँ बिखरी हुई—कही हाथ की हड्डी; कही पैर की; कही टखने की हड्डी; कही जाँघ की; कही कुल्हे की हड्डी; कही कमर की; कही पसली; कही पीठ की हड्डी; कही कंधे की हड्डी; कही गर्दन की; कही ठोड़ी की हड्डी; कही दाँत; कही खोपड़ी। तब वह अपनी काया से तुलना करता है—'मेरी काया भी इसी स्वभाव की है। आगे यही होना है। यह टाला नही जा सकता।'

इस तरह वह अपनी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा अपनी व बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है। अथवा काया का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह काया है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु काया को काया देखते हुए रहता है।

फिर वह श्मशान में पड़ी **लाश** देखें—

(७) हड्डिया शंख जैसे सफ़ेद हो चुकी...

(८) वर्षोंपश्चात हड्डियों का ढ़ेर लगा हुआ...

(९) हड्डिया सड़कर चूर्ण बन चुकी हो। तब वह अपनी काया से तुलना करता है—'मेरी काया भी इसी स्वभाव की है। आगे यही होना है। यह टाला नही जा सकता।'

इस तरह वह अपनी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है; अथवा अपनी व बाहरी काया को काया देखते हुए रहता है। अथवा काया का उत्पत्ति-

स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा काया का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह काया है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु काया को काया देखते हुए रहता है।

«वेदनानुपस्सना»

और फिर भिक्षुओं, भिक्षु संवेदना को संवेदना देखते हुए कैसे रहता है? यहाँ भिक्षु को **सुख** महसूस करते हुए पता चलता रहता है कि 'मैं सुख महसूस कर रहा हूँ।' **दर्द** महसूस करते हुए पता चलता रहता है कि 'मैं दर्द महसूस कर रहा हूँ।' **नसुख-नदर्द** महसूस करते हुए पता चलता रहता है कि 'मैं नसुख-नदर्द महसूस कर रहा हूँ।'

«सामिस» **भौतिक सुख** महसूस करते हुए पता चलता रहता है कि 'मैं भौतिक सुख महसूस कर रहा हूँ।' «निरामिस» **आध्यात्मिक सुख** महसूस करते हुए पता चलता रहता है कि 'मैं आध्यात्मिक सुख महसूस कर रहा हूँ।' **भौतिक दर्द** महसूस करते हुए पता चलता रहता है कि 'मैं भौतिक दर्द महसूस कर रहा हूँ।' **आध्यात्मिक दर्द** महसूस करते हुए पता चलता रहता है कि 'मैं आध्यात्मिक दर्द महसूस कर रहा हूँ।' **भौतिक नसुख-नदर्द** महसूस करते हुए पता चलता रहता है कि 'मैं भौतिक नसुख-नदर्द महसूस कर रहा हूँ।' **आध्यात्मिक नसुख-नदर्द** महसूस करते हुए पता चलता रहता है कि 'मैं आध्यात्मिक नसुख-नदर्द महसूस कर रहा हूँ।'

इस तरह वह अपनी संवेदना को संवेदना देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी संवेदना को संवेदना देखते हुए रहता है; अथवा अपनी व बाहरी संवेदना को संवेदना देखते हुए रहता है। अथवा संवेदना का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा संवेदना का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा संवेदना का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह संवेदना है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु संवेदना को संवेदना देखते हुए रहता है।

«चित्तानुपस्सना»

और फिर भिक्षुओं, भिक्षु चित्त को चित्त देखते हुए कैसे रहता है? यहाँ भिक्षु को **रागपूर्ण** चित्त [साफ़ तौरपर] पता चलता है कि 'रागपूर्ण चित्त है।' **वीतराग** चित्त पता चलता है कि 'वीतराग चित्त है।' **द्वेषपूर्ण** चित्त पता चलता है कि 'द्वेषपूर्ण चित्त है।' **द्वेषविहीन** चित्त पता चलता है कि 'द्वेषविहीन चित्त है।' **मोहपूर्ण** चित्त पता चलता है कि 'मोहपूर्ण चित्त है।' **मोहविहीन** चित्त पता चलता है कि

'मोहविहीन चित्त है।' **संकुचित** «सङ्खित्त» चित्त पता चलता है कि 'संकुचित चित्त है।' **बिखरा** «विक्खित्त» चित्त पता चलता है कि 'बिखरा चित्त है।'

बढ़ा हुआ «महग्गत» चित्त पता चलता है कि 'बढ़ा हुआ चित्त है।' **न बढ़ा** «अमहग्गत» चित्त पता चलता है कि 'न बढ़ा चित्त है।' **बेहतर** «उत्तर» चित्त पता चलता है कि 'बेहतर चित्त है।' **सर्वोत्तर** «अनुत्तर» चित्त पता चलता है कि 'सर्वोत्तर चित्त है।' **समाहित** चित्त पता चलता है कि 'समाहित चित्त है।' **असमाहित** चित्त पता चलता है कि 'असमाहित चित्त है।' **विमुक्त** चित्त पता चलता है कि 'विमुक्त चित्त है।' **अविमुक्त** चित्त पता चलता है कि 'अविमुक्त चित्त है।'

इस तरह वह अपने चित्त को चित्त देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी चित्त को चित्त देखते हुए रहता है; अथवा अपने व बाहरी चित्त को चित्त देखते हुए रहता है। अथवा चित्त का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा चित्त का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा चित्त का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह चित्त है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु चित्त को चित्त देखते हुए रहता है।

«धम्मानुपस्सना—नीवरण»

और फ़िर भिक्षुओं, भिक्षु स्वभाव को स्वभाव देखते हुए कैसे रहता है? यहाँ कोई भिक्षु **पाँच व्यवधान** «पञ्च नीवरण» स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है।

• यहाँ भिक्षु को भीतर **कामेच्छा** होने पर [साफ़ तौरपर] पता चलता है कि 'मेरे भीतर कामेच्छा है।" अथवा कामेच्छा न होने पर पता चलता है कि 'मेरे भीतर कामेच्छा नही है।" कैसे अनुत्पन्न कामेच्छा की उत्पत्ति होती है, उसे पता चलता है। कैसे उत्पन्न कामेच्छा खत्म होती है, उसे पता चलता है। और कैसे खत्म हुई कामेच्छा की दुबारा उत्पत्ति न होगी, उसे पता चलता है।

• भीतर **दुर्भावना** होने पर उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर दुर्भावना है।" अथवा दुर्भावना न होने पर पता चलता है कि 'मेरे भीतर दुर्भावना नही है।" कैसे अनुत्पन्न दुर्भावना की उत्पत्ति होती है, उसे पता चलता है। कैसे उत्पन्न दुर्भावना खत्म होती है, उसे पता चलता है। और कैसे खत्म हुई दुर्भावना की दुबारा उत्पत्ति न होगी, उसे पता चलता है।

• भीतर **सुस्ती व तंद्रा** होने पर उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर सुस्ती व तंद्रा है।" अथवा सुस्ती व तंद्रा न होने पर पता चलता है कि 'मेरे भीतर सुस्ती व तंद्रा नही है।" कैसे अनुत्पन्न सुस्ती व तंद्रा की उत्पत्ति होती है, उसे पता चलता है। कैसे उत्पन्न सुस्ती व तंद्रा खत्म होती है, उसे पता चलता है। और कैसे खत्म हुई सुस्ती व तंद्रा की दुबारा उत्पत्ति न होगी, उसे पता चलता है।

• भीतर **बेचैनी व पश्चाताप** होने पर उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर बेचैनी व पश्चाताप है"। अथवा बेचैनी व पश्चाताप न होने पर पता चलता है कि 'मेरे भीतर बेचैनी व पश्चाताप नही है।" कैसे अनुत्पन्न बेचैनी व पश्चाताप की उत्पत्ति होती है, उसे पता चलता है। कैसे उत्पन्न बेचैनी व पश्चाताप खत्म होती है, उसे पता चलता है। और कैसे खत्म हुई बेचैनी व पश्चाताप की दुबारा उत्पत्ति न होगी, उसे पता चलता है।

• भीतर **अनिश्चितता** होने पर उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर अनिश्चितता है।" अथवा अनिश्चितता न होने पर पता चलता है कि 'मेरे भीतर अनिश्चितता नही है।" कैसे अनुत्पन्न अनिश्चितता की उत्पत्ति होती है, उसे पता चलता है। कैसे उत्पन्न अनिश्चितता खत्म होती है, उसे पता चलता है। और कैसे खत्म हुई अनिश्चितता की दुबारा उत्पत्ति न होगी, उसे पता चलता है।

इस तरह वह अपने स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा अपने व बाहरी स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा स्वभाव का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा स्वभाव का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा स्वभाव का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह स्वभाव है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु पाँच व्यवधान स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है।

«खन्ध»

और फ़िर भिक्षुओं, भिक्षु **पाँच आधार-संग्रह** «पञ्च उपादानक्खन्ध» स्वभावों को स्वभाव देखते हुए कैसे रहता है?

कोई भिक्षु [पता करता है]—'यह **रूप** है; यह रूप की उत्पत्ति है; यह रूप की विलुप्ती है। यह **संवेदना** है; यह संवेदना की उत्पत्ति है; यह संवेदना की विलुप्ती है। यह **नज़रिया** [नज़रिया] है; यह नज़रिया की उत्पत्ति है; यह नज़रिया की विलुप्ती है। यह **रचना** है; यह रचना की उत्पत्ति है; यह रचना की विलुप्ती है। यह **चैतन्यता** है; यह चैतन्यता की उत्पत्ति है; यह चैतन्यता की विलुप्ती है।'#

इस तरह वह अपने स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा अपने व बाहरी स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा स्वभाव का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा स्वभाव का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा स्वभाव का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह स्वभाव है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है।

पञ्चउपादानक्खन्ध की उत्पत्ति व विलुप्ति के लिए अध्याय ८ के पृष्ठ १२६ 'समाधि विकसित करों' पाठ देखें।

दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु पाँच आधार संग्रह स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है।

«आयतन»

फ़िर भिक्षु **छह भीतरी-बाहरी आयाम** स्वभावों को स्वभाव देखते हुए कैसे रहता है?

• यहाँ भिक्षु **आँख** [साफ़ तौरपर] पता करता है; **रूप** पता करता है; दोनों पर आधारित जो **बंधन** «संयोजन» पैदा होता है, उसे पता करता है। अनुत्पन्न बंधन कैसे उत्पन्न होता है, वह पता करता है। उत्पन्न बंधन कैसे छोड़ा जाता है, वह पता करता है। और छूटा बंधन कैसे दुबारा उत्पन्न न हो, वह पता करता है।

• वह **कान** पता करता है; **आवाज़** पता करता है; दोनों पर आधारित जो **बंधन** पैदा होता है, उसे पता करता है। अनुत्पन्न बंधन कैसे उत्पन्न होता है, वह पता करता है। उत्पन्न बंधन कैसे छोड़ा जाता है, वह पता करता है। और छूटा बंधन कैसे दुबारा उत्पन्न न हो, वह पता करता है।

• वह **नाक** पता करता है; **गंध** पता करता है; दोनों पर आधारित जो **बंधन** पैदा होता है, उसे पता करता है। अनुत्पन्न बंधन कैसे उत्पन्न होता है, वह पता करता है। उत्पन्न बंधन कैसे छोड़ा जाता है, वह पता करता है। और छूटा बंधन कैसे दुबारा उत्पन्न न हो, वह पता करता है।

• वह **जीभ** पता करता है; **स्वाद** पता करता है; दोनों पर आधारित जो **बंधन** पैदा होता है, उसे पता करता है। अनुत्पन्न बंधन कैसे उत्पन्न होता है, वह पता करता है। उत्पन्न बंधन कैसे छोड़ा जाता है, वह पता करता है। और छूटा बंधन कैसे दुबारा उत्पन्न न हो, वह पता करता है।

• वह **काया** पता करता है; **संस्पर्श** पता करता है; दोनों पर आधारित जो **बंधन** पैदा होता है, उसे पता करता है। अनुत्पन्न बंधन कैसे उत्पन्न होता है, वह पता करता है। उत्पन्न बंधन कैसे छोड़ा जाता है, वह पता करता है। और छूटा बंधन कैसे दुबारा उत्पन्न न हो, वह पता करता है।

• वह **मन** पता करता है; **स्वभाव** पता करता है; दोनों पर आधारित जो **बंधन** पैदा होता है, उसे पता करता है। अनुत्पन्न बंधन कैसे उत्पन्न होता है, वह पता करता है। उत्पन्न बंधन कैसे छोड़ा जाता है, वह पता करता है। और छूटा बंधन कैसे दुबारा उत्पन्न न हो, वह पता करता है।

इस तरह वह अपने स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा अपने व बाहरी स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा स्वभाव का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा स्वभाव का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा स्वभाव का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह स्वभाव है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु छह भीतरी-बाहरी आयाम स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है।

«बोज्झङ्ग»

फिर भिक्षु **सात संबोधि-अंग** स्वभावों को स्वभाव देखते हुए कैसे रहता है?

• यहाँ भिक्षु में भीतर **स्मृति** संबोधिअंग हो, तो उसे [साफ़ तौरपर] पता चलता है कि 'मेरे भीतर स्मृति संबोधिअंग है।" अथवा भीतर स्मृति संबोधिअंग न हो, तो उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर स्मृति संबोधिअंग नही है।" अनुत्पन्न स्मृति संबोधिअंग कैसे उत्पन्न होता है, उसे पता चलता है। और उत्पन्न स्मृति संबोधिअंग विकसित होकर परिपूर्ण कैसे होता है, उसे पता चलता है।

• भीतर **स्वभाव-जाँच** संबोधिअंग हो, तो उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर स्वभाव-जाँच संबोधिअंग है।" अथवा भीतर स्वभाव-जाँच संबोधिअंग न हो, तो उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर स्वभाव-जाँच संबोधिअंग नही है।" अनुत्पन्न स्वभाव-जाँच संबोधिअंग कैसे उत्पन्न होता है, उसे पता चलता है। और उत्पन्न स्वभाव-जाँच संबोधिअंग विकसित होकर परिपूर्ण कैसे होता है, उसे पता चलता है।

• भीतर **ऊर्जा** संबोधिअंग हो, तो उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर ऊर्जा संबोधिअंग है।" अथवा भीतर ऊर्जा संबोधिअंग न हो, तो उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर ऊर्जा संबोधिअंग नही है।" अनुत्पन्न ऊर्जा संबोधिअंग कैसे उत्पन्न होता है, उसे पता चलता है। और उत्पन्न ऊर्जा संबोधिअंग विकसित होकर परिपूर्ण कैसे होता है, उसे पता चलता है।

• भीतर **प्रफुल्लता** संबोधिअंग हो, तो उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर प्रफुल्लता संबोधिअंग है।" अथवा भीतर प्रफुल्लता संबोधिअंग न हो, तो उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर प्रफुल्लता संबोधिअंग नही है।" अनुत्पन्न प्रफुल्लता संबोधिअंग कैसे उत्पन्न होता है, उसे पता चलता है। और उत्पन्न प्रफुल्लता संबोधिअंग विकसित होकर परिपूर्ण कैसे होता है, उसे पता चलता है।

• भीतर **प्रशान्ति** संबोधिअंग हो, तो उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर प्रशान्ति संबोधिअंग है।" अथवा भीतर प्रशान्ति संबोधिअंग न हो, तो उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर प्रशान्ति संबोधिअंग नही है।" अनुत्पन्न प्रशान्ति संबोधिअंग कैसे उत्पन्न होता है, उसे पता चलता है। और उत्पन्न प्रशान्ति संबोधिअंग विकसित होकर परिपूर्ण कैसे होता है, उसे पता चलता है।

• भीतर **समाधि** संबोधिअंग हो, तो उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर समाधि संबोधिअंग है।" अथवा भीतर समाधि संबोधिअंग न हो, तो उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर समाधि संबोधिअंग नही है।" अनुत्पन्न समाधि संबोधिअंग कैसे उत्पन्न होता है, उसे पता चलता है। और उत्पन्न समाधि संबोधिअंग विकसित होकर परिपूर्ण कैसे होता है, उसे पता चलता है।

• भीतर **तटस्थता** संबोधिअंग हो, तो उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर तटस्थता संबोधिअंग है।" अथवा भीतर तटस्थता संबोधिअंग न हो, तो उसे पता चलता है कि 'मेरे भीतर तटस्थता

संबोधिअंग नही है।" अनुत्पन्न तटस्थता संबोधिअंग कैसे उत्पन्न होता है, उसे पता चलता है। और उत्पन्न तटस्थता संबोधिअंग विकसित होकर परिपूर्ण कैसे होता है, उसे पता चलता है।

इस तरह वह अपने स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा बाहरी स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा अपने व बाहरी स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा स्वभाव का उत्पत्ति-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा स्वभाव का व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है; अथवा स्वभाव का उत्पत्ति व व्यय-स्वभाव देखते हुए रहता है। अथवा उसकी स्मृति स्थापित हो जाती है—'यह स्वभाव है।' और जब तक यह ज्ञान, यह याद बनी रहती है, वह अनाश्रित होकर रहता है। दुनिया का आधार नही लेता। इस तरह कोई भिक्षु सात संबोधिअंग स्वभावों को स्वभाव देखते हुए रहता है।

अब भिक्षुओं, जो इन चार स्मृतिप्रस्थान का इस तरह ७ वर्षों तक अभ्यास करें, उसे दो में से एक फ़ल अपेक्षित है—अभी यही परमज्ञान «अञ्ञा» [=अरहंतफल], अथवा आधार शेष बचने पर अनागामिता [=अनागामिफल]।

अरे छोड़ो ७ वर्ष भिक्षुओं! जो इन चार स्मृतिप्रस्थान का इस तरह ६ वर्षों तक... ५ वर्षों तक... ४ वर्षों तक... ३ वर्षों तक... २ वर्षों तक... १ वर्ष तक... ७ महीने तक अभ्यास करें, उसे दो में से एक फ़ल अपेक्षित है—अभी यही परमज्ञान, अथवा आधार शेष बचने पर अनागामिता।

अरे छोड़ो ७ महीने भिक्षुओं! जो इन चार स्मृतिप्रस्थान का इस तरह ६ महीने तक... ५ महीने तक... ४ महीने तक... ३ महीने तक... २ महीने तक... १ महीने तक... आधे महीने तक... मात्र ७ दिनों तक अभ्यास करें, उसे दो में से एक फ़ल अपेक्षित है—अभी यही परमज्ञान, अथवा आधार शेष बचने पर अनागामिता।

यह चार स्मृतिप्रस्थान एकतरफ़ा मार्ग है भिक्षुओं—सत्वों की विशुद्धि के लिए, शोक विलाप लाँघने के लिए, दर्द व्यथा विलुप्त करने के लिए, सही तरीक़ा पाने के लिए, निर्वाण साक्षात्कार के लिए। यह जो कहा, इस बारे में कहा है।

«मा.नि.१०»

★ ★ ★

११

ब्रह्मविहारादि

~ ब्रह्मविहार, चेतोविमुक्ति, आनापान, समथ-विपस्सना इत्यादि ~

करणीय मेत्ता —

ध्येयकुशल सन्तपद-अभिलाषी को यह करना चाहिए—

सक्षम, सीधा और स्पष्टवादी हो। आज्ञाधारक और सौम्य बने। अभिमानी न हो। संतुष्ट रहे। सहज पालनेयोग्य रहे। कम ज़िम्मेदारियाँ, कम रख-रखाव रखे। शान्तइंद्रियों के साथ निपुण व विनम्र बने। कुल-परिवारों के प्रति लालची न हो। ऐसा कृत्य कदापि न करें, जिसे देख समझदार लोग निंदा करें।

[मङ्गलकामना करें:] 'सभी सत्व सुखपूर्ण व सुरक्षित होकर सुखी हो! जो भी प्राणी अस्तित्व में हो—चाहे दुर्बल हो या बलवान, लंबे विशाल मध्यम छोटे सूक्ष्म या स्थूल, दृश्य हो या अदृश्य, समीप हो या दूर, जन्में हो या जन्म-संभावित—सभी सत्व सुखी हो! कोई किसी के साथ धोखाधड़ी न करें, या कही किसी की घृणा न करें! क्रोधित हो या चिढ़कर किसी के प्रति दुःख की कामना न करें!'

जैसे माता अपने इकलौते पुत्र की रक्षा हेतु अपना जीवन कुर्बान करें—उसी तरह सभी सत्वों के प्रति 'अपरिमित मानस' की साधना करें! समस्त दुनिया के प्रति 'मैत्रीपूर्ण अपरिमित मानस' की साधना करें! ऊपर, नीचे, सभी ओर—बिना बाधा, बिना बैर, बिना दुर्भावना के—खड़े चलते बैठते लेटते—जब तक आलस्य न छूटे, मात्र इसी नज़रिए का अधिष्ठान बनाए रखने को अभी यही 'ब्रह्मविहार' करना कहते है।

मिथ्यादृष्टि में न पड़ा ऐसा शीलवान, सम्यकदर्शन-संपन्न व्यक्ति—कामुकता हटाकर पुनः गर्भ में नही पड़ेगा।

«खुद्दकपाठ ९»

* * *

मेत्ता करनेवाले में **ग्यारह विशेषताएं** आती है—

वह—सुख से सोता है। सुख से जागता है। पाप-स्वप्न नही देखता। मनुष्यों का प्रिय होता है। अ-मनुष्यों का प्रिय होता है। देवता रक्षा करते है। अग्नि विष या शस्त्र मार न पाते। चित्त तुरंत समाधिस्त होता है। चेहरे का रंग खिलता है। बेहोशी में मौत न होती। परमार्थ न भेद पाए, तब भी ब्रह्मलोक जाता है।

«अं.नि.११:१६»

* * *

ब्रह्मविहार चेतोविमुत्ति

• भिक्षु दुनिया के प्रति लालसा छोड़, दुर्भावना छोड़, भ्रम छोड़, सचेत व स्मरणशील होकर **मैत्रीपूर्ण चित्त** को एक-दिशा में फैलाकर व्याप्त करता है। उसी तरह दूसरी-दिशा में... तीसरी-दिशा में... चौथी-दिशा में... ऊपर... नीचे... तत्र सर्वत्र... बिना बैर, बिना दुर्भावना के विस्तृत, विशालकाय, अपरिमित मैत्रीपूर्ण चित्त इस सर्वव्यापी ब्रह्मांड में फैलाकर परिपूर्णतः व्याप्त करता है।

जैसे कोई बलवान पुरुष ज़ोरदार **शंखनाद** कर सरलतापूर्वक सभी दिशाओं को सूचित करें। उसी तरह भिक्षु **मेत्ता चेतोविमुक्ति** की साधना करें, बार-बार करें तो सीमित पापकर्म नहीं टिक पाते, नहीं रह पाते।

• भिक्षु दुनिया के प्रति लालसा छोड़, दुर्भावना छोड़, भ्रम छोड़, सचेत व स्मरणशील होकर **करुणापूर्ण चित्त** को एक-दिशा में फैलाकर व्याप्त करता है। उसी तरह दूसरी-दिशा में... तीसरी-दिशा में... चौथी-दिशा में... ऊपर... नीचे... तत्र-सर्वत्र... बिना बैर, बिना दुर्भावना के विस्तृत, विशालकाय, अपरिमित करुणापूर्ण चित्त सर्वव्यापी ब्रह्मांड में फैलाकर परिपूर्णतः व्याप्त करता है।

जैसे बलवान पुरुष ज़ोरदार **शंखनाद** कर सरलतापूर्वक सभी दिशाओं को सूचित करें। उसी तरह भिक्षु **करुणा चेतोविमुक्ति** की साधना करें, बार-बार करें तो सीमित पापकर्म नहीं टिक पाते, नहीं रह पाते।

• भिक्षु दुनिया के प्रति लालसा छोड़, दुर्भावना छोड़, भ्रम छोड़, सचेत व स्मरणशील होकर **प्रसन्न चित्त** को एक-दिशा में फैलाकर व्याप्त करता है। उसी तरह दूसरी-दिशा में... तीसरी-दिशा में... चौथी-दिशा में... ऊपर... नीचे... तत्र सर्वत्र... बिना बैर, बिना दुर्भावना के विस्तृत, विशालकाय, अपरिमित प्रसन्न चित्त इस सर्वव्यापी ब्रह्मांड में फैलाकर परिपूर्णतः व्याप्त करता है।

जैसे बलवान पुरुष ज़ोरदार **शंखनाद** कर सरलतापूर्वक सभी दिशाओं को सूचित करें। उसी तरह भिक्षु **मुदिता चेतोविमुक्ति** की साधना करें, बार-बार करें तो सीमित पापकर्म नहीं टिक पाते, नहीं रह पाते।

• भिक्षु दुनिया के प्रति लालसा छोड़, दुर्भावना छोड़, भ्रम छोड़, सचेत व स्मरणशील होकर **तटस्थ चित्त** को एक-दिशा में फैलाकर व्याप्त करता है। उसी तरह दूसरी-दिशा में... तीसरी-दिशा में... चौथी-दिशा में... ऊपर... नीचे... तत्र सर्वत्र... बिना बैर, बिना दुर्भावना के विस्तृत, विशालकाय, अपरिमित तटस्थ चित्त इस सर्वव्यापी ब्रह्मांड में फैलाकर परिपूर्णतः व्याप्त करता है।

जैसे बलवान पुरुष ज़ोरदार **शंखनाद** कर सरलतापूर्वक सभी दिशाओं को सूचित करें। उसी तरह भिक्षु **तटस्थता चेतोविमुक्ति** की साधना करें, बार-बार करें तो सीमित पापकर्म नहीं टिक पाते, नहीं रह पाते।

«सं.नि.४२:८»

* * *

मेत्ता चेतोविमुक्ति कैसे विकसित होती है? उसका ध्येय क्या है? उसकी ऊँचाई क्या है? उसका पुरस्कार एवं परिपूर्णता क्या है?

कोई भिक्षु **मैत्री के साथ** स्मृति **संबोधिअंग** की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उसे भी त्याग देता है।

वह मैत्री के साथ स्वभाव-जाँच संबोधिअंग... ऊर्जा संबोधिअंग... प्रफुल्लता संबोधिअंग... प्रशान्ति संबोधिअंग... समाधि संबोधिअंग... तटस्थता संबोधिअंग की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उसे भी त्याग देता है।

वह घिनौनी उपस्थिति में जब चाहे 'घिनरहित पक्ष' देखते हुए रहता है। वह घिनरहित उपस्थिति में जब चाहे 'घिनौना पक्ष' देखते हुए रहता है। वह घिनौनी व घिनरहित दोनों की उपस्थिति में जब चाहे, मात्र 'घिनौना पक्ष' देखते हुए रहता है, या मात्र 'घिनरहित पक्ष' देखते हुए रहता है, या वह जब चाहे दोनों हटाकर 'तटस्थ सचेत व स्मरणशील' होकर रहता है। या वह 'अच्छाई विमोक्ष' में प्रवेश कर रहता है।

जिसने आगे अधिक न भेदन किया हो, मैं कहता हूँ, उसके लिए मेत्ता चेतोविमुक्ति की ऊँचाई **अच्छाई विमोक्ष** छूती है।

करुणा चेतोविमुक्ति कैसे विकसित होती है? उसका ध्येय क्या है? उसकी ऊँचाई क्या है? उसका पुरस्कार एवं परिपूर्णता क्या है?

कोई भिक्षु **करुणा के साथ** स्मृति **संबोधिअंग** की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उसे भी त्याग देता है।

वह करुणा के साथ स्वभाव-जाँच संबोधिअंग... ऊर्जा संबोधिअंग... प्रफुल्लता संबोधिअंग... प्रशान्ति संबोधिअंग... समाधि संबोधिअंग... तटस्थता संबोधिअंग की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उसे भी त्याग देता है।

वह घिनौनी उपस्थिति में जब चाहे 'घिनरहित पक्ष' देखते हुए रहता है। वह घिनरहित उपस्थिति में जब चाहे 'घिनौना पक्ष' देखते हुए रहता है। वह घिनौनी व घिनरहित दोनों की उपस्थिति में जब चाहे, मात्र 'घिनौना पक्ष' देखते हुए रहता है, या मात्र 'घिनरहित पक्ष' देखते हुए रहता है, या वह जब चाहे दोनों हटाकर 'तटस्थ सचेत व स्मरणशील' होकर रहता है। या वह रूप नज़रिए पूर्णतः लाँघकर, विरोधी नज़रिए ओझल होने पर, विविध नज़रियों पर ध्यान न देकर—'आकाश अनंत है' [देखते हुए] 'अनंत आकाश-आयाम' में प्रवेश कर रहता है।

जिसने आगे अधिक न भेदन किया हो, मैं कहता हूँ, उसके लिए करुणा चेतोविमुक्ति की ऊँचाई **अनंत आकाश-आयाम विमोक्ष** छूती है।

मुदिता चेतोविमुक्ति कैसे विकसित होती है? उसका ध्येय क्या है? उसकी ऊँचाई क्या है? उसका पुरस्कार एवं परिपूर्णता क्या है?

कोई भिक्षु **प्रसन्नता के साथ** स्मृति **संबोधिअंग** की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उसे भी त्याग देता है।

वह प्रसन्नता के साथ स्वभाव-जाँच संबोधिअंग... ऊर्जा संबोधिअंग... प्रफुल्लता संबोधिअंग... प्रशान्ति संबोधिअंग... समाधि संबोधिअंग... तटस्थता संबोधिअंग की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उसे भी त्याग देता है।

वह घिनौनी उपस्थिति में जब चाहे 'घिनरहित पक्ष' देखते हुए रहता है। वह घिनरहित उपस्थिति में जब चाहे 'घिनौना पक्ष' देखते हुए रहता है। वह घिनौनी व घिनरहित दोनों की उपस्थिति में जब चाहे, मात्र 'घिनौना पक्ष' देखते हुए रहता है, या मात्र 'घिनरहित पक्ष' देखते हुए रहता है, या वह जब चाहे दोनों हटाकर 'तटस्थ सचेत व स्मरणशील' होकर रहता है। या वह अनंत आकाश-आयाम पूर्णतः लाँघकर—'चैतन्यता अनंत है' [देखते हुए] 'अनंत चैतन्यता-आयाम' में प्रवेश कर रहता है।

जिसने आगे अधिक न भेदन किया हो, मैं कहता हूँ, उसके लिए मुदिता चेतोविमुक्ति की ऊँचाई **अनंत चैतन्यता-आयाम विमोक्ष** छूती है।

तटस्थता चेतोविमुक्ति कैसे विकसित होती है? उसका ध्येय क्या है? उसकी ऊँचाई क्या है? उसका पुरस्कार एवं परिपूर्णता क्या है?

कोई भिक्षु **तटस्थता के साथ** स्मृति **संबोधिअंग** की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उसे भी त्याग देता है।

वह तटस्थता के साथ स्वभाव-जाँच संबोधिअंग... ऊर्जा संबोधिअंग... प्रफुल्लता संबोधिअंग... प्रशान्ति संबोधिअंग... समाधि संबोधिअंग... तटस्थता संबोधिअंग की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उसे भी त्याग देता है।

वह घिनौनी उपस्थिति में जब चाहे 'घिनरहित पक्ष' देखते हुए रहता है। वह घिनरहित उपस्थिति में जब चाहे 'घिनौना पक्ष' देखते हुए रहता है। वह घिनौनी व घिनरहित दोनों की उपस्थिति में जब चाहे, मात्र 'घिनौना पक्ष' देखते हुए रहता है, या मात्र 'घिनरहित पक्ष' देखते हुए रहता है, या वह जब चाहे दोनों हटाकर 'तटस्थ सचेत व स्मरणशील' होकर रहता है। या वह अनंत चैतन्यता-आयाम पूर्णतः लाँघकर—'कुछ नही है' [देखते हुए] 'सूने-आयाम' में प्रवेश कर रहता है।

जिसने आगे अधिक न भेदन किया हो, मैं कहता हूँ, उसके लिए तटस्थता चेतोविमुक्ति की ऊँचाई **सूना-आयाम विमोक्ष** छूती है।

«सं.नि.४६:५४»

* * *

राहुल ओवाद#

• **पृथ्वी के अनुरूप साधना** करो, राहुल। पृथ्वी के अनुरुप साधना करोगे, तो इंद्रियों पर टकराते प्रिय-अप्रिय स्पर्श तुम्हारे चित्त को वशीभूत न कर पाएँगे।

जैसे लोग पृथ्वी पर पवित्र-वस्तु रखते है, गंदगी भी डालते है—टट्टी मूत्र थूंक पीब या रक्त भी! परंतु पृथ्वी खौफ़ लज्जा व घिन महसूस नही करती। उसी तरह जब तुम पृथ्वी के अनुरुप साधना करोगे, तो इंद्रियों पर टकराते प्रिय-अप्रिय स्पर्श तुम्हारे चित्त को वशीभूत न कर पाएँगे।

अपने पुत्र राहुल को आनापान साधना-विधि सिखाने पूर्व, भगवान ने उसे पाँच धातुओं के प्रति अनात्म-नज़रिए, उनके प्रति तटस्थता, फ़िर चार ब्रह्मविहार चेतोविमुक्ति के पश्चात अशुभ-नज़रिया व अनित्य-नज़रिए की साधना करने कहा। उसे तत्पश्चात ही **सोलह क़दमों-वाली आनापान** स्मृति साधना सिखाई, जिन्हें आजकल दुर्भाग्यवश भुला दिया गया। सीधे आनापान-साधना पर छलाँग लगानेवाले लोगों में सूक्ष्म नज़रियों के अभाव में चित्त आनापान के लिए अपरिपक्व होता है, और इसलिए उन्हें न आवश्यक सुख मिलता है, न शान्ति, न ही आर्य-फ़ल। दिलचस्पी गवाँकर आख़िर वे ध्यान करना छोड़ देते हैं।

भगवान के मूल आनापान-विधि में समथ और विपस्सना साथ जुड़ी है, जिन्हें विभाजित कर अलग नहीं किया जा सकता। वह ज्ञान विकसित करती है। उसमें साँस को सक्रियता के साथ इस तरह लेना सीखना होता है, ताकि प्रीति-सुख, संस्कार और चित्त महसूस कर, प्रसन्न कर, स्थिर करने पश्चात तब लाँघा जाए।

• **जल के अनुरूप** साधना करो, राहुल। जल के अनुरूप साधना करोगे, तो इंद्रियों पर टकराते प्रिय-अप्रिय स्पर्श तुम्हारे चित्त को वशीभूत न कर पाएँगे।

जैसे लोग जल में पवित्र-वस्तु धोते है, गंदगी भी धोते है—ट्टी मूत्र थूंक पीब या रक्त भी! परंतु जल खौफ़ लज्जा व घिन महसूस नही करती। उसी तरह जब तुम जल के अनुरूप साधना करोगे, तो इंद्रियों पर टकराते प्रिय-अप्रिय स्पर्श तुम्हारे चित्त को वशीभूत न कर पाएँगे।

• **अग्नि के अनुरूप** साधना करो, राहुल। अग्नि के अनुरूप साधना करोगे, तो इंद्रियों पर टकराते प्रिय-अप्रिय स्पर्श तुम्हारे चित्त को वशीभूत न कर पाएँगे।

जैसे लोग अग्नि में पवित्र-वस्तु जलाते है, गंदगी भी जलाते है—ट्टी मूत्र थूंक पीब या रक्त भी! परंतु अग्नि खौफ़ लज्जा व घिन महसूस नही करती। उसी तरह जब तुम अग्नि के अनुरूप साधना करोगे, तो इंद्रियों पर टकराते प्रिय-अप्रिय स्पर्श तुम्हारे चित्त को वशीभूत न कर पाएँगे।

• **वायु के अनुरूप** साधना करो, राहुल। वायु के अनुरूप साधना करोगे, तो इंद्रियों पर टकराते प्रिय-अप्रिय स्पर्श तुम्हारे चित्त को वशीभूत न कर पाएँगे।

जैसे वायु पवित्र-वस्तुएँ छूकर बहती है, गंदगी भी छूकर बहती है—ट्टी मूत्र थूंक पीब या रक्त भी! परंतु वायु खौफ़ लज्जा व घिन महसूस नही करती। उसी तरह जब तुम वायु के अनुरूप साधना करोगे, तो इंद्रियों पर टकराते प्रिय-अप्रिय स्पर्श तुम्हारे चित्त को वशीभूत न कर पाएँगे।

• **आकाश के अनुरूप** साधना करो, राहुल। आकाश के अनुरूप साधना करोगे, तो इंद्रियों पर टकराते प्रिय-अप्रिय स्पर्श तुम्हारे चित्त को वशीभूत न कर पाएँगे।

जैसे आकाश में कुछ स्थापित नही होता! उसी तरह जब तुम आकाश के अनुरूप साधना करोगे, तो इंद्रियों पर टकराते प्रिय-अप्रिय स्पर्श तुम्हारे चित्त को वशीभूत न कर पाएँगे।

• **मेत्ता की साधना** करो, राहुल। मेत्ता की साधना करने पर **दुर्भावना** छूट जाएगी।

• **करुणा की साधना** करो, राहुल। करुणा की साधना करने पर **हिंसक वृत्ति** छूट जाएगी।

• **मुदिता की साधना** करो, राहुल। मुदिता की साधना करने पर **बोरियत** छूट जाएगी।

• **तटस्थता की साधना** करो, राहुल। तटस्थता की साधना करने पर **चिड़चिड़** छूट जाएगी।

• **अनाकर्षक की साधना** करो, राहुल। अनाकर्षक की साधना करने पर **राग** छूट जाएगा।

• **अनित्य नज़रिए की साधना** करो, राहुल। अनित्य नज़रिए की साधना करने पर **'मैं हूँ' अहंभाव** «अस्मिमान» छूट जायेगा।

• **आनापान-स्मृति की साधना** करो, राहुल। आनापान-स्मृति की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। कैसे?

भिक्षु जंगल में, पेड़ तले या ख़ालीगृह जाकर पालथी मारकर, शरीर सीधा रख, स्मरणशील होकर बैठता है। स्मरणशील होकर वह साँस लेता है। स्मरणशील होकर वह साँस छोड़ता है।

«कायानुपस्सना»

• **लंबी-साँस** लेते हुए उसे **पता चलता** «पजानाति» है कि 'मैं लंबी-साँस ले रहा हूँ।' लंबी-साँस छोड़ते हुए पता चलता है कि 'मैं लंबी-साँस छोड़ रहा हूँ।'

• **छोटी-साँस** लेते हुए उसे पता चलता है कि 'मैं छोटी-साँस ले रहा हूँ।' छोटी-साँस छोड़ते हुए पता चलता है कि 'मैं छोटी-साँस छोड़ रहा हूँ।'

• **संपूर्ण शरीर महसूस** करते हुए वह साँस लेना **सीखता** «सिक्खति» है। संपूर्ण शरीर महसूस करते हुए वह साँस छोड़ना सीखता है।

• **कायिक-रचना शान्त** करते हुए वह साँस लेना सीखता है। कायिक-रचना शान्त करते हुए वह साँस छोड़ना सीखता है।

«वेदनानुपस्सना»

• **प्रफुल्लता** महसूस करते हुए वह साँस लेना सीखता है। प्रफुल्लता महसूस करते हुए साँस छोड़ना सीखता है।

• **सुख** महसूस करते हुए साँस लेना सीखता है। सुख महसूस करते हुए साँस छोड़ना सीखता है।

• **चित्त-रचना** महसूस करते हुए साँस लेना सीखता है। चित्त-रचना महसूस करते हुए साँस छोड़ना सीखता है।

• **चित्त-रचना शान्त** करते हुए साँस लेना सीखता है। चित्त-रचना शान्त करते हुए साँस छोड़ना सीखता है।

«चित्तानुपस्सना»

• **चित्त** महसूस करते हुए साँस लेना सीखता है। चित्त महसूस करते हुए साँस छोड़ना सीखता है।

• **चित्त प्रसन्न** करते हुए साँस लेना सीखता है। चित्त प्रसन्न करते हुए साँस छोड़ना सीखता है।

• **चित्त स्थिर** करते हुए साँस लेना सीखता है। चित्त स्थिर करते हुए साँस छोड़ना सीखता है।

• **चित्त विमुक्त** करते हुए साँस लेना सीखता है। चित्त विमुक्त करते हुए साँस छोड़ना सीखता है।

«धम्मानुपस्सना»

• **अनित्य स्वभाव देखते** हुए साँस लेना सीखता है। अनित्य स्वभाव देखते हुए साँस छोड़ना सीखता है।

• **वैराग्य लेते** हुए साँस लेना सीखता है। वैराग्य लेते हुए साँस छोड़ना सीखता है।

• **निरोध करते** हुए साँस लेना सीखता है। निरोध करते हुए साँस छोड़ना सीखता है।

• **त्यागते** हुए साँस लेना सीखता है। त्यागते हुए साँस छोड़ना सीखता है।

राहुल, आनापान-स्मृति की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। इस तरह जब कोई आनापान-स्मृति की साधना करता है, बार-बार करता है, तो अंतिम-साँस छूटते हुए भी उसे पता चलता है। वह अंजान नही रहता।

«मा.नि.६२»

* * *

समथ विपस्सना

दुनिया में यह चार तरह के व्यक्ति पाए जाते है। कौन-से चार?

• किसी व्यक्ति को भीतर से मानस की निश्चलता «चेतोसमथ» प्राप्त होती है, किंतु ऊँचे अन्तर्ज्ञान द्वारा धर्मस्वभाव का अंतर्बोध नही «अधिपञ्ञाधम्मविपस्सनाय»।

• किसी व्यक्ति को ऊँचे अन्तर्ज्ञान द्वारा धर्मस्वभाव का अंतर्बोध प्राप्त होता है, किंतु भीतर से मानस की निश्चलता नही।

• किसी व्यक्ति को न भीतर से मानस की निश्चलता प्राप्त होती है, न ऊँचे अन्तर्ज्ञान द्वारा धर्मस्वभाव का अंतर्बोध ही।

• और किसी व्यक्ति को भीतर से मानस की निश्चलता भी प्राप्त होती है, और ऊँचे अन्तर्ज्ञान द्वारा धर्मस्वभाव का अंतर्बोध भी।

(१) जिस व्यक्ति को भीतर से मानस की निश्चलता प्राप्त हो, किंतु ऊँचे अन्तर्ज्ञान द्वारा धर्मस्वभाव का अंतर्बोध नही—वह ऐसे व्यक्ति के पास जाए जिसे ऊँचे अन्तर्ज्ञान द्वारा धर्मस्वभाव का अंतर्बोध प्राप्त हो, और पूछे—'रचनाओं को कैसे देखें? रचनाओं को कैसे जाँचें? रचनाओं का कैसे अंतर्बोध करें?"

तब अगले व्यक्ति ने स्वयं जैसे देखा हो, महसूस किया हो, उस तरह उत्तर देगा—'रचनाओं को इस तरह देखें। रचनाओं को इस तरह जाँचें। रचनाओं का इस तरह अंतर्बोध करें।"

तब वह [सुनकर, साधना कर] अंततः ऐसा व्यक्ति बन जाएगा—जिसे भीतर से मानस की निश्चलता भी प्राप्त हो, ऊँचे अन्तर्ज्ञान द्वारा धर्मस्वभाव का अंतर्बोध भी।

(२) जिस व्यक्ति को ऊँचे अन्तर्ज्ञान द्वारा धर्मस्वभाव का अंतर्बोध प्राप्त हो, किंतु भीतर से मानस की निश्चलता नही—वह ऐसे व्यक्ति के पास जाए जिसे भीतर से मानस की निश्चलता प्राप्त हो, और पूछे—'चित्त को स्थिर कैसे करें? चित्त को स्थित कैसे करें? चित्त को एकाग्र कैसे करें? चित्त को समाहित कैसे करें?"

तब अगले व्यक्ति ने स्वयं जैसे देखा हो, महसूस किया हो, उस तरह उत्तर देगा—'चित्त को इस तरह स्थिर करें। चित्त को इस तरह स्थित करें। चित्त को इस तरह एकाग्र करें। चित्त को इस तरह समाहित करें।"

तब वह [सुनकर, साधना कर] अंततः ऐसा व्यक्ति बन जाएगा—जिसे ऊँचे अन्तर्ज्ञान द्वारा धर्मस्वभाव का अंतर्बोध भी प्राप्त हो, भीतर से मानस की निश्चलता भी।

(३) जिस व्यक्ति को न भीतर से मानस की निश्चलता प्राप्त हो, न ही ऊँचे अन्तर्ज्ञान द्वारा धर्मस्वभाव का अंतर्बोध—वह ऐसे व्यक्ति के पास जाए जिसे भीतर से मानस की निश्चलता भी प्राप्त हो, और ऊँचे अन्तर्ज्ञान द्वारा धर्मस्वभाव का अंतर्बोध भी, और पूछे—'चित्त को स्थिर कैसे करें? चित्त को स्थित कैसे करें? चित्त को एकाग्र कैसे करें? चित्त को समाहित कैसे करें? और रचनाओं को कैसे देखें? रचनाओं को कैसे जाँचें? रचनाओं का कैसे अंतर्बोध करें?"

तब अगले व्यक्ति ने स्वयं जैसे देखा हो, महसूस किया हो, उस तरह उत्तर देगा—'चित्त को इस तरह स्थिर करें। चित्त को इस तरह स्थित करें। चित्त को इस तरह एकाग्र करें। चित्त को इस तरह समाहित करें। और रचनाओं को इस तरह देखें। रचनाओं को इस तरह जाँचें। रचनाओं का इस तरह अंतर्बोध करें।"

तब वह [सुनकर, साधना कर] अंततः ऐसा व्यक्ति बन जाएगा—जिसे भीतर से मानस की निश्चलता भी प्राप्त हो, ऊँचे अन्तर्ज्ञान द्वारा धर्मस्वभाव का अंतर्बोध भी।

(४) और जिस व्यक्ति को भीतर से मानस की निश्चलता भी प्राप्त हो, और ऊँचे अन्तर्ज्ञान द्वारा धर्मस्वभाव का अंतर्बोध भी—उसका कर्तव्य है कि वह बहाव थामने के लिए उन कुशल धर्मस्वभावों को ऊँचा उठाकर स्थापित करने का प्रयास करें।

«अं.नि.४:९४»

* * *

आनंद भन्ते —

मित्रों, मेरी उपस्थिति में जब कोई भिक्षु या भिक्षुणी अरहन्तपद प्राप्ति की घोषणा करते है, चार में से किसी एक के ज़रिए करते है। कौन से चार?

(१) कोई भिक्षु अंतर्बोधपूर्व **निश्चलता विकसित** करता है। जब अंतर्बोधपूर्व निश्चलता विकसित करें—तब मार्ग जन्म लेता है। उस मार्गपर वह चलता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है। जब उस मार्गपर वह चलता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है, तब उसके बंधन «संयोजन» टूट जाते है, सुप्त-अवस्था «अनुसय» समाप्त हो जाती है।

(२) कोई भिक्षु निश्चलतापूर्व **अंतर्बोध विकसित** करता है। जब निश्चलतापूर्व अंतर्बोध विकसित करें—तब मार्ग जन्म लेता है। उस मार्गपर वह चलता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है। जब उस मार्गपर वह चलता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है, तब उसके बंधन टूट जाते है, सुप्त-अवस्था समाप्त हो जाती है।

(३) कोई भिक्षु निश्चलता व अंतर्बोध दोनों जोड़कर विकसित करता है। जब निश्चलता व अंतर्बोध जोड़कर विकसित करें—तब मार्ग जन्म लेता है। उस मार्गपर वह चलता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है। जब उस मार्गपर वह चलता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है, तब उसके बंधन टूट जाते है, सुप्त-अवस्था समाप्त हो जाती है।

(४) और किसी भिक्षु के मानस में 'धर्म की बेचैनी'# काबू में होती है। और एक समय आता है जब उसका चित्त भीतर से स्थिर हो जाता है, स्थित हो जाता है, एकाग्र हो जाता है, समाहित हो जाता है—तब मार्ग जन्म लेता है। उस मार्गपर वह चलता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है। जब उस मार्गपर वह चलता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है, तब उसके बंधन टूट जाते है, सुप्त-अवस्था समाप्त हो जाती है।

मेरी उपस्थिति में जब कोई भिक्षु या भिक्षुणी अरहन्तपद प्राप्ति की घोषणा करते है, इन चार में से किसी एक के ज़रिए करते है।

«अं.नि.४:१७०»

★★★

अट्ठकथा के अनुसार इसका अर्थ है: अंतर्बोध धूमिल होना।

चतु पटिपदा

१२

दुक्खा पटिपदा

~ जलधातु व वायुधातु प्रभुतावाले लोगों की अतिआवश्यक साधनाएँ ~

चतु पटिपदा

चार प्रगतिपथ होते है, भिक्षुओं—

- कष्टपूर्ण प्रगतिपथ मंद विशिष्ट-ज्ञान,
- कष्टपूर्ण प्रगतिपथ शीघ्र विशिष्ट-ज्ञान,
- सुखपूर्ण प्रगतिपथ मंद विशिष्ट-ज्ञान, तथा
- सुखपूर्ण प्रगतिपथ शीघ्र विशिष्ट-ज्ञान।

(१) यह «दुक्खा पटिपदा दन्धाभिञ्ञा» **कष्टपूर्ण प्रगतिपथ मंद विशिष्ट-ज्ञान** क्या है?

कोई व्यक्ति सामान्यतः तीव्र रागपूर्ण स्वभाव का होता है, तो वह राग से उत्पन्न दर्द-परेशानी निरंतर महसूस करता है। या वह सामान्यतः तीव्र द्वेषपूर्ण स्वभाव का होता है, तो वह द्वेष से उत्पन्न दर्द—परेशानी निरंतर महसूस करता है। या वह सामान्यतः तीव्र मोहपूर्ण स्वभाव का होता है, तो वह मोह से उत्पन्न दर्द—परेशानी निरंतर महसूस करता है। [=जलधातु प्रभुतावाले व्यक्ति]

तब वह निरंतर «असुभानुपस्सी काये विहरति» काया का अनाकर्षक-पहलु देखते हुए रहता है। «आहारे पटिकूलसञ्ञी» आहार के प्रति प्रतिकूल नज़रियेवाला होता है। «सब्बलोके अनभिरतिसञ्ञी» सभी लोक के प्रति निरस नज़रियेवाला होता है। «सब्बसङ्खारेसु अनिच्चानुपस्सी» सभी रचनाओं का अनित्य-पहलू देखते हुए रहता है। तथा उसमें मौत-नज़रिया «मरणसञ्ञा» भलीभांति प्रतिष्ठित होता है।

वह सीखते व्यक्ति «सेक्ख» के **पाँच बल** का निश्चय लेकर रहता है—श्रद्धाबल लज्जाबल फ़िक्रबल ऊर्जाबल व अन्तर्ज्ञानबल।

परंतु उसके **पाँच इंद्रिय**—श्रद्धाइंद्रिय ऊर्जाइंद्रिय स्मृतिइंद्रिय समाधिइंद्रिय व अन्तर्ज्ञानइंद्रिय—**दुर्बल**तापूर्वक प्रकट होते है। उस दुर्बलता की वजह से वह बहाव थमने की ओर **धीमे** पहुँचता है।

— इसे कहते है कष्टपूर्ण प्रगतिपथ मंद विशिष्ट-ज्ञान।

(२) और यह «दुक्खा पटिपदा खिप्पाभिञ्ञा» **कष्टपूर्ण प्रगतिपथ शीघ्र विशिष्ट-ज्ञान** क्या है?

कोई व्यक्ति सामान्यतः तीव्र रागपूर्ण स्वभाव का होता है, तो वह राग से उत्पन्न दर्द—परेशानी निरंतर महसूस करता है। या वह सामान्यतः तीव्र द्वेषपूर्ण स्वभाव का होता है, तो वह द्वेष से उत्पन्न दर्द—परेशानी निरंतर महसूस करता है। या वह सामान्यतः तीव्र मोहपूर्ण स्वभाव का होता है, तो वह मोह से उत्पन्न दर्द—परेशानी निरंतर महसूस करता है। [=वायुधातु प्रभुतावाले व्यक्ति]

तब वह निरंतर काया का अनाकर्षक-पहलु देखते हुए रहता है। आहार के प्रति प्रतिकूल नज़रियेवाला होता है। सभी लोक के प्रति निरस नज़रियेवाला होता है। सभी रचनाओं का अनित्य-पहलू देखते हुए रहता है। तथा उसमें मौत-नज़रिया भलीभांति प्रतिष्ठित होता है।

वह सीखते व्यक्ति के **पाँच बल** का निश्चय लेकर रहता है—श्रद्धाबल लज्जाबल फ़िक्रबल ऊर्जाबल व अन्तर्ज्ञानबल।

परंतु उसके **पाँच इंद्रिय**—श्रद्धाइंद्रिय ऊर्जाइंद्रिय स्मृतिइंद्रिय समाधिइंद्रिय व अन्तर्ज्ञानइंद्रिय—**तीव्र**ता से प्रकट होते है। उस तीव्रता की वजह से वह बहाव थमने की ओर **शीघ्र** पहुँचता है।

— इसे कहते है कष्टपूर्ण प्रगतिपथ शीघ्र विशिष्ट-ज्ञान।

(३) और यह «सुखा पटिपदा दन्धाभिञ्ञा» **सुखपूर्ण प्रगतिपथ मंद विशिष्ट-ज्ञान** क्या है?

कोई व्यक्ति सामान्यतः तीव्र रागपूर्ण स्वभाव का नही होता, तो वह राग से उत्पन्न दर्द—परेशानी निरंतर महसूस नही करता। या वह सामान्यतः तीव्र द्वेषपूर्ण स्वभाव का नही होता, तो वह द्वेष से उत्पन्न दर्द—परेशानी निरंतर महसूस नही करता। या वह सामान्यतः तीव्र मोहपूर्ण स्वभाव का नही होता, तो वह मोह से उत्पन्न दर्द—परेशानी निरंतर महसूस नही करता। [=पृथ्वीधातु प्रभुतावाले व्यक्ति]

तब वह काम से निर्लिप्त, अकुशल स्वभाव से निर्लिप्त—सोच व विचार के साथ निर्लिप्तता से जन्मे प्रफुल्लता व सुखवाले **प्रथम-ध्यान** में प्रवेश कर रहता है। फ़िर आगे सोच व विचार रुक जानेपर भीतर आश्वस्त हुआ मानस एकरस होकर बिना-सोच बिना-विचार, समाधि से जन्मे प्रफुल्लता व सुखवाले **द्वितीय-ध्यान** में प्रवेश कर रहता है। तब आगे वह प्रफुल्लता से विरक्ति ले, स्मरणशील सचेतता के साथ तटस्थता धारणकर शरीर से सुख महसूस करता है। जिसे आर्यजन 'तटस्थ स्मरणशील सुखविहारी' कहते है—वह उस **तृतीय-ध्यान** में प्रवेश कर रहता है। आगे वह

सुख दर्द दोनों हटाकर, खुशी व परेशानी पूर्व ही विलुप्त होने से अब नसुख-नदर्दवाले, तटस्थता व स्मरणशीलता की परिशुद्धता के साथ **चतुर्थ-झान** में प्रवेश कर रहता है।

वह सीखते व्यक्ति के **पाँच बल** का निश्चय लेकर रहता है—श्रद्धाबल लज्जाबल फ़िक्रबल ऊर्जाबल व अन्तर्ज्ञानबल।

परंतु उसके **पाँच इंद्रिय**—श्रद्धाइंद्रिय ऊर्जाइंद्रिय स्मृतिइंद्रिय समाधिइंद्रिय व अन्तर्ज्ञानइंद्रिय—**दुर्बल**तापूर्वक प्रकट होते है। उस दुर्बलता की वजह से वह बहाव थमने की ओर **धीमे** पहुँचता है।

— इसे कहते है सुखपूर्ण प्रगतिपथ मंद विशिष्ट-ज्ञान।

(४) और यह «सुखा पटिपदा खिप्पाभिञ्ञा» **सुखपूर्ण प्रगतिपथ शीघ्र विशिष्ट-ज्ञान** क्या है?

कोई व्यक्ति सामान्यतः तीव्र-रागपूर्ण स्वभाव का नही होता—वह निरंतर राग से उत्पन्न दर्द—परेशानी महसूस नही करता। या वह सामान्यतः तीव्र-द्वेषपूर्ण स्वभाव का नही होता—वह निरंतर द्वेष से उत्पन्न दर्द—परेशानी महसूस नही करता। या वह सामान्यतः तीव्र-मोहपूर्ण स्वभाव का नही होता—वह निरंतर मोह से उत्पन्न दर्द—परेशानी महसूस नही करता। [=अग्निधातु प्रभुतावाले व्यक्ति]

तब वह काम से निर्लिप्त, अकुशल स्वभाव से निर्लिप्त—सोच व विचार के साथ निर्लिप्तता से जन्मे प्रफुल्लता व सुखवाले **प्रथम-झान** में प्रवेश कर रहता है। फ़िर आगे सोच व विचार रुक जानेपर भीतर आश्वस्त हुआ मानस एकरस होकर बिना-सोच बिना-विचार, समाधि से जन्मे प्रफुल्लता व सुखवाले **द्वितीय-झान** में प्रवेश कर रहता है। तब आगे वह प्रफुल्लता से विरक्ति ले, स्मरणशील सचेतता के साथ तटस्थता धारणकर शरीर से सुख महसूस करता है। जिसे आर्यजन 'तटस्थ स्मरणशील सुखविहारी' कहते है—वह उस **तृतीय-झान** में प्रवेश कर रहता है। आगे वह सुख दर्द दोनों हटाकर, खुशी व परेशानी पूर्व ही विलुप्त होने से अब नसुख-नदर्दवाले, तटस्थता व स्मरणशीलता की परिशुद्धता के साथ **चतुर्थ-झान** में प्रवेश कर रहता है।

वह सीखते व्यक्ति के **पाँच बल** का निश्चय लेकर रहता है—श्रद्धाबल लज्जाबल फ़िक्रबल ऊर्जाबल व अन्तर्ज्ञानबल।

परंतु उसके **पाँच इंद्रिय**—श्रद्धाइंद्रिय ऊर्जाइंद्रिय स्मृतिइंद्रिय समाधिइंद्रिय व अन्तर्ज्ञानइंद्रिय—**तीव्र**ता से प्रकट होते है। उस तीव्रता की वजह से वह बहाव थमने की ओर **शीघ्र** पहुँचता है।

— इसे कहते है सुखपूर्ण प्रगतिपथ शीघ्र विशिष्ट-ज्ञान।

«अं.नि.४:१६२»

* * *

[भन्ते सारिपुत्त और भन्ते महामोग्गलान की आपसी पूछताछ:]

मित्र मोग्गलान, इन चार में से किस प्रगतिपथ पर चलकर तुमने चित्त को बहावों से मुक्त कर आधारमुक्ति पायी?

— मित्र सारिपुत्त, इन चार में से [द्वितीय] 'कष्टपूर्ण प्रगतिपथ शीघ्र विशिष्ट-ज्ञान' प्रगतिपथ पर चलकर मैंने चित्त को बहावों से मुक्त कर आधारमुक्ति पायी।... और तुमने किस प्रगतिपथ पर चलकर चित्त को बहावों से मुक्त कर आधारमुक्ति पायी?

— मित्र मोग्गलान, मैंने [चतुर्थ] 'सुखपूर्ण प्रगतिपथ शीघ्र विशिष्ट-ज्ञान' प्रगतिपथ पर चलकर चित्त को बहावों से मुक्त कर आधारमुक्ति पायी।

«अं.नि.४:१६७ + ४:१६८»

* * *

दुक्खा पटिपदा

असुभानुपस्सी काये विहरति —

भिक्षुओं, अनाकर्षक-नज़रिए की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है। कैसे भिक्षु काया में बदसूरती देखने की साधना करता है?

भिक्षु काया को लेकर इस तरह मनन करता है —

अयं खो मे कायो
मेरी यह काया,
उद्धं पादतला
पैर तल से ऊपर,
अधो केस मत्थका
माथे के केश से नीचे,
तच परियन्तो
त्वचा से ढ़की,
पूरो नानप्पकारस्स असुचिनो!
नाना प्रकार की गंदगियों से भरी है!
अत्थि इमस्मिं काये:
मेरी इस काया में है:
केसा लोमा नखा दन्ता तचो
केश लोम नाखून दाँत त्वचा
मंसं न्हारु अट्ठी अट्ठिमिञ्जं वक्कं
माँस नसें हड्डी हड्डीमज्जा तिल्ली

हदयं यकनं किलोमकं पिहकं पप्फासं
हृदय कलेजा झिल्ली गुर्दा फेफड़ा
अन्तं अन्तगुणं उदरियं करीसं मत्थलुङ्गं
आँत छोटी-आँत उदर टट्टी मस्तिष्क
पित्तं सेम्हं पुब्बो लोहितं सेदो मेदो
पित्त कफ पीब रक्त पसीना चर्बी
अस्सु वसा खेळो सिङ्घाणिका लसिका मुत्तं!
आँसू तेल थूक बलगम जोड़ो में तरल, एवं मूत्र।
एवं अयं मे कायो
ऐसी है मेरी काया।
उद्धं पादतला
पैर के तल से ऊपर,
अधो केस मत्थका
माथे के केश से नीचे,
तच परियन्तो
त्वचा तक सीमित,
पूरो नानप्पकारस्स असुचिनो!
नाना प्रकार की गंदगियों से भरी है!

— इस तरह भिक्षु काया में गंदगी देखते हुए रहता है। यह 'अनाकर्षक-नज़रिया' कहलाता है।

अनाकर्षक-नज़रिए की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है।

जब कोई अनाकर्षक-नज़रिए में डूबा रहे, तब **मैथुन-कर्म की सोच** मात्र से उसका चित्त दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता; बल्कि तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाता है।

जैसे मुर्ग़े का पँख या स्नायु का टुकड़ा आग में डाल दे, तो वह दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता। उसी तरह जब कोई अनाकर्षक-नज़रिए में डूबा रहे, तब मैथुन-कर्म की सोच मात्र से उसका चित्त दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता; बल्कि तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाता है।

किंतु कोई अनाकर्षक-नज़रिए में डूबा रहने पर भी मैथुन-कर्म की सोच से आकर्षित होता हो, या उसमें घिन-भाव न उपस्थित हो—तब वह समझ ले कि 'मैं अनाकर्षक-नज़रिया विकसित नही कर पाया। मुझमें क्रमानुसार बदलाव नही आया। मैंने साधना का फ़ल नही पाया।' इस तरह वह सचेत हो जाए।

किंतु कोई अनाकर्षक-नज़रिए में डूबा रहे, और मैथुन-कर्म की सोच मात्र से उसका चित्त दूर सिकुड़े, विपरीत झुके, पीछे हटे, खिंचा न चला जाए; बल्कि तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाए, तब वह समझ ले कि 'मैंने अनाकर्षक-नज़रिया विकसित कर लिया। मुझमें क्रमानुसार बदलाव आ गया। मैंने साधना का फ़ल पा लिया।' इस तरह वह सचेत हो जाए।

अनाकर्षक-नज़रिए की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है—ऐसा कहा गया था, जो इस बारे में था।

«अं.नि.१०:६० + अं.नि.७:४६»

* * *

आहारे पटिकूलसञ्ञी

भिक्षुओं, आहार-प्रतिकूल नज़रिए की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है। और कैसे भिक्षु आहार-प्रतिकूल नज़रिए की साधना करता है?

चार आहार होते हैं—अस्तित्व पाए सत्वों को पालने के लिए, अथवा जन्म ढूँढते सत्वों को आधार देने के लिए। कौन-से चार? स्थूल या सूक्ष्म भौतिक-आहार, दूसरा संपर्क, तीसरा मनोसंचेतना, तथा चौथा चैतन्यता।

(१) **भौतिक-आहार** के प्रति कैसा भाव होना चाहिए?

कल्पना करो कि पति-पत्नी की जोड़ी कुछ भोजन बाँधकर रेगिस्तान से गुज़र रही हो। साथ इकलौता पुत्र हो—नवजात प्रिय व आकर्षक। तब उनका भोजन समाप्त हो जाए, किंतु रेगिस्तान का एक हिस्सा पार करना रह जाए। तब वे सोचे—'हमारा भोजन समाप्त हो गया, किंतु रेगिस्तान का एक हिस्सा पार करना रह गया। क्या हो जो हम अपने इकलौते पुत्र को मार दे, और उसका माँस सुखाकर खाए। हो सकता है हम पति-पत्नी पुत्र-माँस खाकर रेगिस्तान के बचे हिस्से से जीवित निकल पाए। वरना हम तीनों नहीं बचेंगे!'

तब वह अपने इकलौते पुत्र—नवजात प्रिय व आकर्षक, को मार देते है, और उसका माँस सुखाकर खाते है। पुत्र-माँस चबाते हुए वे छाती पीटते है—'ओह! हमारे पुत्र, कहाँ चले गए? ओह! हमारे इकलौते पुत्र, कहाँ चले गए?"

तो क्या लगता है भिक्षुओं? क्या वे पति-पत्नी उस भोजन को मज़े के लिए, या मदहोशी के लिए, या सुडौलता के लिए, या सौंदर्य के लिए खायेंगे?

'नही, भन्ते।"

क्या वे उस भोजन को मात्र रेगिस्तान से जीवित बच निकलने के लिए ही नही खायेंगे?

'हाँ, भन्ते।"

उसी तरह का भाव, मैं कहता हूँ भिक्षुओं, भौतिक आहार के प्रति होना चाहिए!

जैसे रंग लाख हल्दी नील या लालिमा हो—तभी कोई चित्रकार फ़लक दीवार या कपड़े पर सभी अंगप्रत्यंगों वाला स्त्रीचित्र या पुरुषचित्र रंग पाता है। उसी तरह जहाँ भौतिक आहार के लिए **दिलचस्पी, मज़ा व तृष्णा** हो, वहाँ **चैतन्यता** पड़कर बढ़ने लगती है। जहाँ चैतन्यता पड़कर बढ़ने लगे, वहाँ **नाम-रूप** प्रज्वलित होता है। जहाँ नाम-रूप प्रज्वलित हो, वहाँ **रचनाओं** की वृद्धि होने लगती है। जहाँ रचनाओं की वृद्धि होने लगे, वहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन होने लगता है। और जहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन होने लगे, वहाँ मैं कहता हूँ—भविष्य में जन्म बुढ़ापा मौत के साथ-साथ शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा भी पीछे लग जाती है।

किंतु, जैसे किसी छतवाले निवास या कक्ष के उत्तर, दक्षिण या पूर्व दिशा में खिड़की हो। जब सूरज उगे, और सूर्यकिरण खिड़की से होकर भीतर प्रवेश करें, तब वह कहाँ पड़ेगी?

'पश्चिमी दीवार पर, भन्ते!"

यदि पश्चिमी दीवार न रहे, तब कहाँ पड़ेगी?

'जमीन पर, भन्ते!"

यदि जमीन न रहे, तब कहाँ पड़ेगी?

'जल पर, भन्ते!"

और, यदि जल भी न रहे, तब कहाँ पड़ेगी?

'तब कही नहीं, भन्ते!

उसी तरह जहाँ भौतिक आहार के लिए **न दिलचस्पी, न मज़ा, न तृष्णा** हो, वहाँ **चैतन्यता** न पड़कर बढ़ने नहीं लगती। जहाँ चैतन्यता न पड़े, न बढ़ने लगे, वहाँ **नाम-रूप** प्रज्वलित नहीं होता। जहाँ नाम-रूप प्रज्वलित न हो, वहाँ **रचनाओं** की वृद्धि नहीं होती। जहाँ रचनाओं की वृद्धि न हो, वहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन नहीं होता। और जहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन न हो, वहाँ भविष्य में जन्म बुढ़ापा मौत नहीं होती। उसे मैं कहता हूँ—तब शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा नहीं होती।

जब भौतिक आहार का मूलस्वरूप पता चले, तब **पाँच कामगुण के प्रति दिलचस्पी** पता चलती है। जब पाँच कामगुण के प्रति दिलचस्पी पता चले, तब कोई बंधन नही बचता, जिस वजह भिक्षु दुबारा इस [काम] लोक लौट आए। [=अनागामीफ़ल]

(२) और **संपर्क-आहार** के प्रति कैसा भाव होना चाहिए?

कल्पना करो कि एक गाय, चमड़ी उधेड़ी हुई, दीवार से सटकर खड़ी हो—तब दीवार के जीवजंतु [उसका उधेड़ा माँस] चबाने टूट पड़े। वह पेड़ से सटकर खड़ी हो, तब पेड़ के जीवजंतु चबाने

टूट पड़े। वह जलाशय से सटकर खड़ी हो, तब जलाशय के जीवजंतु चबाने टूट पड़े। वह खुली हवा में खड़ी हो, तब हवा के जीवजंतु चबाने टूट पड़े। वह चमड़ी उधेड़ी गाय जहाँ-जहाँ खड़ी हो, वहाँ-वहाँ के जीवजंतु चबाने टूट पड़े।

उसी तरह का भाव, मैं कहता हूँ भिक्षुओं, [इंद्रिय] संपर्क-आहार के प्रति होना चाहिए!

जैसे रंग लाख हल्दी नील या लालिमा हो—तभी कोई चित्रकार फ़लक दीवार या कपड़े पर सभी अंगप्रत्यंगों वाला स्त्रीचित्र या पुरुषचित्र रंग पाता है। उसी तरह जहाँ संपर्क-आहार के लिए **दिलचस्पी, मज़ा व तृष्णा** हो, वहाँ **चैतन्यता** पड़कर बढ़ने लगती है। जहाँ चैतन्यता पड़कर बढ़ने लगे, वहाँ **नाम-रूप** प्रज्वलित होता है। जहाँ नाम-रूप प्रज्वलित हो, वहाँ **रचनाओं** की वृद्धि होने लगती है। जहाँ रचनाओं की वृद्धि होने लगे, वहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन होने लगता है। और जहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन होने लगे, वहाँ मैं कहता हूँ—भविष्य में जन्म बुढ़ापा मौत के साथ-साथ शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा भी पीछे लग जाती है।

किंतु, जैसे किसी छतवाले निवास या कक्ष के उत्तर, दक्षिण या पूर्व दिशा में खिड़की हो। जब सूरज उगे, और सूर्यकिरण खिड़की से होकर भीतर प्रवेश करें, तब वह कहाँ पड़ेगी?

‘पश्चिमी दीवार पर, भन्ते!”

यदि पश्चिमी दीवार न रहे, तब कहाँ पड़ेगी?

‘जमीन पर, भन्ते!”

यदि जमीन न रहे, तब कहाँ पड़ेगी?

‘जल पर, भन्ते!”

और, यदि जल भी न रहे, तब कहाँ पड़ेगी?

‘तब कही नहीं, भन्ते!

उसी तरह जहाँ [इंद्रिय] संपर्क-आहार के लिए **न दिलचस्पी, न मज़ा, न तृष्णा** हो, वहाँ **चैतन्यता** न पड़कर बढ़ने नहीं लगती। जहाँ चैतन्यता न पड़े, न बढ़ने लगे, वहाँ **नाम-रूप** प्रज्वलित नहीं होता। जहाँ नाम-रूप प्रज्वलित न हो, वहाँ **रचनाओं** की वृद्धि नहीं होती। जहाँ रचनाओं की वृद्धि न हो, वहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन नहीं होता। और जहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन न हो, वहाँ भविष्य में जन्म बुढ़ापा मौत नहीं होती। उसे मैं कहता हूँ—तब शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा नहीं होती।

जब संपर्क-आहार का मूलस्वरुप पता चले, तब **तीन संवेदनाएँ** [सुख, दर्द और नसुख-नदर्द] पता चलती है। जब तीन संवेदनाएँ मूलस्वरुप में पता चले, तब आगे कुछ करने के लिए शेष नही बचता। [=अरहन्तफ़ल]

(३) और **मनोसंचेतना आहार** के प्रति कैसा भाव होना चाहिए?

कल्पना करो कि एक अंगारे भरा गड्ढा हो—पुरुष-लंबाई से गहरा, न लपटे न धुँवा फेकते अंगारों से धधकता हुआ। तब एक पुरुष आए, जिसे अपने प्राण प्यारे हो, मौत से नफ़रत; जिसे सुख की चाह हो, दर्द से घृणा। तब दो बलवान पुरुष आए, और उसकी बाँह पकड़कर घसीटते हुए उसे अंगारेभरे गड्ढे तक लाए।

उस पुरुष की चेतना होगी—दूर हट जाना। उसकी इच्छा होगी—दूर हट जाना। उसकी अभिलाषा होगी—दूर हट जाना। क्यो? क्योंकि वह सोचेगा—'यदि मैं इस अंगारेभरे गड्ढे में गिर जाऊ, तो उस कारणवश मेरी मौत होगी, या मौत जैसी पीड़ा।'

उसी तरह का भाव, मैं कहता हूँ भिक्षुओं, मनोसंचेतना-आहार के प्रति होना चाहिए।

जैसे रंग लाख हल्दी नील या लालिमा हो—तभी कोई चित्रकार फ़लक दीवार या कपड़े पर सभी अंगप्रत्यंगों वाला स्त्रीचित्र या पुरुषचित्र रंग पाता है। उसी तरह जहाँ मनोसंचेतना-आहार के लिए **दिलचस्पी, मज़ा व तृष्णा** हो, वहाँ **चैतन्यता** पड़कर बढ़ने लगती है। जहाँ चैतन्यता पड़कर बढ़ने लगे, वहाँ **नाम-रूप** प्रज्वलित होता है। जहाँ नाम-रूप प्रज्वलित हो, वहाँ **रचनाओं** की वृद्धि होने लगती है। जहाँ रचनाओं की वृद्धि होने लगे, वहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन होने लगता है। और जहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन होने लगे, वहाँ मैं कहता हूँ—भविष्य में जन्म बुढ़ापा मौत के साथ-साथ शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा भी पीछे लग जाती है।

किंतु, जैसे किसी छतवाले निवास या कक्ष के उत्तर, दक्षिण या पूर्व दिशा में खिड़की हो। जब सूरज उगे, और सूर्यकिरण खिड़की से होकर भीतर प्रवेश करें, तब वह कहाँ पड़ेगी?

'पश्चिमी दीवार पर, भन्ते!"

यदि पश्चिमी दीवार न रहे, तब कहाँ पड़ेगी?

'जमीन पर, भन्ते!"

यदि जमीन न रहे, तब कहाँ पड़ेगी?

'जल पर, भन्ते!"

और, यदि जल भी न रहे, तब कहाँ पड़ेगी?

'तब कही नहीं, भन्ते!

उसी तरह जहाँ मनोसंचेतना-आहार के लिए **न दिलचस्पी, न मज़ा, न तृष्णा** हो, वहाँ **चैतन्यता** न पड़कर बढ़ने नहीं लगती। जहाँ चैतन्यता न पड़े, न बढ़ने लगे, वहाँ **नाम-रूप** प्रज्वलित नहीं होता। जहाँ नाम-रूप प्रज्वलित न हो, वहाँ **रचनाओं** की वृद्धि नहीं होती। जहाँ रचनाओं की वृद्धि न हो, वहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन नहीं होता। और जहाँ आगे भविष्यकाल के लिए

अस्तित्व का पुनरुत्पादन न हो, वहाँ भविष्य में जन्म बुढ़ापा मौत नहीं होती। उसे मैं कहता हूँ—तब शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा नहीं होती।

जब मनोसंचेतना-आहार का मूलस्वरूप पता चले, तब **तीन तरह की तृष्णाएँ** [कामतृष्णा, अस्तित्वतृष्णा और अनस्तित्वतृष्णा] पता चलती हैं। जब तीन तरह की तृष्णाएँ मूलस्वरूप में पता चले, तब आगे कुछ करने के लिए शेष नही बचता।

(४) **चैतन्यता-आहार** के प्रति कैसा भाव होना चाहिए?

कल्पना करो कि कोई चोर पकड़ा जाए और राजा के आगे पेश किया जाए। [सैनिक कहें:] 'यह अपराधी चोर है, महाराज! आपको जो उचित लगे, दंड दे।"

तब राजा कहता है—'सैनिकों, इसे ले जाओ! सुबह इसे सौ भाले भोंको!" तब उसे सुबह सौ भाले भोंक दिया जाता है।

राजा दोपहर को पूछे—'सैनिकों, क्या हाल है उसका?"

'अब भी जीवित है, महाराज!"

'जाओ, दोपहर को इसे सौ भाले भोंको!" तब उसे दोपहर को सौ भाले भोंक दिया जाता है।

राजा शाम को पूछे—'सैनिकों, क्या हाल है उसका?"

'अब भी जीवित है, महाराज!"

'जाओ, शाम को इसे सौ भाले भोंको!" तब उसे शाम को सौ भाले भोंक दिया जाता है।

— तो क्या लगता है भिक्षुओं? इस तरह **तीन सौ भाले** भोंक दिए जानेपर क्या उसे उस कारणवश दर्द-पीड़ा होगी?

'भन्ते। यदि मात्र एक भाला भोंक दिया जाए, तो उस कारणवश उसे भयंकर दर्द-पीड़ा होगी। तीन सौ भालों का कहना ही क्या!"

उसी तरह का भाव, मैं कहता हूँ भिक्षुओं, चैतन्यता-आहार के प्रति होना चाहिए!

जैसे रंग लाख हल्दी नील या लालिमा हो—तभी कोई चित्रकार फ़लक दीवार या कपड़े पर सभी अंगप्रत्यंगों वाला स्त्रीचित्र या पुरुषचित्र रंग पाता है। उसी तरह जहाँ चैतन्यता-आहार के लिए **दिलचस्पी, मज़ा व तृष्णा** हो, वहाँ **चैतन्यता** पड़कर बढ़ने लगती है। जहाँ चैतन्यता पड़कर बढ़ने लगे, वहाँ **नाम-रूप** प्रज्वलित होता है। जहाँ नाम-रूप प्रज्वलित हो, वहाँ **रचनाओं** की वृद्धि होने लगती है। जहाँ रचनाओं की वृद्धि होने लगे, वहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन होने लगता है। और जहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन होने लगे, वहाँ मैं कहता हूँ—भविष्य में जन्म बुढ़ापा मौत के साथ-साथ शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा भी पीछे लग जाती है।

किंतु, जैसे किसी छतवाले निवास या कक्ष के उत्तर, दक्षिण या पूर्व दिशा में खिड़की हो। जब सूरज उगे, और सूर्यकिरण खिड़की से होकर भीतर प्रवेश करें, तब वह कहाँ पड़ेगी?

'पश्चिमी दीवार पर, भन्ते!"

यदि पश्चिमी दीवार न रहे, तब कहाँ पड़ेगी?

'जमीन पर, भन्ते!"

यदि जमीन न रहे, तब कहाँ पड़ेगी?

'जल पर, भन्ते!"

और, यदि जल भी न रहे, तब कहाँ पड़ेगी?

'तब कही नहीं, भन्ते!

उसी तरह जहाँ चैतन्यता-आहार के लिए **न दिलचस्पी, न मज़ा, न तृष्णा** हो, वहाँ **चैतन्यता** न पड़कर बढ़ने नहीं लगती। जहाँ चैतन्यता न पड़े, न बढ़ने लगे, वहाँ **नाम-रूप** प्रज्वलित नहीं होता। जहाँ नाम-रूप प्रज्वलित न हो, वहाँ **रचनाओं** की वृद्धि नहीं होती। जहाँ रचनाओं की वृद्धि न हो, वहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन नहीं होता। और जहाँ आगे भविष्यकाल के लिए **अस्तित्व** का पुनरुत्पादन न हो, वहाँ भविष्य में जन्म बुढ़ापा मौत नहीं होती। उसे मैं कहता हूँ—तब शोक विलाप दर्द व्यथा व निराशा नहीं होती।

जब चैतन्यता-आहार का मूलस्वरूप पता चले, तब **नाम-रूप** पता चलता है। जब नाम-रूप मूलस्वरूप में पता चले, तब कुछ करने के लिए आगे शेष नही बचता।

जब कोई आहार-प्रतिकूल नज़रिए में डूबा रहे, तब **स्वाद के प्रति तृष्णा** मात्र से उसका चित्त दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता; बल्कि वह तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाता है।

जैसे मुर्ग़े का पँख या स्नायु का टुकड़ा आग में डाल दे, तो वह दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता। उसी तरह जब कोई आहार-प्रतिकूल नज़रिए में डूबा रहे, तब स्वाद के प्रति तृष्णा मात्र से उसका चित्त दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता; बल्कि वह तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाता है।

किंतु कोई आहार-प्रतिकूल नज़रिए में डूबा रहने पर भी स्वाद के प्रति तृष्णा से आकर्षित होता हो, या घिन-भाव उपस्थित न हो—तब वह समझ ले कि 'मैं आहार-प्रतिकूल नज़रिया विकसित नही कर पाया। मुझमें क्रमानुसार बदलाव नही आया। मैंने साधना का फ़ल नही पाया।' इस तरह वह सचेत हो जाए।

किंतु कोई आहार-प्रतिकूल नज़रिए में डूबा रहे, और स्वाद के प्रति तृष्णा मात्र से उसका चित्त दूर सिकुड़े, विपरीत झुके, पीछे हटे, खिंचा न चला जाए; बल्कि तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो

जाए, तब वह समझ ले कि 'मैंने आहार-प्रतिकूल नज़रिया विकसित कर लिया। मुझमें क्रमानुसार बदलाव आ गया। मैंने साधना का फ़ल पा लिया।' इस तरह वह सचेत हो जाए।

आहार-प्रतिकूल नज़रिए की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है—ऐसा कहा गया था, जो इस बारे में था।

«सं.नि.१२:६३ + सं.नि.१२:६४ + अं.नि.७:४६»

* * *

सब्बलोके अनभिरतिसञ्ञी

सभी लोकविश्व के प्रति निरस नज़रिया क्या है?

यदि भिक्षु को किसी दुनिया के प्रति आसक्ति हो, या चित्त का स्थिराव, टिकाव या झुकाव हो—तब उन्हें त्यागकर वह **अनासक्त** रहता है। यह सभी लोकविश्व के प्रति निरस नज़रिया कहलाता है।

सभी लोकविश्व के प्रति निरस नज़रिए की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है।

जब कोई सभी लोकविश्व के प्रति निरस नज़रिए में डूबा रहे, तब **सांसारिक चकाचौंध** से उसका चित्त दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता; बल्कि तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाता है।

जैसे मुर्ग़े का पँख या स्नायु का टुकड़ा आग में डाल दे, तो वह दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता। उसी तरह जब किसी का चित्त सभी लोकविश्व के प्रति निरस नज़रिए में डूबा रहे, तब सांसारिक चकाचौंध से उसका चित्त दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता; बल्कि तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाता है।

किंतु यदि किसी भिक्षु का चित्त सभी लोकविश्व के प्रति निरस नज़रिए में डूबा रहने पर भी सांसारिक चकाचौंध से आकर्षित होता हो, या घिन-भाव उपस्थित न हो—तब वह समझ ले कि 'मैं सभी लोकविश्व के प्रति निरस नज़रिया विकसित नही कर पाया। मुझमें क्रमानुसार बदलाव नही हुआ। मैंने साधना का फ़ल नही पाया।' इस तरह वह सचेत हो जाए।

और कोई 'सभी लोकविश्व के प्रति निरस नज़रिए' में डूबा रहे, और 'सांसारिक चकाचौंध' से उसका चित्त दूर सिकुड़े, विपरीत झुके, पीछे हटे, खिंचा न चला जाए; बल्कि तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाए—तब वह समझ ले कि 'मैंने सभी लोकविश्व के प्रति निरस नज़रिया विकसित कर लिया। मुझमें क्रमानुसार बदलाव आ गया। मैंने साधना का फ़ल पा लिया।' इस तरह वह सचेत हो जाए।

सभी लोकविश्व के प्रति निरस नज़रिए की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है—ऐसा कहा गया था, जो इस बारे में था।

«अं.नि.१०:६० + अं.नि.७:४६»

* * *

सब्बसङ्खारेसु अनिच्चानुपस्सी

अनित्य-नज़रिया क्या है?

भिक्षु जंगल जाता है, या पेड़ तले जाता है, या ख़ाली जगह जाता है, और चिंतन करता है—'रुप अनित्य होते है। संवेदनाएँ अनित्य होती है। नज़रिए अनित्य होते है। रचनाएँ अनित्य होती है। चैतन्यताएँ अनित्य होती है।'

इस तरह वह **पाँच आधार-संग्रह का अनित्य पहलू** देखते हुए रहता है। यह अनित्य-नज़रिया कहलाता है।

अनित्य-नज़रिए की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है।

जब कोई अनित्य-नज़रिए में डूबा रहे, तब **लाभ सत्कार व कीर्ति** से उसका चित्त दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता; बल्कि तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाता है।

जैसे मुर्ग़े का पँख या स्नायु का टुकड़ा आग में डाल दे, तो वह दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता। उसी तरह जब कोई अनित्य-नज़रिए में डूबा रहे, तब लाभ सत्कार व कीर्ति से उसका चित्त दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता; बल्कि तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाता है।

किंतु कोई अनित्य-नज़रिए में डूबा रहने पर भी 'लाभ सत्कार व कीर्ति' से आकर्षित होता हो, या घिन-भाव उपस्थित न हो—तब वह समझ ले कि 'मैं अनित्य-नज़रिया विकसित नही कर पाया। मुझमें क्रमानुसार बदलाव नही आया। मैंने साधना का फ़ल नही पाया।' इस तरह वह सचेत हो जाए।

और कोई अनित्य-नज़रिए में डूबा रहे, और लाभ सत्कार व कीर्ति से उसका चित्त दूर सिकुड़े, विपरीत झुके, पीछे हटे, खिंचा न चला जाए; बल्कि तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाए—तब वह समझ ले कि 'मैंने अनित्य-नज़रिया विकसित कर लिया। मुझमें क्रमानुसार बदलाव आ गया। मैंने साधना का फ़ल पा लिया।' इस तरह वह सचेत हो जाए।

अनित्य-नज़रिए की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है—ऐसा कहा गया था, जो इस बारे में था।

«अं.नि.१०:६० + अं.नि.७:४६»

* * *

«यतो यतो सम्मसति, खन्धानं उदयब्बयं
लभती पीतिपामोज्जं, अमतं तं विजानतं»

जैसे जैसे छुए संग्रह का उदय-व्यय, मिलती जाए प्रफुल्लता प्रसन्नता। जो जानते है, उनका अमृत वही है।

«धम्मपद ३७४»

* * *

मरणस्सति

भिक्षुओं, **मौत के स्मरण** की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है। और कैसे भिक्षु मौत के स्मरण की साधना करता है?

• जब दिन अस्त होकर **रात्रि** का आगमन हो, तो भिक्षु इस तरह चिंतन करता है—'मेरी मौत कई कारणों से हो सकती है। मुझे साँप डंस सकता है; बिच्छू डंक मार सकता है; गोजर काट सकती है। उस तरह मेरी मौत हो तो बाधा होगी। मैं लड़खड़ाकर गिर सकता हूँ; खाया-पचाया तकलीफ़ दे सकता है; पित्त कुपित हो सकता है; कफ कुपित हो सकता है; वात कुपित हो सकता है। उस तरह मेरी मौत हो तो बाधा होगी।'

तब भिक्षु सोचता है—'क्या कोई पाप/अकुशल स्वभाव है जो मुझसे छूटा नही, जिससे यदि आज रात मेरी मौत हो तो दुर्गति होगी?'

यदि उसे पता चले कि कोई पाप/अकुशल स्वभाव **है** जो उससे छूटा नही—तब उसे छोड़ने के लिए भिक्षु अत्याधिक चाह प्रयास उत्साह ज़िद लगन स्मरणशीलता व सचेतता उत्पन्न करता है।

जैसे किसी आदमी की पगड़ी या सिर में आग लग जाए, तो वह किस तरह अत्याधिक चाह प्रयास उत्साह ज़िद लगन स्मरणशीलता व सचेतता उत्पन्न कर आग बुझायेगा? उसी तरह पाप/अकुशल स्वभाव छोड़ने के लिए भिक्षु अत्याधिक चाह प्रयास उत्साह ज़िद लगन स्मरणशीलता व सचेतता उत्पन्न करता है।

यदि उसे पता चले कि उसमें कोई पाप/अकुशल स्वभाव नही, जो दुर्गति करें—तब उस कारणवश वह प्रसन्नता व प्रफुल्लता में रहें, तथा दिन-रात कुशल स्वभाव में साधनारत रहें।

• तत्पश्चात जब रात्रि अस्त होकर **दिन** का आगमन हो, तो भिक्षु इस तरह चिंतन करता है—'मेरी मौत कई कारणों से हो सकती है। मुझे साँप डंस सकता है; बिच्छू डंक मार सकता है; गोजर काट सकती है। उस तरह मेरी मौत हो तो बाधा होगी। मैं लड़खड़ाकर गिर सकता हूँ; खाया-

पचाया तकलीफ़ दे सकता है; पित्त कुपित हो सकता है; कफ कुपित हो सकता है; वात कुपित हो सकता है। उस तरह मेरी मौत हो तो बाधा होगी।'

तब भिक्षु सोचता है—'क्या कोई पाप/अकुशल स्वभाव है जो मुझसे छूटा नही, जिससे यदि मेरी आज दिन में मौत हो तो दुर्गति होगी?'

यदि उसे पता चले कि कोई पाप/अकुशल स्वभाव **है** जो उससे छूटा नही—तब उसे छोड़ने के लिए भिक्षु अत्याधिक चाह प्रयास उत्साह ज़िद लगन स्मरणशीलता व सचेतता उत्पन्न करता है।

जैसे किसी आदमी की पगड़ी या सिर में आग लग जाए, तो वह किस तरह अत्याधिक चाह प्रयास उत्साह ज़िद लगन स्मरणशीलता व सचेतता उत्पन्न कर आग बुझायेगा? उसी तरह पाप/अकुशल स्वभाव छोड़ने के लिए भिक्षु अत्याधिक चाह प्रयास उत्साह ज़िद लगन स्मरणशीलता व सचेतता उत्पन्न करता है।

यदि उसे पता चले कि उसमें कोई पाप/अकुशल स्वभाव नही, जो दुर्गति करें—तब उस कारणवश वह प्रसन्नता व प्रफुल्लता में रहें, तथा दिन-रात कुशल स्वभाव में साधनारत रहे।

— यह 'मौत का स्मरण' कहलाता है।

इस तरह मौत के स्मरण की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है।

जब कोई मौत के स्मरण में डूबा रहे, तब **जीवन के प्रति जोश** से उसका चित्त दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता; बल्कि तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाता है।

जैसे मुर्ग़े का पँख या स्नायु का टुकड़ा आग में डाल दे, तो वह दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता। उसी तरह जब किसी का चित्त मौत के स्मरण में डूबा रहे, तब जीवन के प्रति जोश से उसका चित्त दूर सिकुड़ता है, विपरीत झुकता है, पीछे हटता है, खिंचा नही चला जाता; बल्कि तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाता है।

किंतु मौत के स्मरण में डूबा रहने पर भी कोई जीवन के प्रति जोश से आकर्षित होता हो, या घिन-भाव उपस्थित न हो—तब वह समझ ले कि 'मैं मौत का स्मरण विकसित नही कर पाया। मुझमें क्रमानुसार बदलाव नही आया। मैंने साधना का फ़ल नही पाया।' इस तरह वह सचेत हो जाए।

और कोई मौत के स्मरण में डूबा रहे, और जीवन के प्रति जोश से उसका चित्त दूर सिकुड़े, विपरीत झुके, पीछे हटे, खिंचा न चला जाए; बल्कि तटस्थता या घिन-भाव में स्थित हो जाए—तब वह समझ ले कि 'मैं मौत का स्मरण विकसित कर लिया। मुझमें क्रमानुसार बदलाव आ गया। मैंने साधना का फ़ल पा लिया।' इस तरह वह सचेत हो जाए।

मौत के स्मरण की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है—ऐसा कहा गया था, जो इस बारे में था।

«अं.नि.६:२० + अं.नि.७:४६»

भिक्षुओं, ऐसे भिक्षु **लापरवाह** «प्रमादी» कहलाते है, और मौत के स्मरण की साधना बहाव थामने के लिए **धीमे** करते है—

• जो मौत के स्मरण की साधना यह सोचते हुए करते है—'अरे! मैं केवल एक दिन-रात तक भी जीवित बचूँ, और बुद्ध शिक्षा पर ध्यान दे पाऊँ, तो बहुत पा लूँगा!'

• और... जो यह सोचते हुए करते है—'अरे! मैं केवल दिनभर [=१२ घंटे] भी जीवित बचूँ, और बुद्ध शिक्षा पर ध्यान दे पाऊँ, तो बहुत पा लूँगा!'

• और... जो यह सोचते हुए करते है—'अरे! मैं केवल भोजन करने तक भी जीवित बचूँ, और बुद्ध शिक्षा पर ध्यान दे पाऊँ, तो बहुत पा लूँगा!'

• और... जो यह सोचते हुए करते है—'अरे! मैं भोजन के केवल चार निवाले चबाकर निगलने तक भी जीवित बचूँ, और बुद्ध शिक्षा पर ध्यान दे पाऊँ, तो बहुत पा लूँगा!'

— ऐसे भिक्षु **लापरवाह** कहलाते है, और मौत के स्मरण की साधना बहाव थामने के लिए धीमे करते है। परंतु —

• जो मौत के स्मरण की साधना यह सोचते हुए करते है—'अरे! मैं केवल एक निवाला चबाकर निगलने तक भी जीवित बचूँ, और बुद्ध शिक्षा पर ध्यान दे पाऊँ, तो बहुत पा लूँगा!'

• और… जो यह सोचते हुए करते है—'अरे! मैं साँस लेकर छोड़ने तक भी जीवित बचूँ, या साँस छोड़कर लेने तक भी जीवित बचूँ, और बुद्ध शिक्षा पर ध्यान दे पाऊँ, तो बहुत पा लूँगा!'

ऐसे भिक्षु **सतर्क** «अप्रमादी» कहलाते है, और मौत के स्मरण की साधना बहाव थामने के लिए **तीव्रता से** करते है।

इसलिए भिक्षुओं, तुम्हें सीखना चाहिए—'हम सतर्क रहेंगे! और मौत के स्मरण की साधना बहाव थामने के लिए तीव्रता से करेंगे!'

«अं.नि.६:१९»

जल्द ही यह काया ज़मीन पर पड़ी मिलेगी, चेतनाहीन
— जैसे लकड़ी का अनुपयोगी टुकड़ा।

«धम्मपद ४१»

जीवित-इंद्रिय कटकर सभी प्राणियों की मौत होगी
—यह निश्चित है। जीवन नही।

* * *

पाँच बल

भिक्षुओं, सीखते व्यक्ति के पाँच बल होते है। कौन-से पाँच? श्रद्धाबल लज्जाबल फ़िक्रबल ऊर्जाबल व अन्तर्ज्ञानबल।

• **श्रद्धाबल** क्या है?

जैसे किसी राजसी गढ़ पर भीतरी प्रजा की रक्षा के लिए, और बाहरी शक्तियों को दूर रखने के लिए **ध्वजखंभ** «एसिका» स्थापित किया जाता है—गहराई तक गड़ा, मज़बूती से स्थापित, अविचल और स्थिर!

उसी तरह भिक्षु 'श्रद्धा' स्थापित करता है। तथागत की बोधि को लेकर वह आश्वस्त होता है—'सच में, भगवान ही अरहंत सम्यक-सम्बुद्ध है—विद्या व आचरणसंपन्न, सुयशस्वी, दुनिया के जानकार, दमनयोग्य पुरुष के सर्वोपरि सारथी, देव व मनुष्य के गुरु, बोधिप्राप्त पवित्र भगवाँ!'

ऐसी ध्वजखंभ-रुपी **श्रद्धा** स्थापित कर, भिक्षु अकुशल का त्याग करता है, कुशलता को बढ़ाता है। पाप का त्याग करता है, निष्पापता को बढ़ाता है। स्वयं का परिशुद्धतापूर्वक ख्याल रखता है। इस तरह वह श्रद्धासंपन्न रहता है। यही उसका श्रद्धाबल होता है।

• **लज्जाबल** क्या है?

जैसे कोई राजसी गढ़ भीतरी प्रजा की रक्षा के लिए, और बाहरी शक्तियों को दूर रखने के लिए गहरी एवं चौड़ी **खाई** «परिखा» से घिरा होता है।

उसी तरह भिक्षु में **लज्जा** होती है। उसे कायिक दुराचरण, वाचिक दुराचरण या मानसिक दुराचरण करने में शर्म आती है। वह पाप/अकुशल स्वभाव में लिप्त होने पर लज्जित होता है।

ऐसी खाई-रुपी 'लज्जा' में स्थापित हो, भिक्षु अकुशल का त्याग करता है, कुशलता को बढ़ाता है। पाप का त्याग करता है, निष्पापता को बढ़ाता है। स्वयं का परिशुद्धतापूर्वक ख्याल रखता है। इस तरह वह लज्जासंपन्न रहता है। यही उसका लज्जाबल होता है।

• **फ़िक्रबल** क्या है?

जैसे कोई राजसी गढ़ भीतरी प्रजा की रक्षा के लिए, और बाहरी शक्तियों को दूर रखने के लिए ऊँचे एवं विस्तृत **घेरावमार्ग** «अनुपरियायपथो» से घिरा होता है।

उसी तरह भिक्षु **फ़िक्रमंदी** से घिरा होता है। उसे कायिक दुराचरण, वाचिक दुराचरण या मानसिक दुराचरण करने में डर लगता है। वह पाप/अकुशल स्वभाव में लिप्त होने पर भयभीत होता है।

ऐसी घेरावमार्ग-रुपी 'फ़िक्र' से घिरा, भिक्षु अकुशल का त्याग करता है, कुशलता को बढ़ाता है। पाप का त्याग करता है, निष्पापता को बढ़ाता है। स्वयं का परिशुद्धतापूर्वक ख्याल रखता है। इस तरह वह फ़िक्रसंपन्न रहता है। यही उसका फ़िक्रबल होता है।

• **ऊर्जाबल** क्या है?

जैसे किसी राजसी गढ़ के भीतर भीतरी प्रजा की रक्षा के लिए, और बाहरी शक्तियों को दूर रखने के लिए **शक्तिशाली विशाल सेना** «बहुबलकायो पटिवसति» नियुक्त की जाती है—हाथीरोही सेना, अश्वरोही सेना, रथिक सेना, धनुर्धर सेना, ध्वजरोही सेना, निवास-आपूर्ति अधिकारी, भोजन-आपूर्ति सैनिक, लोकप्रिय राजकुमार, छापामार वीर सेना, पैदल सेना, एवं गुलाम सेना!

उसी तरह भिक्षु **ऊर्जा** बढ़ाकर रहता है—अकुशल स्वभाव त्यागने के लिए, और कुशल स्वभाव धारण करने के लिए। वह निश्चयबद्ध, दृढ़ व पराक्रमी होता है। कुशल स्वभाव के प्रति अपने कर्तव्य से जी नही चुराता।

ऐसी शक्तिशाली विशाल सेना—रूपी 'ऊर्जा' बढ़ाकर, भिक्षु अकुशल का त्याग करता है, कुशलता को बढ़ाता है। पाप का त्याग करता है, निष्पापता को बढ़ाता है। स्वयं का परिशुद्धतापूर्वक ख्याल रखता है। इस तरह वह ऊर्जासंपन्न रहता है। यही उसका ऊर्जाबल होता है।

• **अन्तर्ज्ञानबल** क्या है?

जैसे कोई राजसी गढ़ भीतरी प्रजा की रक्षा के लिए, और बाहरी शक्तियों को दूर रखने के लिए ऊँची, मोटी व पक्की **रक्षार्थ दीवार** «पाकारो» से घेरी जाती है।

उसी तरह भिक्षु में आर्य व भेदक **अन्तर्ज्ञान** होता है—उदय-व्यय पता करने योग्य, दुःखों का सम्यक अंत करानेवाला!

ऐसे पक्के 'अन्तर्ज्ञान' से घिरा, भिक्षु अकुशल का त्याग करता है, कुशलता को बढ़ाता है। पाप का त्याग करता है, निष्पापता को बढ़ाता है। स्वयं का परिशुद्धतापूर्वक ख्याल रखता है। इस तरह वह अन्तर्ज्ञानसंपन्न रहता है। यही उसका अन्तर्ज्ञानबल होता है।

— यह सीखते व्यक्ति के पाँच बल है।

इसलिए भिक्षुओं, तुम्हें सीखना चाहिए, 'हम उस श्रद्धाबल से संपन्न होंगे, जो [धर्म] सीखते व्यक्ति का श्रद्धाबल हो। हम उस लज्जाबल से संपन्न होंगे, जो सीखते व्यक्ति का लज्जाबल हो। हम उस फ़िक्रबल से संपन्न होंगे, जो सीखते व्यक्ति का फ़िक्रबल हो। हम उस ऊर्जाबल से संपन्न होंगे, जो सीखते व्यक्ति का ऊर्जाबल हो। हम उस अन्तर्ज्ञानबल से संपन्न होंगे, जो सीखते व्यक्ति का अन्तर्ज्ञानबल हो।

जैसे गंगा नदी पूरब की ओर बहती है; पूरब की ओर ढलती है; पूरब की ओर ही झुकती है। उसी तरह जब भिक्षु पाँच बलों की साधना करता है, विकसित कर परिपूर्ण करता है—तब वह निर्वाण की ओर बहता है; निर्वाण की ओर ढलता है; निर्वाण की ओर ही झुकता है।

और किस तरह कोई पाँच बलों की साधना करें, विकसित कर परिपूर्ण करें, जिससे वह निर्वाण की ओर बहे.. ढले.. झुके?

जब कोई भिक्षु पाँच बलों की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, बार-बार कर परिपूर्ण करता है, और अंततः उन्हें भी त्याग देता है—तब वह निर्वाण की ओर बहता है, निर्वाण की ओर ढलता है, निर्वाण की ओर झुकता है।

«अं.नि.५:२ + ७:६३»

* * *

पाँच इंद्रिय

भिक्षुओं, यह पाँच इंद्रिय है। कौन-से पाँच? श्रद्धाइंद्रिय ऊर्जाइंद्रिय स्मृतिइंद्रिय समाधिइंद्रिय व अन्तर्ज्ञानइंद्रिय।

• **श्रद्धाइंद्रिय** क्या है?

भिक्षु में श्रद्धा होती है। तथागत की बोधि को लेकर वह आश्वस्त होता है—'सच में भगवान ही अरहंत सम्यक-सम्बुद्ध है—विद्या व आचरणसंपन्न, सुयशस्वी, दुनिया के जानकार, दमनयोग्य पुरुष के सर्वोपरि सारथी, देव व मनुष्य के गुरु, बोधिप्राप्त पवित्र भगवाँ!' यह उसकी श्रद्धाइंद्रिय है।

जिसे बुद्ध शिक्षा «बुद्धसासन» पर श्रद्धा हो, जो गहराई भेदने के लिए जीता हो, उसे धर्मानुसार ऐसा लगता है—'भगवान शास्ता है! मैं तो श्रावक हूँ! भगवान जानते है! मैं नही!' जिसे शास्ता की शिक्षा में श्रद्धा हो, जो गहराई भेदने के लिए जीता हो, उसे शास्ता की शिक्षा स्वास्थ्यवर्धन व पोषण देती है।

जिस भिक्षु को शास्ता की शिक्षा में श्रद्धा हो, जो गहराई भेदने के लिए जीता हो, उसे धर्मानुसार ऐसा लगता है—'ख़ुशी से अपना रक्त-मांस सूखा दूँ! मात्र नसें व कंकाल ही छोड़ूँ! परंतु जब तक वह न पा लूँ, जिसे पौरुष-दृढ़ता पौरुष-ऊर्जा व पौरुष-प्रयास से पाया जाता है—तब तक मैं अपनी ऊर्जा को राहत नही दूँगा!'

जिस भिक्षु को शास्ता की शिक्षा में श्रद्धा हो, जो गहराई भेदने के लिए जीता हो, उसे दो में से एक फ़ल अपेक्षित होता है—अभी यही परमज्ञान [=अरहन्तफ़ल], अथवा आधार शेष बचने पर अनागामिता।

श्रद्धाइंद्रिय कहाँ देखी जाती है?

श्रोतापन्न के चार अंग में। अर्थात—

• सत्पुरुष से संगति होना,

• [परिशुद्ध] सद्धर्म सुनना,

• उचित बात [=आर्यसत्यों] पर गौर करना,

• धर्मानुसार ही धर्म के प्रगतिपथ पर चलना [मन-मुताबिक नही]।

• **ऊर्जाइंद्रिय** क्या है?

भिक्षु **ऊर्जा** बढ़ाकर रहता है—अकुशल स्वभाव त्यागने के लिए, और कुशल स्वभाव धारण करने के लिए। वह निश्चयबद्ध, दृढ़ व पराक्रमी होता है। कुशल स्वभाव के प्रति अपने कर्तव्य से जी नही चुराता।

• अनुत्पन्न पाप/अकुशल स्वभाव आगे उत्पन्न न हो—उसके लिए भिक्षु चाह पैदा करता है, मेहनत करता है, ज़ोर लगाता है, इरादा बनाकर जुटता है।

• उत्पन्न पाप/अकुशल स्वभाव छोड़ने के लिए, भिक्षु चाह पैदा करता है, मेहनत करता है, ज़ोर लगाता है, इरादा बनाकर जुटता है।

• अनुत्पन्न कुशल स्वभाव उत्पन्न करने के लिए, भिक्षु चाह पैदा करता है, मेहनत करता है, ज़ोर लगाता है, इरादा बनाकर जुटता है।

• और उत्पन्न कुशल स्वभाव टिकाए रखने, आगे लाने, वृद्धि करने, प्रचुरता लाने, विकसित कर परिपूर्ण करने के लिए, भिक्षु चाह पैदा करता है, मेहनत करता है, ज़ोर लगाता है, इरादा बनाकर जुटता है।

यह उसकी ऊर्जाइंद्रिय है। यही चार सम्यक-प्रधान—**समाधि की पूर्वआवश्यकताएँ** भी है।

• **स्मृतिइंद्रिय** क्या है?

जैसे किसी राजसी गढ़ का भीतरी प्रजा की रक्षा के लिए, और बाहरी शक्तियों को दूर रखने के लिए चतुर समर्थ व बुद्धिमान **द्वारपाल** «दोवारिको» होता है—जो संदेहास्पद लोगों [~अकुशल स्वभावों] को बाहर रखे, और परिचित भले लोगों [~कुशल स्वभावों] को ही भीतर प्रवेश दे।

उसी तरह भिक्षु **स्मरणशील** होता है, याददाश्त में बहुत तेज़! पूर्वकाल में की गई, पूर्वकाल में कही गई बात भी स्मरण रखता, तथा अनुस्मरण कर पाता!

तब वह **काया** को काया देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए। **संवेदना** को संवेदना देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए। **चित्त** को चित्त देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए। **स्वभाव** को स्वभाव देखते हुए रहता है—तत्पर सचेत व स्मरणशील, दुनिया के प्रति लालसा व नाराज़ी हटाते हुए।

यही चार स्मृतिप्रस्थान—**समाधि के निमित्त** होते है।

ऐसी द्वारपाल-रुपी स्मृति स्थापित कर, भिक्षु अकुशल का त्याग करता है, कुशलता को बढ़ाता है। पाप का त्याग करता है, निष्पापता को बढ़ाता है। स्वयं का परिशुद्धतापूर्वक ख्याल रखता है। इस तरह वह स्मृतिसंपन्न रहता है। यह उसकी स्मृतिइंद्रिय है।

• **समाधिइंद्रिय** क्या है?

• कोई भिक्षु त्याग-आलंबन बनाकर समाधि लगाता है, चित्त-एकाग्र करता है। वह काम से निर्लिप्त, अकुशल स्वभाव से निर्लिप्त—सोच व विचार के साथ निर्लिप्तता से जन्मे प्रफुल्लता व सुखवाले **प्रथम-झान** में प्रवेश कर रहता है।

• फ़िर आगे सोच व विचार रुक जानेपर भीतर आश्वस्त हुआ मानस एकरस होकर बिना-सोच बिना-विचार, समाधि से जन्मे प्रफुल्लता व सुखवाले **द्वितीय-झान** में प्रवेश कर रहता है।

• तब आगे वह प्रफुल्लता से विरक्ति ले, स्मरणशील सचेतता के साथ तटस्थता धारणकर शरीर से सुख महसूस करता है। जिसे आर्यजन 'तटस्थ स्मरणशील सुखविहारी' कहते है—वह उस **तृतीय-झान** में प्रवेश कर रहता है।

• आगे वह सुख दर्द दोनों हटाकर, खुशी व परेशानी पूर्व ही विलुप्त होने से अब नसुख-नदर्दवाले, तटस्थता व स्मरणशीलता की परिशुद्धता के साथ **चतुर्थ-झान** में प्रवेश कर रहता है।

— यह उसकी समाधिइंद्रिय है।

• **अन्तर्ज्ञानइंद्रिय** क्या है?

भिक्षु में आर्य व भेदक **अन्तर्ज्ञान** होता है—उदय-व्यय पता करने योग्य, दुःखों का सम्यक अंत करानेवाला!

यह अन्तर्ज्ञानइंद्रिय कहाँ देखी जाती है?

— चार आर्यसत्यों में!

• 'यह दुःख है' उसे मूलस्वरूप पता चलता है।

• 'यह दुःख उत्पत्ति है' उसे मूलस्वरुप पता चलता है।

• 'यह दुःख निरोध है' उसे मूलस्वरूप पता चलता है।

• 'यह दुःख निरोध करानेवाला प्रगतिपथ है' उसे मूलस्वरुप पता चलता है।

जिस आर्यश्रावक में श्रद्धा हो, जो ऊर्जा बढ़ाकर रहता हो, जिसकी स्मृति स्थापित हो, जिसका चित्त सम्यक रुप से समाहित हो, उससे आशा की जा सकती है कि उसे स्वयं पता चले कि—'जन्म-जन्मांतरण की शुरुवात सोच के परे है। संसरण की निश्चित शुरुवात पता नही चलती, परंतु अविद्या में डूबे, तृष्णा में फँसे सत्व जन्म-जन्मांतरण में भटक रहे है। उस अविद्या-रुपी 'अँधेरे पिंड' का बिना शेष बचे वैराग्य व निरोध होना—यही शान्ति है! यही सर्वोत्कृष्ट है!—सभी रचनाओं का रुक जाना! सभी अर्जित वस्तुओं का परित्याग! तृष्णा का अंत! वैराग्य निरोध निर्वाण!'

उसका जो अन्तर्ज्ञान हो, वही उसकी अन्तर्ज्ञानइंद्रिय होती है। यह कुल पाँच इंद्रिय होते है।

«सं.नि.४८:१० + ४८:५० + ५५:५ + अं.नि.७:६३»

* * *

जब भिक्षु मात्र एक स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाए, तब उसके पाँचों इंद्रिय विकसित होते है, सुप्रतिष्ठित होते है। कौन-सा एक स्वभाव?

— सतर्कता «अप्पमाद»।

सतर्कता क्या है?

कोई भिक्षु [हमला करते] बहाव, तथा उसके साथ जन्में [अकुशल] स्वभावों के बीच अपने चित्त की रक्षा करता है। इस तरह जब भिक्षु बहाव, तथा उसके साथ जन्में स्वभावों के बीच अपने चित्त की रक्षा करें, तो श्रद्धाइंद्रिय साधना की परिपूर्णता की ओर बढ़ती है... ऊर्जाइंद्रिय... स्मृतिइंद्रिय... समाधिइंद्रिय... अन्तर्ज्ञानइंद्रिय साधना की परिपूर्णता की ओर बढ़ती है।

इस तरह जब भिक्षु मात्र एक स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाए, तो उसके पाँचों इंद्रिय विकसित होते है, सुप्रतिष्ठित होते है।

«सं.नि.४८:५६»

* * *

पमादविहारी

भिक्षु लापरवाह होकर कैसे जीता है?

जब भिक्षु **आँख-इंद्रिय** पर **बिना संयम के** रहता है, तो दिखाई देते रूपों द्वारा उसका चित्त दूषित होते रहता है। चित्त दूषित हो, तो प्रसन्नता नहीं होती। प्रसन्नता न हो, तो प्रफुल्लता नहीं होती। प्रफुल्लता न हो, तो प्रशान्ति नहीं मिलती। प्रशान्ति न मिले, तो भिक्षु पीड़ा में रहता है। पीड़ा में हो, तो चित्त समाहित नहीं हो पाता। चित्त समाहित न हो, तो धर्मस्वभाव उजागर नहीं होता। जिसे धर्मस्वभाव उजागर न हो, वह बस 'लापरवाह होकर जीनेवाला' «पमादविहारी» समझा जाता है।

जब भिक्षु **कान-इंद्रिय... नाक-इंद्रिय... जीभ-इंद्रिय... काया-इंद्रिय... मन-इंद्रिय** पर **बिना संयम के** रहता है, तो सुनाई देते आवाज़ों... सुँघाई देते गंधों... पता चलते स्वादों... महसूस होते संस्पर्शों... उत्पन्न होते स्वभावों द्वारा उसका चित्त दूषित होते रहता है। चित्त दूषित हो, तो प्रसन्नता नहीं होती। प्रसन्नता न हो, तो प्रफुल्लता नहीं होती। प्रफुल्लता न हो, तो प्रशान्ति नहीं मिलती। प्रशान्ति न मिले, तो भिक्षु पीड़ा में रहता है। पीड़ा में हो, तो चित्त समाहित नहीं होता। चित्त समाहित न हो, तो धर्मस्वभाव उजागर नहीं होता। जिसे धर्मस्वभाव उजागर न हो, वह बस 'लापरवाह होकर जीनेवाला' समझा जाता है।

इस तरह भिक्षु लापरवाह होकर जीता है।

और **भिक्षु सतर्क होकर कैसे जीता है?**

जब भिक्षु **आँख-इंद्रिय** पर **संयम** कर रहता है, तो दिखाई देते रूपों द्वारा उसका चित्त दूषित नहीं होता। जब चित्त दूषित न हो, तो प्रसन्नता जन्म लेती है। प्रसन्न होने से प्रफुल्लता जन्म लेती है।

प्रफुल्लित मन होने से काया प्रशान्त हो जाती है। प्रशान्त काया सुख महसूस करती है। सुखी होकर चित्त समाधिस्त हो जाता है। समाहित चित्त में धर्मस्वभाव उजागर होता है। जिसे धर्मस्वभाव उजागर हो, वह बस 'सतर्क होकर जीनेवाला' «अप्पमादविहारी» समझा जाता है।

जब भिक्षु **कान-इंद्रिय... नाक-इंद्रिय... जीभ-इंद्रिय... काया-इंद्रिय... मन-इंद्रिय** पर **संयम** कर रहता है, तो सुनाई देते आवाज़ों... सुँघाई देते गंधों... पता चलते स्वादों... महसूस होते संस्पर्शों... उत्पन्न होते स्वभावों द्वारा उसका चित्त दूषित नहीं होता। जब चित्त दूषित न हो, तो प्रसन्नता जन्म लेती है। प्रसन्न होने से प्रफुल्लता जन्म लेती है। प्रफुल्लित मन होने से काया प्रशान्त हो जाती है। प्रशान्त काया सुख महसूस करती है। सुखी होकर चित्त समाधिस्त हो जाता है। समाहित चित्त में धर्मस्वभाव उजागर होता है। जिसे धर्मस्वभाव उजागर हो, वह बस 'सतर्क होकर जीनेवाला' समझा जाता है।

इस तरह भिक्षु सतर्क होकर जीता है।

«सं.नि.३५:९७»

★★★

१३

अतिरित्त भावना

~ आगे के प्रगतिपथ पर आवश्यक साधनाएँ ~

पटिकुल मनसिकार —

अच्छा होगा यदि भिक्षु ‘घिनौनी स्थिति’ में रहते हुए, सही समय पर **घिनरहित पक्ष** देखते हुए रहे। अच्छा होगा यदि भिक्षु ‘घिनरहित स्थिति’ में रहते हुए, सही समय पर **घिनौना पक्ष** देखते हुए रहे। अच्छा होगा यदि भिक्षु ‘घिनौनी व घिनरहित’ दोनों की स्थिति में रहते हुए, सही समय पर मात्र ‘घिनौना पक्ष’ देखते हुए रहे, या सही समय पर मात्र ‘घिनरहित पक्ष’ देखते हुए रहे, या सही समय पर दोनों हटाकर **तटस्थ सचेत व स्मरणशील** होकर रहे। ऐसा क्यों करें?

• ‘**द्वेष** उक़साने वाले स्थिति में कही मुझे द्वेष न जागे’—इस ध्येय से भिक्षु घिनौनी स्थिति में रहते हुए, सही समय पर ‘घिनरहित पक्ष’ देखते हुए रहें।

• ‘**दिलचस्पी** आने वाले स्थिति में कही मुझे दिलचस्पी न जागे’—इस ध्येय से भिक्षु घिनरहित स्थिति में रहते हुए, सही समय पर ‘घिनौना पक्ष’ देखते हुए रहें।

• ‘**द्वेष** उक़साने वाले स्थिति में कही मुझे द्वेष न जागे, और ‘**दिलचस्पी** आने वाले स्थिति में कही मुझे दिलचस्पी न जागे’—इस ध्येय से भिक्षु घिनौनी व घिनरहित दोनों की स्थिति में रहते हुए, सही समय पर मात्र ‘घिनरहित पक्ष’ देखते हुए रहे।

• ‘**दिलचस्पी** आने वाले स्थिति में कही मुझे दिलचस्पी न जागे, और **द्वेष** उक़साने वाले स्थिति में कही मुझे द्वेष न जागे’—इस ध्येय से भिक्षु घिनौनी व घिनरहित दोनों की स्थिति में रहते हुए, सही समय पर मात्र ‘घिनौना पक्ष’ देखते हुए रहे।

• ‘**दिलचस्पी** आने वाले स्थिति में रहते हुए मुझे कही भी, किसी भी आलंबन में थोड़ी भी दिलचस्पी न जागे, और **द्वेष** उकसाने वाले स्थिति में रहते हुए मुझे कही भी, किसी भी आलंबन में

थोड़ा भी द्वेष न जागे, और **भ्रम** «मोह» लाने वाले स्थिति में रहते हुए मुझे कही भी, किसी भी आलंबन में थोड़ा भी भ्रम न जागे'—इस ध्येय से भिक्षु घिनौनी व घिनरहित दोनों की स्थिति में रहते हुए, सही समय पर दोनों हटाकर 'तटस्थ सचेत व स्मरणशील' होकर रहें।

«अं.नि.५:१४४»

* * *

अनिच्चे दुक्खसञ्ञा

भिक्षुओं, **रूप** नित्य होता है या अनित्य?

'अनित्य, भन्ते।"

जो नित्य नही होता, वह कष्टपूर्ण होता है या सुखपूर्ण?

'कष्टपूर्ण, भन्ते।"

[उसी तरह] **संवेदना... नज़रिया... रचना... चैतन्यता** नित्य होती है या अनित्य?

'अनित्य, भन्ते।"

जो नित्य नही होती, वह कष्टपूर्ण होती है या सुखपूर्ण?

'कष्टपूर्ण, भन्ते।"

अनित्य में दुःख नज़रिए की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है।

जब कोई अनित्य-नज़रिए में डूबा रहे, तब **आलस्य, सुस्ती, निष्क्रियता, लापरवाही, अ-संकल्पबद्धता व चिंतन न करने** के प्रति उसमें तीव्र भय उत्पन्न होता है—जैसे किसी तलवार उठाये हत्यारे के प्रति हो!

«अं.नि.१०:६० + अं.नि.७:४६»

* * *

दुक्खे अनत्तसञ्ञा

भिक्षुओं, **रूप** आत्म [=स्व] नही होता। यदि रूप आत्म होता, तो हमें पीड़ा [=रोग जीर्णता विघटन] में न डालता, और हम उसे कह पाते कि—'मेरा रूप ऐसा हो, वैसा न हो।'

क्योंकि रूप वाक़ई आत्म नही होता, इसलिए हमें पीड़ा में डालता है, और हम नही कह पाते कि—'मेरा रूप ऐसा हो, वैसा न हो।'

संवेदनाएँ आत्म नही होती। यदि संवेदनाएँ आत्म होती, तो हमें पीड़ा में न डालती, और हम उसे कह पाते कि—'मेरी संवेदनाएँ ऐसी हो, वैसी न हो।'

क्योंकि संवेदनाएँ वाक़ई आत्म नही होती, इसलिए हमें पीड़ा में डालती है, और हम नही कह पाते कि—'मेरी संवेदनाएँ ऐसी हो, वैसी न हो।'

नज़रिए आत्म नही होते। यदि नज़रिए आत्म होते, तो हमें पीड़ा में न डालते, और हम उसे कह पाते कि—'मेरे नज़रिए ऐसे हो, वैसे न हो।'

क्योंकि नज़रिए वाक़ई आत्म नही होते, इसलिए हमें पीड़ा में डालते है, और हम नही कह पाते कि—'मेरी नज़रिए ऐसे हो, वैसे न हो।'

रचनाएँ आत्म नही होती। यदि रचनाएँ आत्म होती, तो हमें पीड़ा में न डालती, और हम उसे कह पाते कि—'मेरी रचनाएँ ऐसी हो, वैसी न हो।'

क्योंकि रचनाएँ वाक़ई आत्म नही होती, इसलिए हमें पीड़ा में डालती है, और हम नही कह पाते कि—'मेरी रचनाएँ ऐसी हो, वैसी न हो।'

चैतन्यता आत्म नही होती। यदि चैतन्यता आत्म होती, तो हमें पीड़ा में न डालती, और हम उसे कह पाते कि—'मेरी चैतन्यता ऐसी हो, वैसी न हो।'

क्योंकि चैतन्यता वाक़ई आत्म नही होती, इसलिए हमें पीड़ा में डालती है, और हम नही कह पाते कि—'मेरी चैतन्यता ऐसी हो, वैसी न हो।'

• तो क्या मानते हो भिक्षुओं, **रूप** नित्य होता है या अनित्य?

'अनित्य, भन्ते।"

जो नित्य नही होता, वह कष्टपूर्ण होता है या सुखपूर्ण?

'कष्टपूर्ण, भन्ते।"

जो नित्य न हो, बल्कि कष्टपूर्ण हो, बदलते स्वभाव का हो, क्या उसे यूँ देखना योग्य है कि—'यह मेरा है, यह मेरा आत्म है, यही तो मैं हूँ?'

'नही, भन्ते।"

• **संवेदना** नित्य होती है या अनित्य?

'अनित्य, भन्ते।"

जो नित्य नही होती, वह कष्टपूर्ण होती है या सुखपूर्ण?

'कष्टपूर्ण, भन्ते।"

जो नित्य न हो, बल्कि कष्टपूर्ण हो, बदलते स्वभाव की हो, क्या उसे यूँ देखना योग्य है कि—'यह मेरी है, यह मेरा आत्म है, यही तो मैं हूँ?'

'नही, भन्ते।"

• **नज़रिया** नित्य होता है या अनित्य?

'अनित्य, भन्ते।"

जो नित्य नही होता, वह कष्टपूर्ण होता है या सुखपूर्ण?

'कष्टपूर्ण, भन्ते।"

जो नित्य न हो, बल्कि कष्टपूर्ण हो, बदलते स्वभाव का हो, क्या उसे यूँ देखना योग्य है कि—'यह मेरा है, यह मेरा आत्म है, यही तो मैं हूँ?'

'नही, भन्ते।"

• **रचना** नित्य होती है या अनित्य?

'अनित्य, भन्ते।"

जो नित्य नही होती, वह कष्टपूर्ण होती है या सुखपूर्ण?

'कष्टपूर्ण, भन्ते।"

जो नित्य न हो, बल्कि कष्टपूर्ण हो, बदलते स्वभाव की हो, क्या उसे यूँ देखना योग्य है कि—'यह मेरी है, यह मेरा आत्म है, यही तो मैं हूँ?'

'नही, भन्ते।"

• **चैतन्यता** नित्य होती है या अनित्य?

'अनित्य, भन्ते।"

जो नित्य नही होती, वह कष्टपूर्ण होती है या सुखपूर्ण?

'कष्टपूर्ण, भन्ते।"

जो नित्य न हो, बल्कि कष्टपूर्ण हो, बदलते स्वभाव की हो, क्या उसे यूँ देखना योग्य है कि—'यह मेरी है, यह मेरा आत्म है, यही तो मैं हूँ?'

'नही, भन्ते।"

इसलिए भिक्षुओं, जो रूप—भूत भविष्य या वर्तमान के, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप के **सभी रूप—**'मेरे नही, मेरा आत्म नही, मैं यह नही'—इस तरह जैसे बने हो, सही पता करके देखना है।

जो भी संवेदना है—भूत भविष्य या वर्तमान की, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप की **सभी संवेदनाएँ**—'मेरी नही, मेरी आत्म नही, मैं यह नही'—इस तरह जैसे बनी हो, सही पता करके देखनी है।

जो भी नज़रिया है—भूत भविष्य या वर्तमान का, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप के **सभी नज़रिए**—'मेरे नही, मेरा आत्म नही, मैं यह नही'—इस तरह जैसे बने हो, सही पता करके देखना है।

जो भी रचना है—भूत भविष्य या वर्तमान की, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप की **सभी रचनाएँ**—'मेरी नही, मेरी आत्म नही, मैं यह नही'—इस तरह जैसे बनी हो, सही पता करके देखनी है।

जो भी चैतन्यता है—भूत भविष्य या वर्तमान की, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या समीप की **सभी चैतन्यता**—'मेरी नही, मेरी आत्म नही, मैं यह नही'—इस तरह जैसे बनी हो, सही पता करके देखनी है।

इस तरह देखने से भिक्षुओं, धर्म सुने आर्यश्रावक का रूपों के प्रति **मोहभंग** होता है, संवेदनाओं के प्रति मोहभंग होता है, नज़रियों के प्रति मोहभंग होता है, रचनाओं के प्रति मोहभंग होता है, चैतन्यता के प्रति मोहभंग होता है।

मोहभंग होने से **वैराग्य** आता है। वैराग्य आने से वह **विमुक्त** होता है। विमुक्ति के साथ ज्ञान उत्पन्न होता है—'विमुक्त हुआ!' उसे पता चलता है—'जन्म समाप्त हुए! ब्रह्मचर्य परिपूर्ण हुआ! काम पुरा हुआ! अभी यहाँ करने के लिए कुछ बचा नही!'

भिक्षु जंगल में, पेड़ तले, या ख़ालीगृह जाता है, और चिंतन करता है—'**आँखे** अनात्म होती है, **रूप** अनात्म होते है। **कान** अनात्म होता है, **आवाज़े** अनात्म होते है। **नाक** अनात्म होता है, **गंध** अनात्म होते है। **जीभ** अनात्म होती है, **स्वाद** अनात्म होते है। **काया** अनात्म होती है, **संस्पर्श** अनात्म होते है। **मन** अनात्म होता है, **स्वभाव** अनात्म होते है।

— इस तरह **छह भीतरी व बाहरी आयामों** को भी वह अनात्मभाव से देखते हुए रहता है।

दुःख में अनात्म नज़रिए की साधना करना, बार-बार करना महाफ़लदायी महालाभकारी होता है। वह अमृत में डुबोता है, अमृत में पहुँचाता है।

जब कोई 'दुःख में अनात्म नज़रिए' में डूबा रहे, तब इस चैतन्यतासह-काया तथा बाहरी सभी आलंबनों के प्रति उसका मानस **मैं-मेरापन** «अहङकार-ममङकार» **नही करता, अहंभाव** «मान» **लाँघता है, शान्त होकर सुविमुक्त** हो जाता है।

«सं.नि.२२:५९ + अं.नि.१०:६० + अं.नि.७:४६ »

* * *

आदीनवसञ्ञा

अवगुण देखना क्या है?

भिक्षु जंगल में, पेड़ तले, या ख़ालीगृह जाता है, और चिंतन करता है—'बड़ी पीड़ाएँ है इस शरीर की! बहुत अवगुण है! इस शरीर में विविध बीमारियां उपजती है—जैसे आँख का रोग, कान का रोग, नाक का रोग, जीभ का रोग, काया का रोग, सिर का रोग, मुँह का रोग, दाँत का रोग, होंठ का रोग, खाँसी, दमा, जुक़ाम, बुखार, बुढ़ापा, पेट दर्द, मूर्च्छित होना, दस्त, इन्फ्लूएंजा, हैजा, कोढ़,

फोड़ा, दाद, टीबी, मिर्गी, त्वचा का रोग, खाज, पपड़ी निकलना, चकते पड़ना, खुजली, पीलिया, मधुमेह, बवासीर, भगंदर, अल्सर, पित्त कुपित होना, कफ कुपित होना, वात कुपित होना, तीनों दोष असंतुलित होना, मौसम बदलाव से बीमारियाँ, शरीर की सही देखभाल न करने से बीमारियाँ, पिटाई से ग्रसित, कर्म-विपाक की बीमारियाँ, ठंडी, गर्मी, भूख, प्यास, मल व मूत्र त्याग। इस तरह वह शरीर के अवगुणों पर गौर करते हुए रहता है।

— इसे कहते है अवगुण देखना।

«अं.नि.१०:६०»

* * *

अनुसय

क्या सभी **सुखों** के प्रति 'दिलचस्पी सुप्त-अवस्था' «राग अनुसय» त्यागना होता है? क्या सभी **दर्दों** के प्रति 'विरोधी सुप्त-अवस्था' «पटिघ अनुसय» त्यागना होता है? और क्या सभी **नसुख-नदर्द संवेदनाओं** के प्रति 'अविद्या सुप्त-अवस्था' «अविज्जा अनुसय» त्यागना होता है?

नही! सभी सुखों के प्रति दिलचस्पी सुप्त-अवस्था नही त्यागना होता। सभी दर्दों के प्रति विरोधी सुप्त-अवस्था नही त्यागना होता। और सभी नसुख-नदर्द संवेदनाओं के प्रति अविद्या सुप्त-अवस्था नही त्यागना होता।

बल्कि [जब राग उत्पन्न हो, तब] भिक्षु काम से निर्लिप्त, अकुशल स्वभाव से निर्लिप्त—सोच व विचार के साथ निर्लिप्तता से जन्मे प्रफुल्लता व सुखवाले प्रथम-झान में प्रवेश कर रहता है। उस **[प्रथम-झान] से वह राग त्यागता है।** राग सुप्त-अवस्था में लिप्त नही होता।#

यह उत्तर आजकल प्रचलित कुछ साधना-विधियों पर बड़ा प्रश्नचिन्ह खड़ा करता है, जो भगवान की मूलवाणी के विपरीत सिखाते है कि समाधि-झान से उत्पन्न प्रीति या सुख बड़ा ही भयावह होता है, और उसे तुरंत त्याग देना चाहिए। जबकि उससे डरने के कारण, विश्वास न करने के कारण, उसे बढ़ाकर संपूर्ण शरीर में न फ़ैलाने के कारण प्रथम-झान 'सम्यकसमाधि' विकसित नहीं हो पाती, और आर्यमार्ग की साधना अधूरी ही रह जाती है।

यहाँ भगवान ज़ोर देकर कहते है कि केवल सम्यक-समाधि **प्रथम-झान से उत्पन्न प्रीति-सुख** का आधार लेकर ही राग-अनुशय त्यागा जा सकता है। झान-आहार के बेहतर 'प्रणित' प्रीति-सुख से ही मन को बार-बार लगती 'कामुकता की भूख-प्यास' मिट सकती है, और राग-अनुशय समाप्त हो सकता है। झान-सुख से डरने की ज़रूरत नहीं, बल्कि उसपर भरोसा कर, उसे बढ़ाकर, उसके पीछे पड़, काया में सर्वत्र फैलाकर, सम्यक-समाधि विकसित कर परिपूर्ण की जाती है। [अध्याय ५ के अंत में झान-आहार पढ़ें।]

उसी तरह वहाँ यह भी सिखाया जाता है कि जब साधक निर्वाण विमुक्ति विमोक्ष के प्रति लालसा उत्पन्न कर ले, तो वह निर्वाण के विपरीत दिशा में जाएगा। जबकि उसके विपरीत भगवान यहाँ कहते है कि उसी **लालसा से उत्पन्न व्यथा** का धर्म में बड़ा उपयोग है। उसी के सहारे द्वेष-अनुशय त्यागा जा सकता है। अर्थात, हमें जब द्वेष उत्पन्न हो, तब निर्वाण के लिए रोना चाहिए, और उस द्वेष-भाव को मोड़ना चाहिए, एक कुशल-दिशा देनी चाहिए, तभी द्वेष-अनुशय समाप्त होगा। जो वाक़ई बड़ी दिलचस्प बात है।

[जब चिड़चिड़ हो, तब] भिक्षु सोचता है—'अरे! मैं कब उस आयाम में प्रवेश कर रह पाऊँगा, जिसमें आर्य अभी प्रवेश कर रहते है?' इस तरह वह 'सर्वोपरी विमोक्ष' के प्रति लालसा रखता है, जिस कारण [कुशल] व्यथा उत्पन्न हो। उस **व्यथा के सहारे वह चिड़चिड़ त्यागता है।** विरोधी सुप्त-अवस्था में लिप्त नही होता।

आगे वह सुख दर्द दोनों हटाकर, खुशी व परेशानी पूर्व ही विलुप्त होने से अब नसुख-नदर्दवाले, तटस्थता व स्मरणशीलता की परिशुद्धता के साथ चतुर्थ-झान में प्रवेश कर रहता है। उस **[चतुर्थ-झान] से वह अविद्या त्यागता है।** अविद्या सुप्त-अवस्था में लिप्त नही होता।

«मा.नि.४४»

* * *

[भन्ते सारिपुत्त को अत्याधिक सम्मान व स्नेह देनेवाले भन्ते आनन्द उन्हें पूछते है:]

मित्र सारिपुत्त, किस कारण, किस परिस्थिति से क्यों कुछ सत्व इसी जीवन में परिनिवृत नहीं होते?

मित्र आनन्द, जिन सत्वों को जैसे हो, वैसे न पता चले कि—'यह नज़रिया [समाधि] पतन में सहायक है', 'यह नज़रिया [समाधि] स्थिरता में सहायक है', 'यह नज़रिया [ऊँची समाधि] विशिष्ठता में सहायक है', और 'यह नज़रिया [अंतर्ज्ञान] भेदन में सहायक है'—वे सत्व इसी जीवन में परिनिवृत नहीं होते।

और जिन सत्वों को जैसे हो, वैसे पता चले कि—'यह नज़रिया पतन में सहायक है', 'यह नज़रिया स्थिरता में सहायक है', 'यह नज़रिया विशिष्ठता में सहायक होगा', और 'यह नज़रिया भेदन में सहायक है'—वे सत्व इसी जीवन में परिनिवृत होते हैं।

«अं.नि. ४:१७९»

★ ★ ★

और सति और उपेक्खा की सर्वोच्च परिशुद्ध-अवस्था केवल **चतुर्थ-झान** में ही प्राप्त होती है, उसके अलावा या बाहर नहीं। किंतु प्रारंभ में ही केवल तटस्थता धारण कर चित्त सम्यक-समाधि में प्रवेश नहीं कर सकता [अगले अध्याय १४, पृष्ठ २१० में **निमित्त** के अंतर्गत पढ़ें]। हम सति की साधना ही इसलिए करते है कि सम्यक-समाधि के चार-झान प्राप्त कर, उसे अपने लिए हमेशा उपलब्ध कर ले। बल्कि आर्य-अष्टांगिक मार्ग के सातों अंग, सम्यक-दृष्टी से लेकर तो सम्यक-सति तक, मात्र **सम्यक-समाधि** विकसित करने, उसे बरकरार रखने, और उसके आधार पर प्रज्ञा विकसित कर निर्वाण पाने के लिए ही होते है।

१४

समाधिकुसल

~ सम्यक समाधि में निपुणता ~

हिमवन्त —

भिक्षुओं, जिस भिक्षु में छह गुण होते है, वह पर्वतराज हिमालय को चकनाचूर कर सकता है। अविद्या का कहना ही क्या! कौन-से छह?

- भिक्षु समाधि में 'प्रवेश पाने' में कुशल होता है।
- समाधि को 'स्थित करने' में कुशल होता है।
- समाधि से 'बाहर निकलने' में कुशल होता है।
- समाधि के लिए 'चित्त प्रसन्न करने' में कुशल होता है।
- समाधि का 'पूर्ण परिसर टहलने' में कुशल होता है।
- समाधि की ओर 'चित्त झुकाए रखने' में कुशल होता है।

— जिस भिक्षु में छह गुण होते है, वह पर्वतराज हिमालय को चकनाचूर कर सकता है। अविद्या का कहना ही क्या!

«अं.नि.६:२४»

* * *

जिसे अन्तर्ज्ञान नही, उसे ज्ञान नही।
जिसे ज्ञान नही, उसे अन्तर्ज्ञान नही।
किंतु जिसे हो ज्ञान भी, अन्तर्ज्ञान भी
—वह समीप निर्वाण के।

«धम्मपद ३७२»

* * *

आसवक्खय

मैं कहता हूँ भिक्षुओं, **बहाव** जैसे थमते हो, वैसे सही उसे ही पता चलता है—जो समाधि में तल्लीन होता है। उसे नही पता चलता जो समाधि में लिप्त न होता हो।

इसलिए **समाधि** ही मार्ग है, भिक्षुओं। अ-समाधि कोई मार्ग ही नही!

«अं.नि.६:६४»

* * *

अमृत के ग्यारह प्रवेशद्वार

[भन्ते आनन्द किसी दशम नामक गृहस्थ के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते है:]

भगवान ऐसी अवस्थाओं की व्याख्या करते है, गृहस्थ... जिन्हें विकसित कर 'फिक्रमंद सचेत व दृढ़निश्चयी' भिक्षु अपना चित्त विमुक्त करें, या बहाव थामे, या योगबन्धन से सर्वोपरि राहत प्राप्त करें। कौन-सी अवस्थाएँ?

कोई भिक्षु प्रथम-झान में प्रवेश कर रहता है... तब वह समीक्षा करता है—'यह चेतनापूर्ण रचा गया है। किंतु जो चेतनापूर्ण रचा गया हो, वह अनित्य-स्वभाव का होता है, निरोध-स्वभाव का होता है।'

तब वही ठहरे हुए उसका चित्त **बहाव के थमने तक** पहुँचता है। यदि न पहुंचे, तो '**धर्म-राग, धर्म-ख़ुशी**' के ज़रिए, और निचले **पाँच संयोजन** टूटने से उसका वहाँ प्रकट होना अपेक्षित होता है, जहाँ से दुबारा न लौटकर, वही परिनिवृत होते है।

कोई भिक्षु द्वितीय-झान में... तृतीय-झान में... चतुर्थ-झान में... आकाश-आयाम में... चैतन्यता-आयाम में... सूने-आयाम में... मेत्ता चेतोविमुक्ति... करुणा चेतोविमुक्ति... मुदिता चेतोविमुक्ति... तटस्थता चेतोविमुक्ति में प्रवेश कर रहता है। तब वह समीक्षा करता है—'यह चेतनापूर्ण रचा गया है। किंतु जो चेतनापूर्ण रचा गया हो, वह अनित्य-स्वभाव का होता है, निरोध-स्वभाव का होता है।'

तब वही ठहरे हुए उसका चित्त **बहाव के थमने तक** पहुँचता है। यदि न पहुंचे, तो '**धर्म-राग, धर्म-ख़ुशी**' के ज़रिए, और निचले **पाँच संयोजन** टूटने से उसका वहाँ प्रकट होना अपेक्षित होता है, जहाँ से दुबारा न लौटकर, वही परिनिवृत होते है।

— भगवान इन अवस्थाओं की व्याख्या करते है... जिन्हें विकसित कर 'फिक्रमंद सचेत व दृढ़निश्चयी' भिक्षु अपना चित्त विमुक्त करें, या बहाव थामे, या योगबन्धन से सर्वोपरि राहत प्राप्त करें।

'भन्ते, जैसे कोई गुप्त खज़ाने का प्रवेशद्वार ढूँढ रहा हो, और यकायक ग्यारह प्रवेशद्वारों के सामने आए! उसी तरह मैं अमृत का प्रवेशद्वार ढूँढ रहा था, और यकायक ग्यारह प्रवेशद्वारों के बारे में सुनने मिला!

जैसे किसी घर में ग्यारह द्वार हो। आग लगने पर कोई ग्यारह में से किसी एक द्वार से निकलकर सुरक्षित बच सकता है। उसी तरह मैं अमृत के ग्यारह में से किसी एक द्वार से निकलकर सुरक्षित बच सकता हूँ!"

«मा.नि.५२»

* * *

भिक्षुओं, मैं कहता हूँ कि **बहाव थामना** प्रथम-झ्रान के आधार पर होता है... द्वितीय-झ्रान के आधार पर... तृतीय-झ्रान के आधार पर... चतुर्थ-झ्रान के आधार पर... आकाश-आयाम के आधार पर... चैतन्यता-आयाम के आधार पर... सूने-आयाम के आधार पर... न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम के आधार पर होता है... कैसे?

• कल्पना करो कि कोई तीरंदाज़ पुआल या मिट्टी से बने पुतले पर अभ्यास करें। तत्पश्चात वह लंबी दूरी तक तीर चलाने में, ताबड़तोड़ सटीक निशाने लगाने में, और गहराई तक भेदने में निपुण हो जाए।

उसी तरह भिक्षु... **प्रथम-झ्रान** में प्रवेश कर रहता है। तब वह [अविचलता से] देखता है कि जो धर्मस्वभाव 'रूप संवेदना नज़रिया रचना व चैतन्यता' से जुड़े हो—वह 'अनित्य होते है, कष्टपूर्ण होते है, रोग होते है, फोड़ा होते है, तीर होते है, पीड़ादायक होते है, मुसीबत होते है, पराया होते है, भंग होते है, शून्य होते है, अनात्म होते है।' और वह चित्त को कही और झुकाने के बारे में सोचता है।

तब वह चित्त को **अमृतधातु** की ओर झुकाता है [सोचते हुए] यही शान्ति है! यही सर्वोत्कृष्ट है!—सभी रचनाओं का रुक जाना! सभी अर्जित वस्तुओं का परित्याग! तृष्णा का अंत! वैराग्य निरोध निर्वाण!'

तब वही ठहरे हुए उसका चित्त **बहाव के थमने तक** पहुँचता है। यदि न पहुंचे, तो '**धर्म-राग, धर्म-ख़ुशी**' के ज़रिए, और निचले **पाँच संयोजन** [= आत्मिय दृष्टि, शील या व्रतों पर अटकना, अनिश्चितता, कामराग और चिड़चिड़] टूटने से उसका वहाँ प्रकट होना अपेक्षित होता है, जहाँ से दुबारा न लौटकर, वही परिनिवृत होते है [=शुद्धवास ब्रह्मलोक]।

— इस तरह बहाव का थमना **प्रथम-झ्रान** के आधार पर होता है।

• कल्पना करो कि कोई तीरंदाज़ पुआल या मिट्टी से बने पुतले पर अभ्यास करें। तत्पश्चात वह लंबी दूरी तक तीर चलाने में, ताबड़तोड़ सटीक निशाने लगाने में, और गहराई तक भेदने में निपुण हो जाए।

उसी तरह भिक्षु... द्वितीय-झ्रान में... तृतीय-झ्रान में... चतुर्थ-झ्रान में... आकाश-आयाम में... चैतन्यता-आयाम में... सूने-आयाम में प्रवेश कर रहता है। तब वह देखता है कि जो धर्मस्वभाव 'रूप संवेदना नज़रिया रचना व चैतन्यता' से जुड़े हो—वह 'अनित्य होते है, कष्टपूर्ण होते

है, रोग होते है, फोड़ा होते है, तीर होते है, पीड़ादायक होते है, मुसीबत होते है, पराया होते है, भंग होते है, शून्य होते है, अनात्म होते है।' और वह चित्त को कही और झुकाने के बारे में सोचता है।

तब वह चित्त को **अमृतधातु** की ओर झुकाता है [सोचते हुए] यही शान्ति है! यही सर्वोत्कृष्ट है!—सभी रचनाओं का रुक जाना! सभी अर्जित वस्तुओं का परित्याग! तृष्णा का अंत! वैराग्य निरोध निर्वाण!'

तब वही ठहरे हुए उसका चित्त **बहाव के थमने तक** पहुँचता है। यदि न पहुँचे, तो '**धर्म-राग, धर्म-ख़ुशी**' के ज़रिए, और निचले **पाँच संयोजन** टूटने से उसका वहाँ प्रकट होना अपेक्षित होता है, जहाँ से दुबारा न लौटकर, वही परिनिवृत होते है।

— इस तरह बहाव का थमना द्वितीय-झान... तृतीय-झान... चतुर्थ-झान... आकाश-आयाम... चैतन्यता-आयाम... सूने-आयाम के आधार पर होता है।

इस तरह जिस अवस्था तक नज़रिया उपलब्ध होता हो, वहाँ तक परमज्ञान भेदा जाता है। हालाँकि यह दो आयाम—'न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम, और नज़रिया-संवेदना-**निरोध अवस्था'**—मैं कहता हूँ, वही ध्यानी भिक्षु भली-भाँति समझा सकते है, जो उस अवस्था में **प्रवेश पाने में कुशल** हो, उससे बाहर **निकलने में कुशल** हो, और जो उन अवस्थाओं का आधार लेकर आगे **निकल भी चुके** हो। [अर्थात, ध्यानी भिक्षु का मार्गदर्शन ले।]

«अं.नि.९:३६»

* * *

सोण ओवाद

[भन्ते सोण शीतलवन में निर्लिप्त एकांतवास में साधना कर रहे थे। अत्याधिक चंक्रमण-ध्यान करने से उनके कोमल तलवें फट गए, और रक्तस्त्राव होने लगा]

तब उनके मानस में विचारों का सिलसिला उठा—'भगवान के जो श्रावक ज़ोर लगाकर साधना करते है, मैं उनमें से एक हूँ। किंतु मेरा मानस «चेतस» आधार-रहित हो बहावमुक्त नहीं हो पाया! मेरे परिवार के पास धनसंपत्ति है। यह संभव है कि मैं भोग करते हुए दानपुण्य भी अर्जित करूँ! मैं क्यों न शिक्षा त्यागकर तुच्छ गृहस्थी-जीवन में लौट जाऊँ, और भोग करते हुए दानपुण्य भी अर्जित करूँ?'

उस समय भगवान गृद्धकूट पर्वत पर रहते थे। तब उन्होंने अपने मानस से भन्ते सोण के मानस में विचारों का सिलसिला उठते हुए जान लिया। और तब—जैसे कोई बलवान पुरुष अपनी सिकोड़ी-बाँह पसारे, या पसारी-बाँह सिकोड़े—वैसे ही भगवान गृद्धकूट पर्वत से गायब हुए और शीतलवन में ठीक भन्ते सोण के आगे प्रकट हुए, तथा बिछे आसन पर बैठ गए। भन्ते सोण ने भगवान को अभिवादन किया, और एक-ओर बैठ गए। तब भगवान ने कहा—

क्या अभी-अभी तुम्हारे मानस में विचारों का यह सिलसिला नही उठा—'भगवान के जो श्रावक ज़ोर लगाकर साधना करते है, मैं उनमें से एक हूँ। किंतु मेरा मानस आधार-रहित हो बहावमुक्त नहीं हो पाया! मेरे परिवार के पास धनसंपत्ति है। यह संभव है कि मैं भोग करते हुए दानपुण्य भी अर्जित करूँ! मैं क्यों न शिक्षा त्यागकर तुच्छ गृहस्थी-जीवन में लौट जाऊँ, और भोग करते हुए दानपुण्य भी अर्जित करूँ?'

'हाँ, भन्ते।"

तो क्या लगता है, सोण? क्या तुम पूर्व गृहस्थी-जीवन में वीणा बजाने में कुशल थे?

'हाँ, भन्ते।"

...जब तुम्हारी वीणा के तार बहुत **कसे** होते थे, क्या तब तुम्हारी वीणा उचित सुर में बजती थी?

'नही, भन्ते।"

...और जब तुम्हारी वीणा के तार बहुत **ढ़ीले** होते थे, क्या तब तुम्हारी वीणा उचित सुर में बजती थी?

'नही, भन्ते।"

...तो जब तुम्हारी वीणा के तार न बहुत कसे, न बहुत ढ़ीले, बल्कि **सम** होते थे, क्या तब तुम्हारी वीणा उचित सुर में बजती थी?

'हाँ, भन्ते।"

उसी तरह सोण, अतिउत्तेजित ऊर्जा 'बेचैनी' लाती है, जबकि अतिमन्द ऊर्जा 'सुस्ती'। इसलिए तुम्हें अपनी ऊर्जा का **सम्यक-सुर** बाँधना चाहिए, [पाँच] इंद्रियों की सुर उससे मिलाना चाहिए, और तब अपना निमित्त पकड़ना चाहिए।

'ठीक है, भन्ते।"

तब भन्ते सोण को निर्देश देकर भगवान—जैसे कोई बलवान पुरुष अपनी सिकोड़ी-बाँह पसारे, या पसारी-बाँह सिकोड़े—वैसे ही शीतलवन से गायब हुए और गृद्धकूट पर्वत पर प्रकट हुए।

तत्पश्चात भन्ते सोण ने अपनी ऊर्जा का सम्यक-सुर बाँधा, [पाँच] इंद्रियों का सुर उससे मिलाया, और तब अपना निमित्त पकड़ा।

तब निर्लिप्त एकांतवास में वह फ़िक्रमन्द सचेत व दृढ़निश्चयी होकर रहते हुए, ब्रह्मचर्य की सर्वोच्च मंज़िल पर पहुँचकर स्थित हुए, जिसके लिए कुलपुत्र वाक़ई घर से बेघर होकर प्रवज्यित होते है। उन्होंने स्वयं जाना और साक्षात्कार किया। उन्हें पता चला—'जन्म समाप्त हुए! ब्रह्मचर्य परिपूर्ण हुआ! काम पुरा हुआ! अभी यहाँ करने के लिए कुछ बचा नही!' और इस तरह भन्ते सोण [अनेक] अरहंतों में से एक हुए।

«अं.नि.६:५५»

* * *

निमित्त

जब भिक्षु चित्त ऊँचा उठाने «अधिचित्त» का मन बनाए, उसे समय-समय पर **तीन आलंबनों** «निमित्त» पर ध्यान देना चाहिए।

उसे समय-समय पर 'समाधि आलंबन' पर ध्यान देना चाहिए। उसे समय-समय पर 'ऊर्जा-संचार «पग्गह» आलंबन' पर ध्यान देना चाहिए। उसे समय-समय पर 'तटस्थता आलंबन' पर ध्यान देना चाहिए।

चित्त ऊँचा उठाने का मन बनाए भिक्षु यदि केवल **समाधि आलंबन** पर ही ध्यान दे, तो हो सकता है उसका चित्त तत्पश्चात आलस्य से भर उठे। यदि वह केवल **ऊर्जा-संचार आलंबन** पर ही ध्यान दे, तो हो सकता है उसका चित्त तत्पश्चात व्याकुलता से भर उठे। यदि वह केवल **तटस्थता आलंबन** पर ही ध्यान दे, तो हो सकता है उसका चित्त बहाव थामने के लिए सम्यकसमाधि में स्थिर न हो पाए।

किंतु जब भिक्षु समय-समय पर समाधि आलंबन पर ध्यान दे, समय-समय पर ऊर्जा-संचार आलंबन पर ध्यान दे, समय-समय पर तटस्थता आलंबन पर ध्यान दे—तब उसका चित्त मृदु, काम करने योग्य, चमकीला हो जाता है; भंगुर नही बचता। तब बहाव थामने के लिए उसका चित्त सम्यकसमाधि में स्थिर हो पाता है।

कल्पना करो कि कोई सुनार अग्निभट्टी प्रज्वलित करें। अग्नि-भट्टी भड़काकर उसमें पात्र तपाए। चिमटे से स्वर्ण उठाकर तपाए पात्र में डाल दे। तब समय-समय पर धौंकनी से फूँके, समय-समय पर जल छिड़के, समय-समय पर गौर से देखें।

अब यदि वह धौंकनी से मात्र फूँकते ही रहे, तो हो सकता है स्वर्ण जलकर भस्म हो जाए। यदि वह मात्र जल छिड़कते ही रहे, तो हो सकता है स्वर्ण ठंडा पड़ जाए। यदि वह मात्र गौर से देखते ही रहे, तो हो सकता है स्वर्ण कभी परिशुद्ध न हो पाए।

किंतु जब वह समय-समय पर धौंकनी से फूँकता भी है, समय-समय पर जल भी छिड़कता है, समय-समय पर गौर से भी देखता है—तब जाकर स्वर्ण मृदु, काम करनेयोग्य, चमकीला हो जाता है; भंगुर नही बचता। बल्कि ढालनेयोग्य तैयार हो जाता है। तब सुनार जो आभूषण, जैसे कमरपट्टा कर्णफूल कंठहार या चेन बनाना चाहे, स्वर्ण उसकी उद्देश्यपूर्ति करेंगा।

उसी तरह चित्त ऊँचा उठाने का मन बनाए भिक्षु को समय-समय पर तीन आलंबनों पर ध्यान देना चाहिए—उसे समय-समय पर समाधि-आलंबन पर ध्यान देना चाहिए। उसे समय-समय पर ऊर्जा-संचार आलंबन पर ध्यान देना चाहिए। उसे समय-समय पर तटस्थता-आलंबन पर ध्यान देना चाहिए।

«अं.नि.३:१०३»

* * *

देवदह

चेष्ठा कैसे सफ़ल होती है, **उद्यम** «पधान» कैसे सफ़ल होता है?

यदि किसी भिक्षु [पृथ्वी या अग्निधातु प्रभुतावाले के सुखद प्रगतिपथ] पर दर्द का बोझ न पड़ा हो, तो वह स्वयं [ज़बरदस्ती] दर्द का बोझ उठाकर नही दबता। न ही वह ऐसा [झान] सुख ठुकरा देता है, जो धर्मानुसार प्रकट हुआ हो। हालाँकि वह ऐसे सुख से आसक्त भी नही होता। वह समझता है कि—'जब मैं दुःख के स्त्रोत के विरुद्ध उद्यमता रचता हूँ, तब उस उद्यम-रचना के सहारे वैराग्य आता है। तथा जब मैं दुःख के कारण को तटस्थता से देखता हूँ, तब उस तटस्थता-अभ्यास के सहारे वैराग्य आता है।'

तब वह दुःख के [प्रथम] कारण के विरुद्ध उद्यमता रचता है, तथा [द्वितीय] कारण को तटस्थता से देखता है... तब [प्रथमकारण से उत्पन्न] दुःख समाप्त हो जाता है... और [द्वितीयकारण से उत्पन्न] दुःख भी समाप्त हो जाता है।

— जैसे कोई पुरुष किसी स्त्री में प्रेमासक्त हो। और उसका चित्त स्त्री के प्रति तीव्र चाह, तीव्र दिलचस्पी की गिरफ्त में हो। तब वह उस स्त्री को अन्य पुरुष के साथ खड़ा देखें—गपशप करते, मज़ाक करते, हँसते हुए। तो तुम्हें क्या लगता है, भिक्षुओं? क्या उसमें शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा उत्पन्न होगी?

'ज़रूर होगी, भन्ते!"

तब कल्पना करो कि बाद में उसे लगे—'मैं इस स्त्री में प्रेमासक्त हूँ... मैं जब उसे अन्य पुरुष के साथ खड़ा देखता हूँ—गपशप करते, मज़ाक करते, हँसते हुए—तब मुझमें शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा उत्पन्न होती है। क्यों न मैं उस स्त्री के प्रति **चाह व दिलचस्पी** त्याग दूँ?"

— तब वह उस स्त्री के प्रति 'चाह व दिलचस्पी' त्याग देता है। और तत्पश्चात स्त्री को पुरुष के साथ खड़ा देखता है—गपशप करते, मज़ाक करते, हँसते हुए। तुम्हें क्या लगता है, भिक्षुओं? क्या अब उसमें शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा उत्पन्न होगी?

'नही होगी, भन्ते!"

उसी तरह किसी भिक्षु पर यदि दर्द का बोझ न पड़ा हो, तो वह स्वयं दर्द का बोझ उठाकर नही दबता। न ही वह ऐसा सुख ठुकरा देता है, जो धर्मानुसार प्रकट हुआ हो। ... तब वह दुःख के [प्रथम] कारण के विरुद्ध उद्यमता रचता है, तथा [द्वितीय] कारण को तटस्थता से देखता है... तब [प्रथमकारण से उत्पन्न] दुःख समाप्त हो जाता है... और [द्वितीयकारण से उत्पन्न] दुःख भी समाप्त हो जाता है।

तत्पश्चात कोई अन्य भिक्षु [=जल या वायुधातु-प्रभुतावाला] गौर करता है—'जब मैं सुख-सुविधा में जीता हूँ, तब मेरे अकुशल स्वभाव बढ़ने लगते है, और कुशल घटने। किंतु जब मैं दुःख-दर्द के साथ उद्यम करता हूँ, तब मेरे अकुशल स्वभाव घटने लगते है, और कुशल बढ़ने। क्यों न मैं दुःख-दर्द के साथ ही उद्यम करूँ?"

तब वह दुःख-दर्द के साथ उद्यम करता है। तब उसमें अकुशल स्वभाव घटने लगते है, और कुशल बढ़ने। तत्पश्चात वह दुःख-दर्द के साथ उद्यम नही करेंगा, क्योंकि जिस ध्येय से वह दुःख-दर्द के साथ उद्यम कर रहा था, वह पा लिया…

कल्पना करो कि कोई तीरंदाज अपने तीर को दो अग्नि-लौ के बीच गर्म तपाकर सीधा व लचीला बनाता हो। तत्पश्चात वह अपने तीर को दो अग्नि-लौ के बीच गर्म तपाकर सीधा व लचीला नही बनाएगा, क्योंकि जिस ध्येय से वह तीर को गर्म तपा रहा था, वह पा लिया…

उसी तरह तत्पश्चात भिक्षु दुःख-दर्द के साथ उद्यम नही करेंगा, क्योंकि जिस ध्येय से वह दुःख-दर्द के साथ उद्यम कर रहा था, वह पा लिया।

«मा.नि.१०१»

* * *

[चतुर्थ-झान प्राप्त होने के पश्चात] मात्र **तटस्थता** बचती है—परिशुद्ध उजालेदार मृदुल ढ़ालनेयोग्य व चमकीली।

कल्पना करो कि कोई सुनार अग्निभट्टी प्रज्वलित करें। अग्निभट्टी भड़काकर उसमें पात्र तपाए। चिमटे से स्वर्ण उठाकर तपाए पात्र में डाल दे। तब समय-समय पर धौंकनी से फूँके, समय-समय पर जल छिड़के, समय-समय पर गौर से देखें। ताकि स्वर्ण शुध्द हो जाए, परिशुद्ध हो जाए, अत्यंत परिशुद्ध हो जाए, निर्दोष हो जाए, धातुमल से मुक्त हो जाए, मृदुल ढ़ालनेयोग्य व उजालेदार हो जाए। तब सुनार जो आभूषण, जैसे कमरपट्टा कर्णफूल कंठहार या चेन बनाना चाहे, स्वर्ण उसकी उद्देश्यपूर्ति करेंगा।

उसी तरह मात्र तटस्थता बचती है—परिशुद्ध उजालेदार मृदुल ढ़ालनेयोग्य व चमकीली। तब भिक्षु को पता चलता है कि 'यदि इस 'परिशुद्ध व उजालेदार' तटस्थता को मैं 'अनंत आकाश-आयाम' की ओर मोड़ दूँ, तो मेरा चित्त उस दिशा में विकसित होगा, और मेरी तटस्थता उसका आधार व पोषण लेकर लंबे समय तक टिक जाएगा। किंतु वह **रचित** होगा!'

तब **अस्तित्व** बनाने या मिटाने के लिए वह न कुछ रचता है, न कोई इच्छा करता है। ऐसा होने पर वह दुनिया में किसी का आधार नही लेता। वह आधार न लेने पर चंचल नही होता। तब वह **अविचल** होकर भीतर ही भीतर परिनिवृत हो जाता है। उसे पता चलता है—'जन्म समाप्त हुए! ब्रह्मचर्य परिपूर्ण हुआ! काम पुरा हुआ! अभी यहाँ करने के लिए कुछ बचा नही!'

«मा.नि.१४०»

* * *

गावी

कल्पना करो कि एक पहाड़ी गाय हो—मूर्ख, अनुभवहीन, चारागाह से अपरिचित, ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी पर टहलने में अकुशल। और वह सोचे—'मैं क्यों न ऐसी दिशा जाऊँ, जहाँ कभी न गई हो। ऐसा चारा खाऊँ, जो कभी न खाया हो। ऐसा जल पीऊँ, जो कभी न पीया हो!'

तब [जल्दबाज़ी में] वह अगले पाँव बिना दृढ़तापूर्वक रखे ही अपनी पिछली टाँगे उठा लेती है, और [परिणामतः] ऐसी दिशा न जा पाती, जहाँ कभी न गई हो। ऐसा चारा न खा पाती, जो कभी न खाया हो। ऐसा जल न पी पाती, जो कभी न पीया हो। और... उसकी पूर्व जगह पर भी सुरक्षित नही लौट पाती। ऐसा क्यों? क्योंकि वह गाय मूर्ख, अनुभवहीन, चारागाह से अपरिचित, ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी पर टहलने में अकुशल है।

उसी तरह कोई भिक्षु मूर्ख, अनुभवहीन, चारागाह से अपरिचित होता है। वह **प्रथम-ध्यान** में प्रवेश करने में अकुशल होता है। वह आलंबन «निमित्त» नही पकड़ता, उसकी साधना नही करता, बार-बार नही करता, या स्वयं को उसमें स्थापित नही करता। उसे [समय से पूर्व ही] लगता है—'मैं क्यों न **द्वितीय-ध्यान** में प्रवेश कर रहूँ?'

तब वह... द्वितीय-ध्यान में प्रवेश नही कर पाता। तब उसे लगता है—'मैं क्यों न प्रथम-ध्यान में ही लौट जाऊँ?' किंतु वह... प्रथम-ध्यान में भी प्रवेश नही कर पाता।

ऐसे भिक्षु को कहते है कि वह दोनों-ओर से फ़िसलकर गिर पड़ा—ठीक उसी पहाड़ी गाय की तरह, जो मूर्ख, अनुभवहीन, चारागाह से अपरिचित, ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी पर टहलने में अकुशल है।

अब कल्पना करो कि दूसरी पहाड़ी गाय हो—समझदार, अनुभवी, चारागाह से परिचित, ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी पर टहलने में कुशल। और वह सोचे, 'मैं क्यों न ऐसी दिशा जाऊँ, जहाँ कभी न गई हो। ऐसा चारा खाऊँ, जो कभी न खाया हो। ऐसा जल पीऊँ, जो कभी न पीया हो!'

वह अगले पाँव दृढ़तापूर्वक रखने पश्चात ही पिछली टाँगे उठाती है, और [परिणामतः] ऐसी दिशा जा पाती है, जहाँ कभी न गई हो। ऐसा चारा खा पाती है, जो कभी न खाया हो। ऐसा जल पी पाती है, जो कभी न पीया हो।

और... वह पूर्व जगह पर भी सुरक्षित लौट पाती है। ऐसा क्यों? क्योंकि वह गाय समझदार, अनुभवी, चारागाह से परिचित, ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी पर टहलने में कुशल है।

उसी तरह ऐसा होता है कि कोई भिक्षु—समझदार, अनुभवी, चारागाह से परिचित—... प्रथम-ध्यान में प्रवेश कर रहने में कुशल होता है। तब भिक्षु वह आलंबन पकड़ता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है, स्वयं को उसमें दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है। तब उसे लगता है—'अब मैं क्यों न द्वितीय-ध्यान में प्रवेश कर रहूँ?'

तब भिक्षु द्वितीय-झान में **छलाँग नही लगाता।** बल्कि सोच व विचार शान्त होने देता है, और तत्पश्चात द्वितीय-झान में प्रवेश करता है। तब वह आलंबन पकड़ता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है, स्वयं को उसमें दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है। तब उसे लगता है—'अब मैं क्यों न तृतीय-झान में प्रवेश कर रहूँ?'

तब भिक्षु तृतीय-झान में **छलाँग नही लगाता।** बल्कि समाधि से जन्मी प्रफुल्लता को शान्त होने देता है, और तत्पश्चात तृतीय-झान में प्रवेश करता है। तब वह आलंबन पकड़ता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है, स्वयं को उसमें दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है। तब उसे लगता है—'अब मैं क्यों न चतुर्थ-झान में प्रवेश कर रहूँ?'

तब वह चतुर्थ-झान में **छलाँग नही लगाता।** बल्कि समाधि से जन्में सुख से विरक्ति लेता है, और तत्पश्चात चतुर्थ-झान में प्रवेश करता है। तब वह आलंबन पकड़ता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है, स्वयं को उसमें दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है। तब उसे लगता है—'अब मैं क्यों न रुप नज़रिए पूर्णतः लाँघकर, विरोधी नज़रिए ओझल होने पर, विविध नज़रियों पर ध्यान न देकर—'आकाश अनंत है' [देखते हुए] अनंत आकाश-आयाम में प्रवेश कर रहूँ?'

तब वह अनंत आकाश-आयाम में **छलाँग नही लगाता।** बल्कि अनंत आकाश-आयाम में [शांति से] प्रवेश करता है। तब वह आलंबन पकड़ता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है, स्वयं को उसमें दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है। तब उसे लगता है—'अब मैं क्यों न अनंत आकाश-आयाम पूर्णतः लाँघकर, 'चैतन्यता अनंत है' [देखते हुए] अनंत चैतन्यता-आयाम में प्रवेश कर रहूँ?'

तब वह अनंत चैतन्यता-आयाम में **छलाँग नही लगाता।** बल्कि अनंत चैतन्यता-आयाम में [शांति से] प्रवेश करता है। तब वह आलंबन पकड़ता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है, स्वयं को उसमें दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है। तब उसे लगता है—'अब मैं क्यों न अनंत चैतन्यता-आयाम पूर्णतः लाँघकर, 'कुछ नही है' [देखते हुए] सूने-आयाम में प्रवेश कर रहूँ?'

तब वह सूने-आयाम में **छलाँग नही लगाता।** बल्कि सूने-आयाम में [शांति से] प्रवेश करता है। तब वह आलंबन पकड़ता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है, स्वयं को उसमें दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है। तब उसे लगता है—'अब मैं क्यों न सूना-आयाम पूर्णतः लाँघकर, न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम में प्रवेश कर रहूँ?'

तब वह न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम में **छलाँग नही लगाता।** बल्कि न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम में [शांति से] प्रवेश करता है। तब वह आलंबन पकड़ता है, उसकी साधना करता है, बार-बार करता है, स्वयं को उसमें दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है। तब उसे लगता है—'अब मैं क्यों न न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम पूर्णतः लाँघकर नज़रिया-संवेदना-निरोध में प्रवेश कर रहूँ?'

तब वह नज़रिया-संवेदना-निरोध में **छलाँग नही लगाता।** बल्कि नज़रिया-संवेदना-निरोध में [शांति से] प्रवेश करता है। जब कोई भिक्षु इस अवस्था में प्रवेश करता और निकलता है, तब उसका चित्त मृदु व काम करनेयोग्य होता है। उसके मृदु व काम करनेयोग्य चित्त के साथ ही **अपरिमित-समाधि** सुविकसित होती है। जब उसकी समाधि सुविकसित व अपरिमित हो जाए, तब वह आयाम खुलते ही छह विशिष्ट-ज्ञानों में जिसे जानने, प्राप्त करने की ओर चित्त मोड़े, स्वयं साक्षात्कार कर सकता है।

«अं.नि.९:३५»

* * *

सारिपुत्त उदाहरण

भगवान —

भिक्षुओं, सारिपुत्त अंतर्ज्ञानी है, महा-अंतर्ज्ञानी है, गहरा-अंतर्ज्ञानी है, विस्तृत-अंतर्ज्ञानी है, आश्वस्त-अंतर्ज्ञानी है, तीव्र-अंतर्ज्ञानी है, तेज़-अंतर्ज्ञानी है, भेदक-अंतर्ज्ञानी है।

ऐसा हुआ कि सारिपुत्त ने... **प्रथम-झान** में प्रवेश किया। तब प्रथम-झान में जो स्वभाव होते है—सोच, विचार, प्रफुल्लता, सुख, चित्त की एकाग्रता, संपर्क, संवेदना, नज़रिया, इरादा, चैतन्यता, चाह, निर्णय «अधिमोक्ख», ऊर्जा, स्मरणशीलता, तटस्थता, और गौर करना «मनसिकार»—सभी स्वभाव उसने एक-एक कर ढूँढ़ निकाले। उसको वे स्वभाव **उत्पन्न होते** हुए पता चले, **स्थित होते** हुए पता चले, **व्यय होते** हुए पता चले। तब उसे पता चला कि—'पूर्व न होकर तब उनका सिलसिला इस तरह चल पड़ता है [=उत्पत्ति]। और पूर्व हो, तब वे इस तरह विलुप्त हो जाते हैं।'

तब सारिपुत्त उन स्वभावों से बिना आकर्षित हुए, बिना प्रतिकर्षित हुए—स्वतंत्र, निर्लिप्त, विमुक्त, अलगावपूर्ण व बिना अवरोधपूर्ण चित्त के साथ रहा। तब उसे लगा कि 'निकलने का आगे मार्ग है!' उसे आगे बढ़ने पर पता चला कि वाक़ई निकलने का मार्ग उपलब्ध था।

तब सोच व विचार रुकने पर सारिपुत्त ने **द्वितीय-झान** में प्रवेश किया। तब द्वितीय-झान में जो स्वभाव होते है—भीतरी विश्वास, प्रफुल्लता, सुख... ...

तब प्रफुल्लता के शांत होनेपर सारिपुत्त ने **तृतीय-झान** में प्रवेश किया... **चतुर्थ-झान** में प्रवेश किया... **आकाश-आयाम** में प्रवेश किया... **चैतन्यता-आयाम** में प्रवेश किया... **सूने-आयाम** में प्रवेश किया... **न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम** में प्रवेश किया। सारिपुत्त को उस अवस्था से स्मृतिपूर्वक निकलने पर, पूर्व विलुप्त हुए या बदल चुके स्वभावों के बारे में पता चला। तब उसे पता चला कि—'पूर्व न होकर तब उनका सिलसिला इस तरह चल पड़ता है। और पूर्व हो, तब वे इस तरह विलुप्त हो जाते हैं।'

तब सारिपुत्त उन स्वभावों से बिना आकर्षित हुए, बिना प्रतिकर्षित हुए—स्वतंत्र, निर्लिप्त, विमुक्त, अलगावपूर्ण व बिना अवरोधपूर्ण चित्त के साथ रहा। तब उसे लगा कि 'निकलने का आगे मार्ग है!' उसे आगे बढ़ने पर पता चला कि वाक़ई निकलने का मार्ग उपलब्ध था।

तब सारिपुत्त ने न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम पूर्णतः लाँघकर नज़रिया-संवेदना **निरोध अवस्था** में प्रवेश किया। और जब उसने अन्तर्ज्ञानपूर्वक देखा, तो उसके सारे बहाव थम गए!

सारिपुत्त को उस अवस्था से स्मृतिपूर्वक निकलने पर, पूर्व विलुप्त हुए या बदल चुके स्वभावों के बारे में पता चला। तब उसे पता चला कि—'पूर्व न होकर तब उनका सिलसिला इस तरह चल पड़ता है। और पूर्व हो, तब वे इस तरह विलुप्त हो जाते हैं।'

तब सारिपुत्त उन स्वभावों से बिना आकर्षित हुए, बिना प्रतिकर्षित हुए—स्वतंत्र, निर्लिप्त, विमुक्त, अलगावपूर्ण व बिना अवरोधपूर्ण चित्त के साथ रहा। तब उसे लगा कि 'अब इससे आगे निकलने का मार्ग नहीं!' उसे आगे बढ़ने पर पता चला कि वाक़ई निकलने का मार्ग उपलब्ध **नहीं** था!

यदि कोई किसी व्यक्ति का वर्णन करते हुए कहे कि 'उसने 'आर्यशील' में महारत व परिपूर्णता हासिल की... 'आर्यसमाधि' में... 'आर्यअन्तर्ज्ञान' में... 'आर्यविमुक्ति' में महारत व परिपूर्णता हासिल की'—तब ऐसा वर्णन **सारिपुत्त** का सही रहेगा!

... तथागत द्वारा घुमाए सर्वोपरि **धर्मचक्र** को वाक़ई सारिपुत्त सही तरह से घुमाते जा रहा है!

«मा.नि.१११»

* * *

सप्तधातु

यह **सात धातुएं** होती हैं—उजाला धातु, आकर्षण धातु, अनंत आकाश-आयाम धातु, अनंत चैतन्यता-आयाम धातु, सूना-आयाम धातु, न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम धातु, नज़रिया-संवेदना-निरोध धातु।

'भगवान, किसका आधार लेकर यह धातुएं समझी जाती है?"

— अँधेरे का आधार लेकर **उजाला** धातु समझी जाती है। अनाकर्षक का आधार लेकर **आकर्षण** धातु समझी जाती है। रूप का आधार लेकर **अनंत आकाश-आयाम** धातु समझी जाती है। अनंत आकाश-आयाम का आधार लेकर **अनंत चैतन्यता-आयाम** धातु समझी जाती है। अनंत चैतन्यता-आयाम का आधार लेकर **सूना-आयाम** धातु समझी जाती है। सूने-आयाम का आधार लेकर **न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम** धातु समझी जाती है। निरोध का आधार लेकर **नज़रिया-संवेदना-निरोध** धातु समझी जाती है।

'भगवान, इन धातु-अवस्था तक कैसे पहुँचा जाता है?"

— उजाला.. आकर्षण.. अनंत आकाश-आयाम.. अनंत चैतन्यता-आयाम.. सूना-आयाम—यह पाँच धातुएं **नज़रियों की उपलब्धि** द्वारा पहुँची जाती है। 'न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम धातु' **रचनाओं के शेष** होने से पहुँची जाती है। नज़रिया-संवेदना-निरोध धातु **निरोध की उपलब्धि** होने से पहुँची जाती है।

«सं.नि.१४:११»

* * *

अट्ठ विमोक्ख

महावत के नेतृत्व में दमनयोग्य हाथी एक ही दिशा में बढ़ता है—पूर्व पश्चिम उत्तर या दक्षिण... परंतु तथागत के नेतृत्व में दमनयोग्य पुरुष आठ दिशाओं [=विमोक्ष की आठ अवस्थाएँ] में बढ़ता है।

(१) वह रूपी होकर [=धातु-विशेष संवेदनाएँ महसूस कर] [बाहरी] रूप देखता है—यह प्रथम दिशा है।

(२) वह **भीतर से अरूप** नज़रियेवाला होकर [=स्वयं धातु-विशेषता लाँघकर] **बाहरी** [धातु-विशेष] **रूप** देखता है—यह द्वितीय दिशा है।

(३) वह मात्र **अच्छाई** की ओर मुड़ता है—यह तृतीय दिशा है।

(४) वह रूप नज़रिया पूर्णतः लाँघकर, विरोधी नज़रिए ओझल होने पर, विविध नज़रियों पर ध्यान न देकर, 'आकाश अनंत है' [देखते हुए] **अनंत आकाश-आयाम** में प्रवेश कर रहता है—यह चतुर्थ दिशा है।

(५) वह अनंत आकाश-आयाम पूर्णतः लाँघकर, 'चैतन्यता अनंत है' [देखते हुए] **अनंत चैतन्यता-आयाम** में प्रवेश कर रहता है—यह पाँचवी दिशा है।

(६) वह अनंत चैतन्यता-आयाम पूर्णतः लाँघकर, 'कुछ नही है' [देखते हुए] **सूने-आयाम** में प्रवेश कर रहता है—यह छठी दिशा है।

(७) वह सूना-आयाम पूर्णतः लाँघकर **न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम** में प्रवेश कर रहता है—यह सातवीं दिशा है।

(८) वह न-नज़रिया-न-अनज़रिया-आयाम पूर्णतः लाँघकर **नज़रिया-संवेदना-निरोध** में प्रवेश कर रहता है—यह आठवीं दिशा है।

— यह आठ विमोक्ष होते है। भिक्षु समाधि विकसित कर, बार-बार कर अन्ततः उनका साक्षात्कार करता है।

«मा.नि.१३७»

* * *

सच्छिकरणीय

भिक्षुओं, चार तरह से धर्मों का साक्षात्कार करना होता है। अपनी **काया से** धर्म का साक्षात्कार करना होता है। अपनी **स्मृति से** धर्म का साक्षात्कार करना होता है। अपनी **आँखों से** धर्म का साक्षात्कार करना होता है। तथा अपने **अन्तर्ज्ञान से** धर्म का साक्षात्कार करना होता है। किससे किस धर्म का साक्षात्कार करना होता है?

- अपनी **काया से आठ विमोक्षों** का साक्षात्कार करना होता है।
- अपनी **स्मृति से पूर्वजन्मों के स्मरण** का साक्षात्कार करना होता है।
- अपनी [दिव्य] **आँखों से सत्वों के गति ज्ञान** का साक्षात्कार करना होता है।
- अपने **अन्तर्ज्ञान से बहाव थमने** का साक्षात्कार करना होता है।

«अं.नि.४:१८९»

* * *

बाहिय, तुम्हें इस तरह सीखना चाहिए:

- **«दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति»** देखने में मात्र देखना ही होगा,
- **«सुते सुतमत्तं भविस्सति»** सुनने में मात्र सुनना ही होगा,
- **«मुते मुतमत्तं भविस्सति»** महसूस करने में मात्र महसूस करना ही होगा,
- **«विञ्ञाते विञ्ञातमत्तं भविस्सति»** जानने में मात्र जानना ही होगा।

जब तुम्हारे लिए ऐसा हो जाएगा—देखने में मात्र देखना, सुनने में मात्र सुनना, महसूस करने में मात्र महसूस करना, जानने में मात्र जानना—तब उन्हें लेकर [उन प्रक्रियाओं में कहीं] **'तुम'** नही हो। जब उन्हें लेकर तुम नही हो, तो तुम नही रहोगे। जब तुम नही हो—तब तुम न यहाँ, न वहाँ, न कहीं बीच में रहोगे! बस, यही अंत है दुःखों का!

«उदान १:१०»

★★★

संवेग ओवाद

१८

संवेग ओवाद

~ भगवान के कड़े, किंतु आवश्यक निर्देश ~

दसधम्म —

भिक्षुओं, दस धर्म होते है, जिनके प्रति प्रवज्यितों को हमेशा चिंतनशील रहना चाहिए। कौन से दस?

(१) मैं वर्ण [सामाजिक व्यवस्था] त्याग चुका हूँ।

(२) मेरी जीविका दूसरों के सहारे है।

(३) मुझे अपना [पुराना] आचरण बदलना होगा।

(४) क्या मैं अपने शील में त्रुटि निकाल सकता हूँ?

(५) क्या जानकार सब्रह्मचारी मेरे शील में त्रुटि निकाल सकते हैं?

(६) मैं अपने सभी प्रिय व मनचाहे लोगों से अन्ततः अलग हो जाऊँगा, दूर हो जाऊँगा।

(७) मैं अपने कर्मों का मालिक हूँ, अपने कर्मों का वारिस हूँ, अपने कर्मों से जन्मा हूँ, अपने कर्मों से संबंधित हूँ, अपने कर्मों पर निर्भर रहता हूँ। मैं जो कर्म करूँगा, कल्याण या पाप, उन्हीं का वारिस बनूँगा।

(८) दिन-रात बीत रहे हैं—मैं [दिन-ब-दिन] क्या बनते जा रहा हूँ?

(९) क्या मेरा मन एकांत जगह पर लगता है?

(१०) क्या वाकई मैंने कोई 'मनुष्योत्तर अवस्था' प्राप्त की—कोई विशेष आर्य ज्ञानदर्शन? ताकि मरते हुए सब्रह्मचारीयों के पूछने पर मुझे शर्मिंदगी न होगी।

— यह दस धर्म है भिक्षुओं, जिनके प्रति प्रवज्यितों को हमेशा चिंतनशील रहना चाहिए।

«अं.नि.१०:४८»

* * *

सप्पुरिस

कोई **सत्पुरुष** है या नहीं, यह चार गुणों से पता चलता हैं। कौन से चार?

(१) जब सत्पुरुष से पूछा जाए, तब भी वह दुसरे के **दुर्गुण** नहीं बताता। न पूछे जानेपर तो बात ही क्या! हालाँकि जब उसे प्रश्न पूछकर बाध्य किया जाए, तब वह दुसरे के दुर्गुण झिझकते हुए, कई छोड़ देते हुए, न पूर्णता से, न ही विवरण के साथ बताता है।

(२) जब सत्पुरुष से न पूछा जाए, तब भी वह दुसरे के **सदगुण** बताता है। पूछे जानेपर तो बात ही क्या! हालाँकि जब उसे प्रश्न पूछकर बाध्य किया जाए, तब वह दुसरे के सदगुण बिना झिझकते हुए, बिना छोड़ देते हुए, पूर्णता से, विवरण के साथ बताता है।

(३) जब सत्पुरुष से न पूछा जाए, तब भी वह स्वयं के दुर्गुण बताता है। पूछे जानेपर तो बात ही क्या! हालाँकि जब उसे प्रश्न पूछकर बाध्य किया जाए, तब वह स्वयं के दुर्गुण बिना झिझकते हुए, बिना छोड़ देते हुए, पूर्णता से, विवरण के साथ बताता है।

(४) जब सत्पुरुष से पूछा जाए, तब भी वह स्वयं के सदगुण नहीं बताता। न पूछे जानेपर तो बात ही क्या! हालाँकि जब उसे प्रश्न पूछकर बाध्य किया जाए, तब वह स्वयं के सदगुण झिझकते हुए, कई छोड़ देते हुए, न पूर्णता से, न ही विवरण के साथ बताता है।

— इन चार गुणों से पता चलता है कि कोई व्यक्ति **सत्पुरुष** है या नहीं। [असत्पुरुष ठीक इसके विपरीत करता है। इसके अलावा;]

• **असत्पुरुष** अकृतज्ञ होता है; एहसान फ़रामोश होता है। यह अकृतज्ञता, एहसान फ़रामोशी **असभ्य** लोगों में ही दिखाई पड़ती है। यह असत्पुरुषों का स्तर होता है।

• जबकि **सत्पुरुष** कृतज्ञ होता है, एहसानमंद होता है। यह कृतज्ञता, यह एहसानमंदी **सभ्य** लोगों में ही दिखाई पड़ता है। यह सत्पुरुषों का स्तर होता है।

• यह असंभव है! ऐसा नहीं हो सकता कि **असत्पुरुष** किसी असत्पुरुष को सही जान पाए कि 'यह असत्पुरुष है।' या किसी सत्पुरुष को भी सही जान पाए कि 'यह सत्पुरुष है।'

• यह संभव है! ऐसा हो सकता कि **सत्पुरुष** किसी असत्पुरुष को सही जान पाए कि 'यह असत्पुरुष है।' या किसी सत्पुरुष को भी सही जान पाए कि 'यह सत्पुरुष है।'

«मा.नि.११० + अं.नि.२:३१ + अं.नि.४:७३»

* * *

धातु-प्रवृत्ति

भिक्षुओं, धातु-प्रवृत्ति के अनुसार सत्वों में आपसी मेलमिलाप व सहचार्यता होती है। हीन-वृत्ति के लोग हीन-वृत्ति के लोगों से मेलमिलाप व सहचार्यता करते हैं। कल्याणकारी-वृत्ति के लोग कल्याणकारी-वृत्ति के लोगों से मेलमिलाप व सहचार्यता करते हैं।

अतीतकाल में धातु-प्रवृत्ति के अनुसार ही सत्वों में आपसी मेलमिलाप व सहचार्यता होती थी। हीन-वृत्ति के लोग हीन-वृत्ति के लोगों से... कल्याणकारी-वृत्ति के लोग कल्याणकारी-वृत्ति के लोगों से मेलमिलाप व सहचार्यता करते थे।

भविष्यकाल में धातु-प्रवृत्ति के अनुसार ही सत्वों में आपसी मेलमिलाप व सहचार्यता होगी। हीन-वृत्ति के लोग हीन-वृत्ति के लोगों से... कल्याणकारी-वृत्ति के लोग कल्याणकारी-वृत्ति के लोगों से मेलमिलाप व सहचार्यता करेंगे।

मेलमिलाप से पैदा झाड़-झंखाड़
कटता है अलग-थलग रहने से।
जैसे सवारी करें छोटे तख़्ते पर कोई
— डूब जाए वह महासमुद्र में।
वैसे ही साधु जीविका वाला कोई
डूब जाए साथ कर आलसी से।
इसलिए दूर रहों आलसियों से तुम
— जिनमें दृढ़प्रतिज्ञ हो कम।
सहवास करों आर्यजनों का तुम
निर्लिप्त दृढ़निश्चयी, तल्लीन रहे जो ध्यान में
ऊर्जा जिस पंडित की जगी सदा रहे।

«इतिवुत्तक ७८»

* * *

रातभर सोते रहना, दिन में मेलमिलाप में रमना,
कब, कब वह मुर्ख दुःखों का अंत करेंगा?

«थेरगाथा १:८४»

* * *

कल्याणमित्त

'भगवान, **अर्ध** ब्रह्मचर्य तो बस यही है—कल्याणमित्रता, कल्याण-सहचार्यता, कल्याण-बंधुत्व।"

ऐसा मत कहो, आनंद। ऐसा मत कहो। कल्याणमित्रता, कल्याण-सहचार्यता, कल्याण-बंधुत्व दरअसल **संपूर्ण** ब्रह्मचर्य है।

जब कोई भिक्षु कल्याणमित्रता, कल्याण-सहचार्यता, कल्याण-बंधुत्व में रहता हो, तब उससे अपेक्षा की जा सकती है कि वह 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' की साधना करेंगा, बार-बार करेंगा। कैसे?

ऐसा होता है कि भिक्षु सम्यकदृष्टि की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उसे भी त्याग देता है।

वह सम्यकसंकल्प की साधना... सम्यकवचन की साधना... सम्यककार्य की साधना... सम्यकजीविका की साधना... सम्यकमेहनत की साधना... सम्यकस्मृति की साधना... सम्यकसमाधि की साधना निर्लिप्तता के सहारे, वैराग्य के सहारे, निरोध के सहारे करता है, और अंततः उसे भी त्याग देता है।

— इस तरह वह भिक्षु कल्याणमित्रता, कल्याण-सहचार्यता, कल्याण-बंधुत्व में रहते हुए 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' की साधना करता है, बार-बार करता है।

और 'कल्याणमित्रता, कल्याण-सहचार्यता, कल्याण-बंधुत्व दरअसल संपूर्ण ब्रह्मचर्य है'—यह कोई इस तर्क से भी जान सकता है कि **मुझ जैसे कल्याणमित्र** के सहारे जन्म-स्वभाववाले अनेक सत्व जन्म-विमुक्त हुए... बुढ़ापा-स्वभाववाले अनेक सत्व बुढ़ापा-विमुक्त हुए... मौत-स्वभाववाले अनेक सत्व मृत्यु-विमुक्त हुए... शोक विलाप दर्द व्यथा नाराज़ी-स्वभाववाले अनेक सत्व शोक विलाप दर्द व्यथा नाराज़ी से विमुक्त हुए।

«सं.नि.४५:२»

* * *

लाभ सत्कार व कीर्ति भिक्षुओं, बड़ी निर्दयी होती है। योगबन्धन से सर्वोपरि राहत पाने में बड़ी, कठोर व तीक्ष्ण बाधा बनती है। क्या तुमने कल रात बूढ़े सियार को रोते सुना?

'हाँ, भन्ते।"

वह बूढ़ा सियार खुजली से परेशान है। उसे कही सुख नही मिलता—चाहे वह गुफ़ा में जाए, पेड़ तले जाए, या खुली जगह। वह जहाँ भी जाए, जहाँ भी खड़े रहे, जहाँ भी बैठे, जहाँ भी लेटे—हमेशा परेशान ही रहता है।

उसी तरह कोई भिक्षु 'लाभ सत्कार व कीर्ति' से पराभूत हो जाता है। उसका चित्त झुलस जाता है। उसे कही सुख नही मिलता—चाहे वह शून्यागार में जाए, पेड़ तले जाए, या खुली जगह। वह जहाँ भी जाए, जहाँ भी खड़े रहे, जहाँ भी बैठे, जहाँ भी लेटे—हमेशा परेशान ही रहता है।

इतनी निर्दयी होती है भिक्षुओं, 'लाभ सत्कार व कीर्ति'! योगबन्धन से सर्वोपरि राहत पाने में बड़ी, कठोर व तीक्ष्ण बाधा बनती है!

इसलिए भिक्षुओं, तुम्हें सीखना चाहिए—'जब भी हमें 'लाभ सत्कार व कीर्ति' मिल रही हो, हम उससे अलग हट जाएंगे। और जो 'लाभ सत्कार व कीर्ति' मिल चुकी हो, उससे अपना चित्त झुलसने नही देंगे।'

«सं.नि.१७:८»

* * *

वाचाकुसल

सायंकाल में भगवान ध्यान से उठकर वहाँ गये, जहाँ आयुष्मान राहुल थे। आयुष्मान राहुल ने भगवान को दूर से ही आते देखा। देखकर आसन बिछाया, और पैर धोने के लिये जल रखा। भगवान ने पैर बिछे आसन पर बैठकर धोये। आयुष्मान राहुल भगवान को अभिवादन कर एक-ओर बैठ गये।

तब भगवान ने थोडा-सा जल लोटे में छोड़, आयुष्मान राहुल को कहा—'राहुल, लोटे में बचा यह थोड़ा-सा जल देखते हो?"

'हाँ, भन्ते।"

जिन्हें जानबुझकर झूठ बोलने में लज्जा न आती हो, उनमें इस तरह **श्रमणत्व** थोड़ा-सा ही बचता है।

तब भगवान ने वह थोड़ा-सा जल भी फेंककर आयुष्मान राहुल को कहा—'देखा राहुल, वह थोड़ा-सा जल भी फेंक दिया गया?"

'हाँ, भन्ते!"

जिन्हें जानबूझकर झूठ बोलने में लज्जा न आती हो, उनमें थोड़ा-सा बचा श्रमणत्व भी इस तरह फेंक दिया जाता है।

तब भगवान ने लोटे को उलटा कर आयुष्मान राहुल को कहा—'राहुल, उलटे लोटे को देखते हो?"

'हाँ, भन्ते!"

जिन्हें जानबूझकर झूठ बोलने में लज्जा न आती हो, उनमें थोड़ा-सा बचा श्रमणत्व भी इस तरह उलटा हो जाता है।

तब भगवान ने लोटा सीधा कर आयुष्मान राहुल को कहा—'राहुल, खोखले लोटे को देखते हो?"

'हाँ, भन्ते!"

जिन्हें जानबूझकर झूठ बोलने में लज्जा न आती हो, उनमें थोड़ा-सा बचा श्रमणत्व भी इस तरह खोखला हो जाता है।

मैं कहता हूँ, जिन्हें जानबूझकर झूठ बोलने में लज्जा न आती हो, वह ऐसा कोई पाप नही, जो न करेंगा। इसलिये राहुल, तुम्हें ऐसा सीखना चाहिये कि 'हँसी-मज़ाक़ में भी झूठ नही बोलूँगा!'

«मा.नि.६१»

आनंद, जिन्हें इस धर्मविनय में आकर अधिक समय नही हुआ, उन्हें सिखाओ—'आवुसो, कम बोलो। सीमा बाँधकर बात करो!'

— इस तरह आनंद, उन्हें नाप-तौलकर बोलने में प्रेरित, स्थापित व प्रतिष्ठित करो।

«अं.नि.८:११४»

ऐसा योग्य नही है भिक्षुओं, कि अच्छे कुल-परिवार के पुत्र, श्रद्धा से प्रवज्यित होकर तुच्छ विषय पर बात करें। आपस में मिलने पर आपके दो कर्तव्य है—धर्मचर्चा या आर्यमौन।

«उदान २:२»

भिक्षुओं, यदि कोई मेरी, धर्म या संघ की **निंदा** करें, तब नफ़रत, विरोध और मन की नाख़ुशी योग्य नही। यदि मेरी, धर्म या संघ की निंदा सुनकर तुम कुपित या खिन्न हो जाओ, तो इसमें तुम्हारी ही हानि होगी... तब तुम्हें **सत्य-असत्य** पता करना चाहिए—'क्या यह बात सत्य नही, असत्य है? क्या हम लोगों में वाक़ई यह बात पायी नही जाती?'

उसी तरह यदि कोई मेरी, या धर्म की, या संघ की **प्रशंसा** करें, और तुम प्रसन्न या ख़ुश हो जाओ, तो इसमें भी तुम्हारी ही हानि होगी... तब भी तुम्हें **सत्य-असत्य** पता करना चाहिए—'क्या यह असत्य नही, बल्कि सत्य है? क्या हम लोगों में वाक़ई यह बात पायी जाती है?'

«दी.नि.१»

*** * ***

कालञ्ञुता

पोतलिय, दुनिया में चार तरह के लोग पाए जाते है। कौन-से चार?

(१) जो निन्दनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर निन्दा करता हो; किंतु प्रशंसनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर प्रशंसा न करता हो।

(२) जो प्रशंसनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर प्रशंसा करता हो; किंतु निन्दनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर निन्दा न करता हो।

(३) जो निन्दनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर निन्दा न करता हो; और प्रशंसनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर प्रशंसा भी न करता हो।

(४) जो निन्दनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर निन्दा करता हो; और प्रशंसनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर प्रशंसा भी करता हो।

— यह चार तरह के लोग दुनिया में पाए जाते हैं। पोतलिय, तुम्हें इन चारों में से कौन-सा व्यक्ति सर्वोत्तम लगता है?

'हे गोतम! मुझे इन चारों में से **तीसरा** व्यक्ति—'जो निन्दनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर निन्दा न करता हो; और प्रशंसनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर प्रशंसा भी न करता हो'—सर्वोत्तम लगता है। क्योकि «उपेक्खा» **तटस्थता धर्म** सर्वोत्तम है।"

किंतु **मुझे** पोतलिय, इन चारों में से चतुर्थ व्यक्ति—'जो निन्दनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर निन्दा करता हो; और प्रशंसनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर प्रशंसा भी करता हो'—सर्वोत्तम लगता है। क्योंकि «तत्थ तत्थ कालञ्ञुता» **यहाँ वहाँ समयसूचक ज्ञान** सर्वोत्तम है।

[पोतलिय ने चौककर दोहराया:]

'इन चारों में से चतुर्थ व्यक्ति—'जो निन्दनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर निन्दा करता हो; और प्रशंसनीय व्यक्ति की ईमानदारी से, मुद्दे के साथ सही समय देखकर प्रशंसा भी करता हो'—सर्वोत्तम लगता है। क्योंकि «तत्थ तत्थ कालञ्ञुता» **यहाँ वहाँ समयसूचक ज्ञान** सर्वोत्तम है। उत्तम, हे गोतम! अतिउत्तम! जैसे उलटे हुए को कोई सीधा करें, या छिपे हुए को कोई खोल दे, या भटके हुए को कोई मार्ग दिखाए, या अँधेरे में कोई दीप जलाकर दिखाए, जिससे अच्छी आँखोंवाला साफ़ देख पाए। उसी तरह आपने धर्म को अनेक तरह से स्पष्ट कर दिया। मैं गोतम की शरण जाता हूँ! धर्म एवं संघ की! आज से हे गोतम, मुझे जीवनकाल तक के लिए अपना उपासक धारण करें।"

«अं.नि.४:१००»

* * *

गधा

कल्पना करो भिक्षुओं, कोई गधा गायों के झुंड के पीछे-पीछे चल रहा हो, कहते हुए—'मैं भी गाय हूँ! मैं भी गाय हूँ!'

अब उसका 'रंग-रूप' गाय जैसा नही। उसकी 'आवाज़' गाय जैसी नही। उसके 'ख़ुर' गाय जैसे नही। तब भी वह गधा गायों के झुंड के पीछे-पीछे चलते रहता है, कहते हुए—'मैं भी गाय हूँ! मैं भी गाय हूँ!'

उसी तरह ऐसा होता है कि कोई भिक्षु भिक्षुसंघ के पीछे-पीछे चलने लगता है, कहते हुए—'मैं भी भिक्षु हूँ! मैं भी भिक्षु हूँ!'

अब उसमें दुसरे भिक्षुओं की तरह **शील** ऊँचा उठाने «अधिसील» की साधना के प्रति चाह नही होती। उसमें दुसरे भिक्षुओं की तरह **चित्त** ऊँचा उठाने «अधिचित्त» की साधना के प्रति चाह नही होती। उसमें दुसरे भिक्षुओं की तरह **अन्तर्ज्ञान** ऊँचा उठाने «अधिपञ्ञा» की साधना के प्रति चाह नही होती। तब भी वह भिक्षु भिक्षुसंघ के पीछे-पीछे चलते रहता है, कहते हुए—'मैं भी भिक्षु हूँ! मैं भी भिक्षु हूँ!'

तो भिक्षुओं, तुम्हें सीखना चाहिए—'हम शील ऊँचा उठाने की साधना के प्रति अपनी चाह तीव्र करेंगे। हम चित्त ऊँचा उठाने की साधना के प्रति अपनी चाह तीव्र करेंगे। हम अन्तर्ज्ञान ऊँचा उठाने की साधना के प्रति अपनी चाह तीव्र करेंगे।'

«अं.नि.३:८३»

* * *

अट्ठ महापुरिसवितक्क

भिक्षुओं, महापुरुष की आठ सोच होती है कि—

(१) यह धर्म **अल्प इच्छुक** लोगों का हैं, भव्य इच्छुकों का नहीं!

(२) यह धर्म **संतुष्ट** लोगों का हैं, असंतुष्टों का नहीं!

(३) यह धर्म **एकांतप्रेमी** लोगों का हैं, लोगों में रमनेवालों का नहीं!

(४) यह धर्म **ऊर्जावान** लोगों का हैं, आलसी निठ्ठलों का नहीं!

(५) यह धर्म **स्मरणशीलवान** लोगों का हैं, भुलक्कड़ लोगों का नहीं!

(६) यह धर्म **समाहित** लोगों का हैं, असमाधिस्थों का नहीं!

(७) यह धर्म **अंतर्ज्ञानी** लोगों का हैं, दुर्बुद्धिवालों का नहीं!

(८) यह धर्म **सुलझन** चाहनेवाले व सुलझन में रमनेवाले लोगों का हैं, उलझन «पपञ्च» [या झमेला] चाहनेवाले, व उलझनों में रमनेवालों का नहीं!

«अं.नि.८:३०»

* * *

समण जीविका

भिक्षुओं, भिक्षाटन करना निचले स्तर की जीविका है। 'जाओ, हाथ में कटोरा लेकर भीख माँगते घूमो!'—ऐसा सुनना दुनिया में गाली के बराबर है। तब भी अच्छे कुल-परिवार से आए युवक अनिवार्य कारण से यह जीविका अपनाते है। जबकि उन्हें ऐसा करने के लिए किसी राजा या लुटेरे ने बाध्य नही किया—न ही कर्ज़ से, न ही भय से, और न ही जीविका बर्बाद होने से।

बल्कि उन्होंने सोचा—'हम जन्म बुढ़ापा मौत से घिरे है। शोक विलाप दर्द व्यथा निराशा, दुःख से घिरे, दुःख से अभिभूत है। काश! हमें इस दुःख-संग्रह का अंत पता चले!'

परंतु अच्छे कुल-परिवार से आए युवक श्रद्धा से प्रवज्यित होकर भी तत्पश्चात कामुकता के लिए लालायित हो जाते है, उनका राग बलवान हो जाता है, चित्त हिंसापूर्ण हो जाता है, संकल्प भ्रष्ट हो जाते है, धुँधली स्मरणशीलता, लापरवाही, एकाग्रहीनता, बिखरा हुआ चित्त, असंयमित इंद्रियाँ हो जाती है।

जैसे 'चिता में जलाई लकड़ी' हो—दोनों छोर से जली, बीच में टट्टी से सनी। ऐसी लकड़ी न गाँव ले जाते है, न जंगल। मैं कहता हूँ, ऐसे भिक्षु के लिए यही उपमा है—जिसने गृहस्थीभोग तो खो दिया, अब श्रमणध्येय भी पूरा नही करता।

गृहस्थीभोग तो खो दिया, और दुर्भाग्यशाली ने,
— श्रमणजीवन नाश किया, ध्येय भी फेक दिया!
नाश उसका भी होगा—जैसे लकड़ी चिता की हो!
पाप ही पाप करते वह नरक में उपजेगा!
बेहतर होगा निगलना लौहगोला—जलता धधकता!
बजाय निगले वह दुष्शील असंयमी देश की भिक्षा!

«इतिवुत्तक ९१»

* * *

धम्म परियत्ति

भिक्षुओं, ऐसा होता है कि कुछ **नालायक** लोग धर्म की पढ़ाई करते है—«सुत्त» वार्तालाप, «गेय्य» गद्य-पद्यवाला वर्णन, «वेय्याकरण» स्पष्टीकरण, «गाथा» पद्यगाथा, «उदान» सहज निकले उदगार, «इतिवुत्तक» उद्धरण, «जातक» जन्म-कथाएँ, «अब्भुतधम्म» अद्भुत घटनाएँ, «वेदल्ल» प्रश्नोत्तर सत्र।

किंतु स्व-अन्तर्ज्ञान से 'धर्मार्थ' जानने के लिए वह धर्म की पढ़ाई नहीं करते। स्व-अन्तर्ज्ञान से धर्मार्थ न जान, वे 'चिंतन-मनन' कर भी धर्म से सहमत नहीं होते।

धर्म की पढ़ाई वे मात्र **बहस जीतने के लिए** करते है—दूसरों पर हमला, और ख़ुद का बचाव करने के लिए। वह उस ध्येय तक नही पहुँचते, जिसके लिए वाक़ई धर्म की पढ़ाई की जाती है। धर्म को ग़लत तरह से पकड़ना उनकी दीर्घकालीन हानि व दुःख का कारण बनता है। क्यों? क्योंकि धर्म ग़लत तरह से पकड़ा गया।

कल्पना करो कि किसी पुरुष को जलसर्प की आवश्यकता हो, और वह जलसर्प ढूँढते हुए भटक रहा हो। उसे एक बड़ा जलसर्प दिखाई दे, जिसे वह कुंडल या पूँछ से पकड़े। तब जलसर्प पीछे पलटकर उसे हाथ, बाँह या किसी अंग को डस लेगा, जिससे पुरुष की मौत होगी, या मौत जैसी पीड़ा। क्यों? क्योंकि जलसर्प ग़लत तरह से पकड़ा गया।

उसी तरह ऐसा होता है कि कुछ नालायक लोग धर्म की पढ़ाई करते है... मात्र बहस जीतने के लिए... वे उस ध्येय तक नही पहुँचते, जिसके लिए वाक़ई धर्म की पढ़ाई की जाती है। धर्म को ग़लत तरह से पकड़ना उनकी दीर्घकालीन हानि व दुःख का कारण बनता है। क्यों? क्योंकि धर्म ग़लत तरह से पकड़ा गया।

किंतु कभी कोई श्रद्धालु कुलपुत्र धर्म की पढ़ाई करता है... धर्म की पढ़ाई कर, वह स्व-अन्तर्ज्ञान से धर्मार्थ पता करता है... और धर्म से सहमत हो जाता है। धर्म की पढ़ाई वह मात्र बहस जीतने के लिए नही करता—दूसरों पर हमला, और ख़ुद का बचाव करने के लिए नही। बल्कि वह उस ध्येय तक पहुँचता है, जिसके लिए वाक़ई धर्म की पढ़ाई की जाती है। धर्म को सही तरह से पकड़ना उसके दीर्घकालीन हित व सुख का कारण बनता है। क्यों? क्योंकि धर्म सही तरह से पकड़ा गया।

कल्पना करो कि किसी पुरुष को जलसर्प की आवश्यकता हो, और वह जलसर्प ढूँढते हुए भटक रहा हो। उसे एक बड़ा जलसर्प दिखाई दे, जिसका सिर वह दो-मुँहे डंडे से दृढ़तापूर्वक दबाए, और उसकी गर्दन मजबूती से दबोच ले। तब जलसर्प चाहे जितना उसकी बाँह लपेटे, उस कारण पुरुष की मौत या मौत जैसी पीड़ा न होगी। क्यों? क्योंकि जलसर्प को सही तरह से पकड़ा गया।

उसी तरह कोई श्रद्धालु कुलपुत्र धर्म की पढ़ाई करता है... वह स्व-अन्तर्ज्ञान से धर्मार्थ पता करता है... और धर्म से सहमत हो जाता है। धर्म की पढ़ाई वह मात्र बहस जीतने के लिए नही करता—दूसरों पर हमला, और ख़ुद का बचाव करने के लिए नही। बल्कि वह उस ध्येय तक पहुँचता है, जिसके लिए वाक़ई धर्म की पढ़ाई की जाती है। धर्म को सही तरह से पकड़ना उसके दीर्घकालीन हित व सुख का कारण बनता है। क्यों? क्योंकि धर्म सही तरह से पकड़ा गया।

«मा.नि.२२»

* * *

काषायवस्त्र पहना पथभ्रष्ट, जो न सच्चा हो
न आत्मसंयमी—काषाय-योग्य वह नही।
किंतु पथभ्रष्टता से छूटा, सच्चा आत्मसंयमी
शील में सुप्रतिष्ठित—काषाय-योग्य वाक़ई वही।

«धम्मपद ९, १०»

* * *

भिक्षुओं, जब तक आपमें कुशल धर्मों को लेकर श्रद्धा... लज्जा... फ़िक्र... ऊर्जा... और अन्तर्ज्ञान रहे, तब तक आप अकुशल नही बनते। किंतु जब वे गायब हो जाए, और श्रद्धाहीनता... निर्लज्जता... बेफ़िक्री... आलस्यता... और मूढ़ता राज करने लगे, तब आप अकुशल बनते है।

जो भिक्षु या भिक्षुणी धर्मशिक्षा त्यागकर तुच्छ गृहस्थी में लौटते हैं, वे पाँच न्यायपूर्ण कारणों से निंदा व फटकार के पात्र होते हैं। [उन्हें लोग कहते है:] 'तुम्हें कुशल धर्मों को लेकर श्रद्धा... लज्जा... फ़िक्र... ऊर्जा... और अन्तर्ज्ञान नही था!"

किंतु जो भिक्षु या भिक्षुणी परिपूर्णता व परिशुद्धता के साथ 'ब्रह्मचर्य' पालन करते हैं, [भले ही] दर्द व व्यथा में रोते हुए, आँसू भरे चेहरे के साथ—वे पाँच न्यायपूर्ण कारणों से प्रशंसा के पात्र होते हैं।

[उन्हें लोग कहते है:] ‘तुम्हें कुशल धर्मों को लेकर श्रद्धा... लज्जा... फ़िक्र... ऊर्जा... और अन्तर्ज्ञान था!”

इसलिए जो भिक्षु या भिक्षुणी ‘ब्रह्मचर्य’ का पालन परिपूर्णता व परिशुद्धता के साथ करते है, [भले ही] दर्द व व्यथा में रोते हुए, आँसू भरे चेहरे के साथ, वे पाँच न्यायपूर्ण कारणों से प्रशंसा के पात्र होते हैं।

«अं.नि.५:५ + ५:६»

* * *

सत्थापधान उदाहरण

योगबन्धन से राहत पाने के लिए, निरंजरा नदी के समीप
मुझे उद्यम में दृढ़निश्चयी, ध्यान में विशेष पराक्रम करते देख
नमुची [=मार] आया, और करुणाभरे शब्द कहने लगा—
‘अरे आप दुवर्ण और पतले हो चुके! मौत पास आ चुकी!
हज़ार-अंश में मौत है, जीवन एक-अंश में!
जीवित बचिए जनाब, जीवन है बेहतर!
जीवित रहकर पुण्य तो करोगे!
ब्रह्मचर्य पालन कर, अग्नियज्ञ कर पुण्यसंचय होगा!
ऐसे उद्यम «पधान» से भला क्या लाभ?
दुर्गम यह उद्यमपथ! दुष्कर! टिकना है कठिन!”
— कहते हुए यह गाथाएँ मार खड़ा हुआ भगवान के आगे।

भगवान ने उत्तर दिया उस मार को—
‘बेहोशों के रिश्तेदार «पमत्तबन्धु» पापी!
जिस भी ध्येय से आए यहाँ।
पुण्यों की रत्तीभर जरूरत मुझे नही।
पुण्यों की जरूरत जिन्हें, मार-उपदेश के लायक वहीं।
मुझ में है श्रद्धा! तप ऊर्जा और अन्तर्ज्ञान!
जब इतना दृढ़ हूँ, क्यों करते हो जीने की याचना?
[घोर प्रयत्न से उठा] यह वायु जला दे नदी की भी धारा,
तब मेरा लहू क्यों न सूखेगा?
लहू जब सूखेगा, पित्त व कफ तब सूखेगा।

जब मांसपेशियां क्षीण होते, चित्त स्पष्ट तब होगा।
स्मृति अन्तर्ज्ञान समाधि अधिकाधिक स्थिर होते।
ऐसी परम-संवेदना प्राप्त कर रहने से
काम के प्रति चित्त हो जाता निरस! देखो, सत्व शुद्धि!

कामराग तुम्हारी सेना पहली! बोरियत दूसरी!
भूख-प्यास तीसरी, और तृष्णा चौथी!
सुस्ती व तंद्रा पाँचवी, डर छठी!
अनिश्चितता सातवीं! ढ़ोंग व अकडूपन आठवी!
लाभ सत्कार व कीर्ति नौवीं! मिथ्याप्राप्त प्रतिष्ठा दसवीं!
करना आत्मप्रशंसा, दूसरों को तुच्छ दिखाना ग्यारहवीं!
— बस यही नमुची, तुम्हारी सेना!
कान्हा की लड़ाकू-सेना!
कायर हरा न पाये,
परंतु हराने पश्चात ही सुख पाये!
क्यों लादू यह मुंजघास?
थूकता हूँ अपने जीवन पर!
संग्राम में होगी मौत बेहतर,
बजाय मैं बचूं जीवित, हारकर!
अनेक श्रमण ब्राह्मण यही डूबकर दिखाई न देते आगे!
वे पथ न जानते, जिसकी साधना करते चला जाए!
वाहनसहित मार को सुसज्जित-सेना के साथ घिरा देखकर
मैं संग्राम में उतरता! मुझे कही स्थान से न च्युत कर दे!

देव-मनुष्यसहित संपूर्ण ब्रह्मांड तुम्हारी जिस सेना से
न पाए जीत, अन्तर्ज्ञान से उसे ऐसे तोडूंगा
— जैसे कच्चे घडे को, मार पत्थर!
संकल्पों को कर वश, स्मृति सुप्रतिष्ठित कर
अनेक श्रावकों को सिखाता, देश-देश घूमूँगा!
होशपूर्ण, दृढ़निश्चयी, अनुशासन पूर्ण करनेवाले—

मेरे श्रावक, तुम्हारी इच्छा के बावजूद वहाँ जाएंगे,
जहाँ जाकर दुबारा न होता शोक!”

मार:

‘सात वर्षों तक भगवान का पीछा किया,
परंतु गौरवपूर्ण सम्बुद्ध का कोई द्वार न खोल पाया!
चर्बी-वर्ण का देख पत्थर, कौवा उसके चक्कर काटे—
[सोचते हुए] ‘मैंने ढूंढ लिया कुछ कोमल! शायद है स्वादिष्ट!’
परंतु कोई स्वाद न पा, उड़ा कौवा!
टूट पड़ते उस पत्थर पर, कौवे की तरह
थक गया मैं गोतम के साथ!”

शोकग्रस्त होने पर बगल से उसकी वीणा गिर पड़ी। तब वह हताश यक्ष वहीं विलुप्त हो गया।

«सुत्तनिपात ३:२»

* * *

अन्तिम ओवाद

कल्पना करो भिक्षुओं, चौड़े व गहरे दलदल से घिरा एक बड़ा जंगल हो, जिसका आश्रय लेकर एक विशाल हिरणों का झुंड रहता हो। तब एक पुरुष आए, जो हिरणों की भलाई न चाहता हो, कल्याण न चाहता हो, योगबन्धन से राहत न चाहता हो। वह उनके प्रफुल्लता तक पहुँचने का सुरक्षित व राहत भरा रास्ता बंद करें, और गलत रास्ता खोल दे। पुरुष-शिकारी पीछे लगाए, स्त्री-शिकारी द्वारा जाल बिछाए। और इस तरह वह विशाल हिरणों का झुंड तत्पश्चात तबाही व बर्बादी में गिर पड़े।

तब कल्पना करो कि एक अन्य पुरुष प्रकट हो, जो हिरणों की भलाई चाहता हो, कल्याण चाहता हो, योगबन्धन से राहत चाहता हो। वह उनके प्रफुल्लता तक पहुँचने का सुरक्षित व राहत भरा रास्ता खोले, और गलत रास्ता बंद कर दे—पुरुष-शिकारी को हटाए, स्त्री-शिकारी द्वारा बिछा जाल तोड़ दे। और इस तरह वह विशाल हिरणों का झुंड तत्पश्चात वृध्दि विपुलता व प्रगति प्राप्त करें।

— तो भिक्षुओं, मैंने यह उपमा अपनी बात रखने के लिए दी है। और वह बात यह है;

• बड़ा जंगल—यह संसार है।

• चौड़ा व गहरा दलदली इलाक़ा—कामुकता है।

• विशाल हिरणों का झुंड—[दुनिया के] सत्व हैं।

• जो पुरुष हिरणों की भलाई न चाहता हो, कल्याण न चाहता हो, योगबन्धन से राहत न चाहता हो—वह पापी मार है।

• ग़लत रास्ता—मिथ्या अष्टांगिक मार्ग है। अर्थात, मिथ्यादृष्टि... मिथ्यासमाधि।

• पुरुष-शिकारी—दिलचस्पी व मज़ा है।

• स्त्री-शिकारी—अविद्या है।

• अन्य पुरुष जो हिरणों की भलाई चाहता हो, कल्याण चाहता हो, योगबन्धन से राहत चाहता हो—वह तथागत अरहंत सम्यक-संबुद्ध है।

• प्रफुल्लता तक पहुँचने का सुरक्षित व राहत भरा रास्ता—आर्य अष्टांगिक मार्ग है। अर्थात, सम्यकदृष्टि... सम्यकसमाधि।

तो भिक्षुओं, मैंने प्रफुल्लता तक पहुँचने का सुरक्षित व राहत भरा रास्ता खोल दिया है। पुरुष-शिकारी को हटा दिया है। स्त्री-शिकारी का बिछा जाल तोड़ दिया है। जो शास्ता को करना चाहिए—अपने शिष्यों का कल्याण चाहते हुए, उन पर अनुकंपा करते हुए—वह मैंने तुम्हारे लिए कर दिया! देखों, वहाँ पेड़ों के तल हैं। वहाँ ख़ाली जगहें हैं। झान करो, भिक्षुओं! लापरवाह मत बनो। फ़िर पश्चाताप मत करना। यह हमारा [=सभी बुद्धों का] आपको संदेश है।

«मा.नि.१९»

★ समाप्त ★